श्री राधा का क्रमविकास

—दर्शन और साहित्य में

डॉ० शशिभूषणदास गुप्त एम० ए०, पी-एच० डी०

(अध्यक्ष आधुनिक भाषा-विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय)

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

वाराणसी ।

प्राक्कथन

इस ग्रंथ का विषय है श्रीराधा का क्रमविकास। पहले ही स्वाभाविक भाव से एक प्रश्न मन में उदित हो सकता है, श्रीराधा तो रसमय एवं लीलामय श्रीकृष्ण की नित्य लीला-सङ्गिनी हैं,—वे तो सनातनी हैं,—तो फिर उनके क्रम-विकास का अर्थ क्या? परम तत्त्व रूप में श्रीराधा तो 'नित्या ठाकुरानी' हैं ही; तो जीव द्वारा ग्राह्य होने के लिए ही वह परम तत्त्व फिर मर्त्यलोक में अभिव्यक्ति पाता है। हमने क्रमविकास की बात से उसी ऐतिहासिक क्रमाभिव्यक्ति की बात कही है। दूसरे रूप में हम कह सकते हैं, जातीय मानस में यह श्रीराधा का रूप धीरे-धीरे गृहीत हुआ है—उसी की इतिहास रचना की है हमने अपने ग्रन्थ में। प्रत्येक जाति के शरीर के ढाँचे में जिस प्रकार एक वैशिष्ट्य है, उसी प्रकार दर्शन, साहित्य, शिल्प आदि के भीतर बहुधा ऐसा अभिनवत्व दिखाई पड़ता है, जो पूर्णतया उसका निजस्व होता है। वैष्णव-धर्म का लीला-वाद—विशेषतः राधावाद—हमारे जातीय मनन की ही विशेषता का द्योतक है। धर्म और साहित्य के भीतर प्रकाशित इस जातीय मनन की विशेषता ने बहुत दिनों तक मेरे मन को स्पन्दित किया है, अतएव इस वस्तु को मैंने पूर्णतया लक्ष्य किया है—उसी लक्ष्य ने मुझे नित्य नूतन तथ्य और दृष्टि दी है। वस्तु के तनिक अन्दर प्रवेश करके और भी देखा है—राधावाद के भीतर हमारे जातीय मनन-वैशिष्ट्य का जो परिचय मिलता है—वह वैशिष्ट्य केवल राधावाद में ही नहीं है, वही वैशिष्ट्य व्यापक रूप से भारतीय शक्तिवाद में है। इसी दृष्टि से भारतीय वैष्णव-शास्त्र और अनुषंगिक शैव-शाक्त-शास्त्र का नए रूप में अध्ययन किया है, उस अध्ययन का ही फल है प्रस्तुत ग्रन्थ।

मैंने ग्रन्थ में कहा है, वैष्णव कवियों ने श्रीराधा का एक 'कमलिनी' रूप देखा है; ऐतिहासिक की दृष्टि में भी श्रीराधा का एक 'कमलिनी' रूप आता है। जिस प्रकार 'कमलिनी' का अनेक स्तरों के भीतर क्रम-विकास का एक इतिहास है, उसी प्रकार भारतीय दर्शन और साहित्य के विभिन्न स्तरों में लिपटा श्रीराधा का बहुत दिनों के क्रम-विकास का इतिहास है। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीराधा के इसी क्रम-विकास की धारा को लक्ष्य करने की चेष्टा की गई है। इस क्रम-विकास के इतिहास में

दर्शन और साहित्य की धाराएँ किस प्रकार घुल-मिलकर एक हो गई हैं, इसे भी दिखाने की चेष्टा की गई है।

ग्रन्थ-रचना के कार्य में कुछ दूर आगे जाने के बाद एकबार काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज महाशय के साथ एक दिन इसी विषय पर आलाप-आलोचना का सुयोग प्राप्त हो गया था और उनसे मैंने उत्साह तथा उपदेश भी प्राप्त किया है। कलकत्ता संस्कृत-कालेज के तत्कालीन अध्यक्ष डाक्टर सदानन्द भादुड़ी महाशय ने संस्कृत-कालेज के पुस्तकालय से प्रयोजनानुसार पुस्तकें देकर मेरी सहायता की है।

श्रद्धेय डाक्टर महादेव साहा महाशय ने, जो बँगला और हिन्दी दोनों भाषाओं के पारदर्शी हैं, अनुवाद-कार्य में मेरी सहायता की है। उन्हें मैं अपनी सश्रद्ध कृतज्ञता ज्ञापन कर रहा हूँ। पाण्डुलिपि का परिदर्शन एवं मुद्रण-परीक्षा के कार्य में पण्डित कवि श्री लालधर-त्रिपाठी द्वारा भी सहायता प्राप्त हुई है, उन्हें भी मैं अपनी आन्तरिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। ग्रन्थ के इस हिन्दी-संस्करण का सारा भार साग्रह ग्रहण किया है वाराणसी के प्रसिद्ध प्रकाशक 'हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय' की ओर से श्रीकृष्णचन्द्र बेरी महाशय ने। ग्रन्थ को प्रकाशन के लिए लेकर उन्होंने अपने विद्यानुराग का ही परिचय दिया है। ग्रन्थ के सुष्ठु रूप में प्रकाशित करने में उन्होंने किसी प्रकार के प्रयत्न में त्रुटि नहीं की, इसके लिए मैं उनके कृतज्ञता-पाश में बद्ध रहा।

कलकत्ता विश्वविद्यालय

ग्रन्थकार
श्री शशिभूषण दासगुप्त

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

एकादश अध्याय

द्वादश अध्याय

त्रयोदश अध्याय

चतुर्दश अध्याय

पञ्चदश अध्याय

——:०:——

कलकत्ता विश्वविद्यालय के बंगला विभाग के

रामतनु लाहिड़ी अध्यापक

डॉ० श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय

श्रद्धास्पदेषु
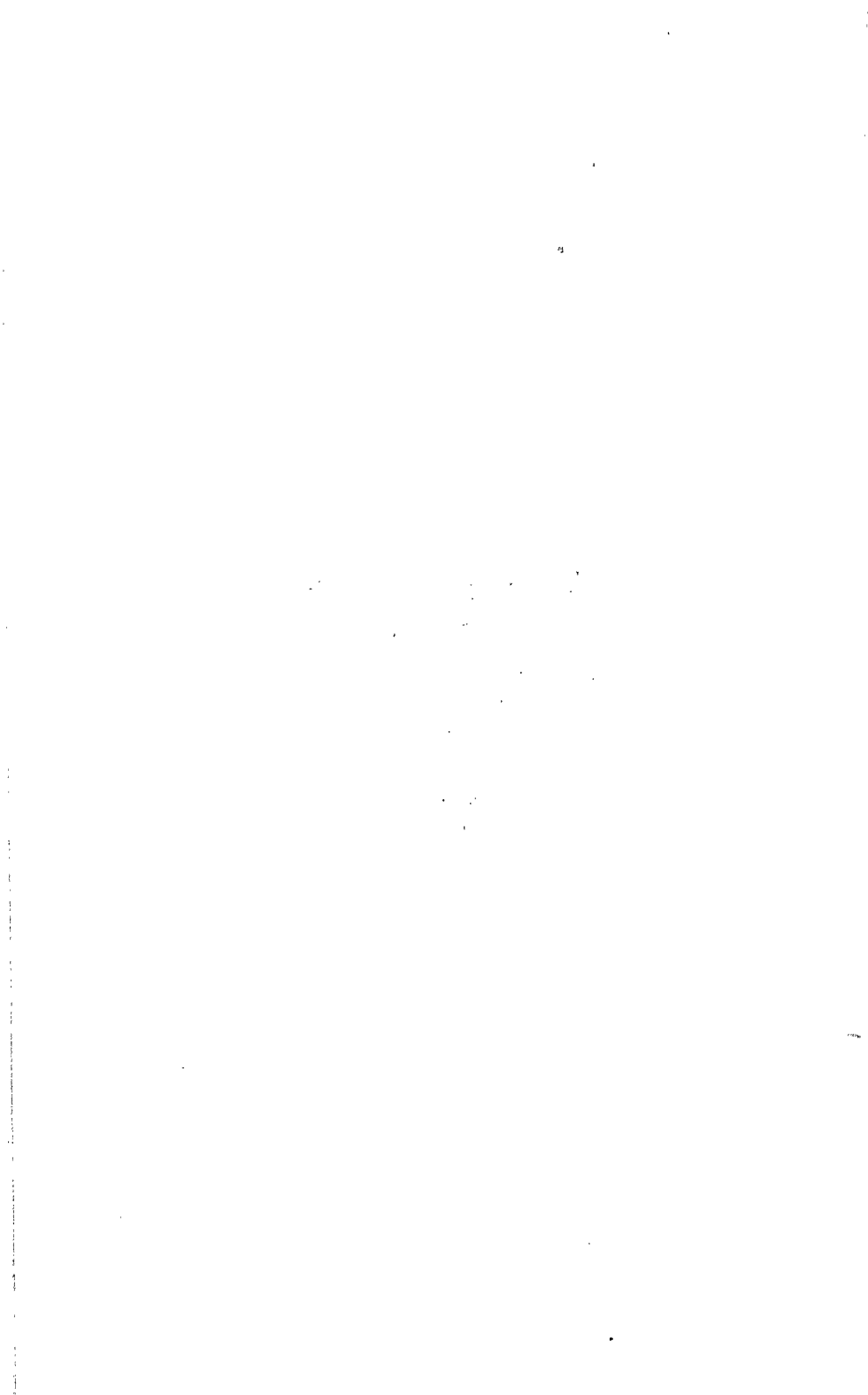
प्रथम अध्याय

राधातत्त्व का मूल : प्राचीन भारतीय शक्तितत्त्व

ईसा की बारहवीं सदी से बंगाल में जो वैष्णव-साहित्य रचित हुआ है उसकी विशेषता राधावाद में है। बंगाल के प्रसिद्ध वैष्णव कवि जयदेव ने विष्णु के पूर्णावतार भगवान श्री कृष्ण की प्रेमलीला को लेकर ही अपना सुप्रसिद्ध 'गीत-गोविन्द' काव्य लिखा था; लेकिन इस प्रेमलीला के 'विषय' थे श्री कृष्ण, 'आश्रय' थीं राधा। राधा का अवलम्बन करके ही सभी प्रेमलीलाओं की स्फूर्ति होती है। 'विषय'-स्वरूप कृष्ण की राधिका ही 'आश्रय'-स्वरूप होने के कारण बंगाल के वैष्णव काव्य-कविता की भी राधिका ही मुख्य आश्रय हो गई हैं। जयदेव के समसामयिक श्रीधरदास (तेरहवीं शताब्दी का प्रथम भाग) के संस्कृत-कविता-संकलन-ग्रन्थ 'सदुक्तिकर्णामृत' में जो वैष्णव-पदावली मिलती है, राधाकृष्ण का प्रेम ही उसके अधिकांश का अवलम्बन है। इसके बादवाले काल में बंगाल के कवि चण्डीदास और मिथिला के कवि विद्यापति ने जो वैष्णव-कवितायें लिखी थीं, राधा ही उस वैष्णव कविता की प्राण हैं। सोलहवीं शताब्दी में महाप्रभु श्री चैतन्यदेव की धर्मप्रेरणा से षड्गोस्वामी एवं असंख्य दार्शनिक तथा कवि भक्तगण की सम्मिलित साधना से जो प्रेमधर्म और प्रेम-साहित्य निर्मित हुआ, श्री राधा की कल्पना ने ही उसमें एक अभिनव चारुता और विशेषता प्रदान की है। यह बात सच है कि केवल बंगाल के अलावा भारतवर्ष के किसी दूसरे इलाके में इस राधावाद का कोई प्रचार या प्रसार नहीं हुआ, ऐसी बात नहीं; इस विषय पर विस्तृत-विचार हम यथास्थान करेंगे। यहाँ संक्षेप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इस राधावाद ने बंगाल के धर्म और साहित्य पर जो व्यापक और गहरा प्रभाव-विस्तार किया है, भारतवर्ष में कहीं भी ऐसा नहीं किया। बंगाल के वैष्णवों के परमाराध्य देवता का प्रियतम नाम है 'राधारमण'; बंगालियों के प्रभाव से ही आज भी श्रीधाम वृन्दावन में 'जय राधे' कहकर प्रवेश करना पड़ता है, बंगाल के वैष्णव भिखारी आज भी 'जय राधे' कहकर ही द्वार-द्वार भीख माँगते फिरते हैं। बंगालियों का यह राधाप्रेम अत्यन्त

सहज सरल होते हुए भी अत्यन्त गम्भीर और मधुर रूप में गोविन्द अधिकारी के शुक-सारी के द्वन्द्व में प्रकट हुआ है।[1]

बंगाल के धर्म और साहित्य में—केवल बंगाल के ही नहीं, भारतवर्ष के धर्म और साहित्य में हम रूप और तत्त्व मिश्रित राधा की जो मूर्ति पाते हैं उसमें प्रधानतः दो उपादानों को देख सकते हैं; एक है दार्शनिक तत्त्व का पक्ष या धर्म-तत्त्व (Theology) का पक्ष, दूसरा है काव्योपाख्यान का पक्ष। राधा के अन्दर इन दोनों पक्षों ने ही एक आश्चर्यजनक अविनाबद्ध भाव प्राप्त किये हुए है। जिस रूप में उसने हमारे धर्म और साहित्य में प्रतिष्ठा पाई है उसका सुन्दरतम परिचय हमें एक भक्त कवि के गीत के एक पद में मिलता है।

---

(१) शुक बले, आमार कृष्ण मदनमोहन।
सारी बले, आमार राधा वामे यतक्षण।
नैले शुधुइ मदन।
शुक बले, आमार कृष्ण गिरि धरेछिल।
सारी बले, आमार राधा शक्ति संचारिल,
नैले पारबे केन ?
शुक बले, आमार कृष्णेर माथाय मयूर पाखा।
सारी बले, आमार राधार नामटि ताते लेखा,
ऐ याय गो देखा।
शुक बले, आमार कृष्णेर चूड़ा वामे हेले।
सारी बले, आमार राधार चरण पाबे बले,
चूड़ा ताइते हेले।
:o: :o: :o:
शुक बले, आमार कृष्ण जगत्-चिन्तामणि।
सारी बले, आमार राधा प्रेम-प्रदायिनी,
से तोमार कृष्ण जाने।
शुक बले, आमार कृष्णेर बाँशी करे गान
सारी बले, सत्य बटे बले राधार नाम,
नैले मिछे से गान।
शुक बले, आमार कृष्ण जगतेर गुरु।
सारी बले, आमार राधा वाञ्छाकल्पतरु,
नैले के कार गुरु ? इत्यादि

'से ये, चेतन-जलेर फुटन्त-फुल,
ताइ लोके बले कमलिनी।'

राधा सचमुच ही कमलिनी हैं। भारतीय मन के चेतन सजग के अन्तस्तल में गहरी चित्तभूमि के अन्दर जो परमश्रेयोबोध, जो परमप्रेम, सौन्दर्य और माधुर्य-बोध का बीज छिपा हुआ था, दीर्घकाल की धीर-सुकुमार परिणति के अन्दर से अध्यात्म तत्त्व और रूप-रस-माधुर्य से वह हमारे धर्म और साहित्य में परिपूर्ण कमलिनी की भाँति ही विकसित हुई हैं। इस पूर्ण-विकसित कमलिनी की उत्पत्ति और क्रम-विकास का इतिहास जानने के लिए इसलिये हमें उपर्युक्त दोनों पक्षों का अनुसन्धान करना होगा, पहले तत्त्व का पक्ष और फिर काव्योपाख्यान का पक्ष।

इस अनुसंधान को शुरू करने पर हम देखेंगे कि राधावाद का बीज भारतीय सामान्य शक्तिवाद में है; वही सामान्य शक्तिवाद वैष्णव धर्म और दर्शन से भिन्न-भिन्न प्रकार से युक्त होकर भिन्न-भिन्न युगों और भिन्न-भिन्न देशों में विचित्र परिणति को प्राप्त हुआ है; उसी क्रमपरिणति की एक विशेष अभिव्यक्ति ही राधावाद है। जो थीं शुद्ध शक्तिरूपिणी क्रम-परिणति के प्रवाह के अन्दर से उन्होंने आकर रूप परिग्रह किया है परम-प्रेमरूपिणी मूर्ति में। विशुद्ध शक्तिरूपिणी का परिपूर्ण प्रेमरूपिणी में यह बदलना केवल तत्त्व-परिणति के अन्दर से ही नहीं हुआ है, इस रूपान्तर के अन्दर बहुतेरे लौकिक श्रुति-स्मृति-वाहित प्रेमोपाख्यानों में गहरा प्रभाव-विस्तार किया था। ये उपाख्यान अपने लोकप्रिय काव्य-चमत्कार के कारण ही क्रमशः वैष्णव शास्त्र और साहित्य में गृहीत होने लगे; इन उपाख्यानों के स्वीकार करने के फलस्वरूप तत्त्वदृष्टि में भी अनेक परिवर्तन अवश्यम्भावी हो उठे। परिणामस्वरूप देखा जाता है कि वैष्णव धर्म और दर्शन में शक्तिवाद की क्रमपरिणति के पीछे दो मुख्य कारण हैं,—भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न कालों के जो वैष्णव-तत्त्व-सिद्धान्त हैं उनसे संगति रक्षा करने के लिए वैष्णवदर्शन के शक्तिवाद के अन्दर तरह-तरह के परिवर्तन किये गये; और भिन्न-भिन्न कालों के बहुतेरे लौकिक उपाख्यानों के वैष्णव धर्म और साहित्य में स्वीकृत होने के कारण उपाख्यानों से मूल सिद्धान्त की संगति रक्षा के लिए तत्त्वदृष्टि में कुछ-कुछ परिवर्तन या परिवर्धन की आवश्यकता पड़ी। इन दोनों कारणों द्वारा प्रभावित होकर ही भारतीय शक्तिवाद की राधावाद में क्रम-परिणति हुई।

भारतवर्ष शक्तिवाद का ही देश है। सृष्टितत्त्व का अवलम्बन करके एक अस्पष्ट आदि देवी की कल्पना दूसरे देशों में भी देखी जाती है और

इस आदि देवी में मातृत्व का आरोप करके देवीकल्पना अन्यत्र भी कुछ-कुछ मिलती है; लेकिन इस विश्व-प्रसूति एक विश्व-शक्ति को भारतवर्ष ने अपने धर्मजीवन में जिस प्रकार ग्रहण किया है ऐसा संसार में दूसरी जगह नहीं दिखाई पड़ता। इस शक्तिवाद का प्रभाव भारतवर्ष में केवल शाक्त या शैव-सम्प्रदायों पर ही नहीं है, इसका प्रभाव भारतवर्ष के प्रायः सभी धर्म-सम्प्रदायों पर है। यहाँ तक कि बौद्धधर्म और जैनधर्म के अन्दर भी विविध देवियों की कल्पना हिन्दू धर्म से कुछ कम नहीं है। हिन्दूधर्म के अन्दर शैव या शाक्त सम्प्रदायों के अलावा दूसरे जितने धर्म-सम्प्रदाय हैं उनमें से प्रत्येक के अन्दर शक्ति की कल्पना और धर्ममत पर शक्तिवाद का प्रभाव थोड़ा वहुत विद्यमान है। यह बात सुनने में पहले कुछ आश्चर्यजनक लगेगी, लेकिन इसके बावजूद यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वैष्णव मतों पर शक्तिवाद का एक खास प्रभाव वर्तमान है। साधारण तौर से लक्ष्मी विष्णु की शक्ति हैं; राम-सम्प्रदाय में इस लक्ष्मी का स्थान लिया है सीता ने, कृष्ण-सम्प्रदाय में यह शक्ति राधा ही हैं। इसके बारे में आगे हम विस्तारपूर्वक लिखेंगे। सौर और गाणपत्य सम्प्रदायों के अन्दर भी इस शक्ति की कल्पना मौजूद है; तन्त्र-पुराण आदि लौकिक शास्त्रों में सूर्य और गणेश के जितने वर्णन और ध्यानमंत्र मिलते हैं, उनमें देखा जाता है कि शिव जैसे दुर्गा, पार्वती या उमा-रूप में शक्ति के सहित युगल भाव से वर्तमान हैं, सूर्य-गणेशादि देवता भी उसी तरह अपनी-अपनी 'वल्लभा' से युक्त हैं। उमा-महेश्वर की युगल-मूर्ति की भाँति (अर्थात् शिव की बायीं जाँघ पर बैठी उमा) शक्ति-युक्त गणेशमूर्ति भी मिलती है। दर्शन के क्षेत्र में जिस प्रकार के दर्शन को भारतवर्ष में जब प्रधानता क्यों न मिले, धर्म के क्षेत्र में भारतवर्ष के गणमानस में इस शक्तिवाद का विश्वास अटल हो गया था। इसलिये भारतवर्ष में ऐसा कोई देवता, उपदेवता या आवरण-देवता नहीं मिलेगा, जिसकी कोई शक्ति-कल्पना पुराण आदि शास्त्रों या लौकिक किम्वदन्तियों में नहीं की गई है। लौकिक देवता भी सहायहीन नहीं हैं, वे भी 'शक्ति-' युक्त हैं। परवर्ती काल के वज्रयान बौद्धधर्म के अन्दर भिन्न-भिन्न स्तरों के बहुतेरे लौकिक देवताओं ने नये सिरे से आत्मप्रकाश किया है, साथ साथ उनकी शक्ति-कल्पना भी की गई है।[1] भारतवर्ष के इस लौकिक

---

(१) इस प्रसंग में देखिए डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य प्रणीत Indian Buddhist Iconography और वर्त्तमान लेखक की An Introduction to Tantric Buddhism.

विश्वास का अनुधावन करने से लगता है कि तंत्र का मूल सिद्धान्त—शिव और शक्ति कोई भी अपने आप में पूर्ण नहीं है, वे दोनों ही एक परम अद्वय सत्य के दो खंड अंशमात्र हैं, युगल ही उनका पूर्ण एकरूप है,—यह मानो भारतीय गणमन का ही एक मूल सिद्धान्त है। इसीलिये शक्ति से युक्त न होने पर कोई भी देवता मानो पूर्ण नहीं हैं। इस शक्तिवाद के प्रभाव से ही शायद पुराणादि में सभी देवताओं की पत्नियों की कल्पना की गई है। इन्द्र-वरुण आदि प्रसिद्ध देवताओं की ही पत्नियाँ हैं ऐसी बात नहीं; एक ब्रह्मवैवर्तपुराण के एक ही अध्याय में बहुतेरे गौण देवताओं और देवता स्थानीय व्यक्तियों या वस्तुओं की पत्नी-कल्पना का एक कौतूहलप्रद तालिका मिलती है।[1] ये सारी पत्नियाँ एक मूल प्रकृति की कला-स्वरूपा हैं। यहाँ मूल प्रकृति ही आद्याशक्ति है।

शक्तिवाद के प्रति भारतीय गणमन की इस प्रकार की एक सहजात प्रवणता के फलस्वरूप बहुतेरे दार्शनिक सिद्धान्तों को भारतीय गणमन ने अपने ढंग से रूपान्तरित कर लिया है। फलस्वरूप वेदान्त का ब्रह्म और माया का तत्त्व वास्तव में जो कुछ भी हो और वेदान्तिगण इनके भीतरी संबंध के बारे में जो कुछ भी क्यों न कहें, लोकविश्वास में ये शिव-शक्ति के अनुरूप ही कल्पित हैं। हमारे आगे के विवेचन के अन्दर दिखाई पड़ेगा कि पुराण आदि में बहुतेरे स्थानों में माया और ब्रह्म इस शक्ति-शक्तिमान् के तौर पर ही परिकल्पित हुये हैं। सांख्यदर्शन का भाग्यविपर्यय भी इसी प्रकार से हुआ है। सांख्य के पुरुष और प्रकृति दार्शनिक की दृष्टि

---

(१) **कार्तिक की पत्नी षष्ठी, वह्नि की पत्नी स्वाहा, यज्ञ की पत्नी दक्षिणा, पितृगण की पत्नी स्वधा हैं; वायु की पत्नी स्वस्ति है; पुष्टि गणेश की स्त्री है, तुष्टि अनन्तदेव की पत्नी है; सम्पत्ति ईशान की, धृति कपिल की, क्षमा यम की, रति मदन की, उक्ति सत्य की पत्नी है; दया मोह की, प्रतिष्ठा पुण्य की, कीर्ति सुकर्म की, क्रिया उद्योग की, मिथ्या अधर्म की, शान्ति और लज्जा सुशील की; बुद्धि, मेधा और स्मृति ज्ञान की; मूर्ति धर्म की; निद्रा कालाग्नि रुद्रदेव की, संध्या, रात्रि और दिन काल की; क्षुधा और पिपासा लोभ की; प्रभा और दाहिका तेज की; मृत्यु, और जरा प्रज्वर की; प्रीति और तन्द्रा सुख की; श्रद्धा और भक्ति वैराग्य की पत्नी हैं। रोहिणी चन्द्र की, संज्ञा सूर्य की, शतरूपा मनु की, शची इन्द्र की तारा बृहस्पति की, वनिता हैं। ये सभी एक ही प्रकृति की विभिन्न विभिन्न कलास्वरूपा हैं। (प्रकृति खण्ड, प्रथम अध्याय-वंगवासी संस्करण।)**

में जो कुछ भी क्यों न हो और उनके भीतरी सम्पर्क के स्वरूप को लेकर तार्किकगण जितना भी तर्क क्यों न करें, जनता के मन में इसके बारे में विचार अत्यन्त सरल और स्पष्ट हैं, वह विचार यह है कि पुरुष-प्रकृति शिव-शक्ति का रूपान्तर या नामान्तर मात्र है। तंत्र-पुराणादि के बहुतेरे स्थलों में भी इसी मत का स्पष्ट समर्थन मिलेगा। और राधा-कृष्ण के बारे में गौड़ीय गोस्वामिगण सिद्धान्त का अनुसरण करके जितनी बातें क्यों न करें तत्त्वज्ञान का थोड़ा-सा दावा करनेवाला कोई भी साधारण आदमी कहेगा,—वास्तव में तो वह पुरुष-प्रकृति, अर्थात् अन्त में शिव-शक्ति है!

एक और दिशा से भारतीय धर्ममत पर इस शक्तिवाद के गहरे प्रभाव को देखा जा सकता है, वह है साधना का क्षेत्र। पूजा-पर्व, व्रत-नियम आदि के अलावा हिन्दू धर्म के साधक वर्ग के अन्दर विविध प्रकार की जो साधन-पद्धतियाँ प्रचलित हैं उन पर शक्तिवाद का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव बहुत है। इसके अलावा भारतवर्ष के बहुतेरे स्थानों में कुछ छोटे धर्म-सम्प्रदाय हैं, जिनकी साधन-प्रणाली इस शिव-शक्तिवाद पर ही मूलतः प्रतिष्ठित है। भिन्न-भिन्न 'सहजिया' सम्प्रदाय, नाथ-सम्प्रदाय—यहाँ तक कि कबीरपंथी, बाउल आदि सम्प्रदाय भी कुछ अंशों में इस वर्ग के अन्तर्गत हैं।[१]

भारतवर्ष का यह शक्तिवाद वैदिक है या अवैदिक, इस विषय में संदेह और विवाद है। शाक्त-तंत्रपुराण—पूजापर्वविधि आदि के अन्दर इस शक्तिवाद का मूल उद्गम माना जाता है ऋग्वेद के दशम मण्डल के १२५ वें सूक्त को, यही देवी-सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। लेकिन कुछ पंडितों का खयाल है कि इस शक्तिवाद और शक्ति-पूजा के बहुल प्रसार में आर्येतर भारत के आदिम निवासियों की देन ही मुख्य है। इन आर्येतर जातियों में पितृपरिचय गौण था, मातृपरिचय से ही संतान का परिचय होता था। समाज-जीवन की यह मातृसत्ता ही धर्मजीवन में नियामक हो उठी थी; इसी प्रकार से उनके धर्म में मातृप्राधान्य प्रतिष्ठित हुआ और शायद इस मातृप्राधान धर्म का अवलम्बन करके ही शक्तिवाद का उद्भव और क्रमप्रसार हुआ। वेद में निश्चित रूप से पुरुष-देवताओं का ही प्राधान्य है। दो चार स्त्री-देवताओं का जो उल्लेख और वर्णन मिलता है वह तुलना में बिलकुल गौण है। दूसरी ओर देवी और देवी-

(१) देखिए वर्त्तमान लेखक का Ob-cure Religious Cults नामक ग्रंथ।

पूजा का जितना उल्लेख प्राचीन इतिहास-पुराण-काव्य में मिलता है उससे देवी के पहाड़ी वन-प्रदेश के आर्येतर निवासियों द्वारा पूजित होने का समर्थन काफी मिलता है। इन विषयों पर पहले ही काफी लिखा जा चुका है इसलिये मैंने विस्तृत विवेचन नहीं किया।

वास्तव में आज हम जिसे हिन्दू धर्म कहते हैं वह एक जटिल मिश्रित धर्म है, बहुत दिनों की बहुतेरी धारणाओं ने आज एकत्रित होकर उसके वर्तमान बहु-विचित्र रूप को सम्भव किया है। देवी पूजा का उद्भव और प्रचलन आर्य जाति की अपेक्षा आर्येतर भारतीय आदिम निवासियों में ही होने की सम्भावना रहने पर भी इस बात को आज स्वीकार करना होगा कि इस देवी-पूजा का मूलतः अवलम्बन करके भारतीय शक्तिवाद ने जो रूप धारण किया है उसके अन्दर उन्नत दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि-सम्पन्न आर्यमनीषियों की देन भी काफी है। आर्येतर जातियों ने विश्वास, संस्कार, कल्पना, पूजा-प्रकरण आदि का तथ्य प्रदान किया है, और आर्य दार्शनिक प्रतिभा ने निरन्तर उसमें उच्च दार्शनिक तत्त्व और अध्यात्म-अनुभूति युक्त किया है। इसीलिये काली, तारा आदि देवियों का दशमहा-विद्यारूप एक ओर असंस्कृत आदिम संस्कार का—और दूसरी ओर गहरे आध्यात्मिक तत्त्व का प्रतीक-स्वरूप हमारे सामने दिखाई पड़ा है। यह जटिल सम्मिश्रण हमारे समाज और धर्म में सर्वत्र विद्यमान है।

ऋग्वेद का जो सूक्त परवर्ती काल में देवी-सूक्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ है, वास्तव में वह अम्भृण ऋषि की वाक् नामक ब्रह्मवादिनी कन्या की उक्ति है। स्वरूप-प्रतिष्ठा के फलस्वरूप उसने ब्रह्मतादात्म्य पाया था; उस ब्रह्मतादात्म्य-उपलब्धि के समय उसने अनुभव किया था, "ब्रह्म-स्वरूपा मैं ही रुद्रवसु, आदित्य और विश्वदेवगण के रूप में विचरण करती हूँ! मित्र-वरुण, इन्द्र-अग्नि और अश्विनीकुमारद्वय को मैं ही धारण करती हूँ। यजमान के लिए मैं ही यज्ञफल रूपी धन धारण किया करती हूँ। मैं संसार की एकमात्र अधीश्वरी हूँ, मैं धनदात्री हूँ; मैं ही यज्ञाङ्ग का आदि हूँ—ज्ञानरूपा हूँ; बहु प्रकार से अवस्थिता, बहु प्रकार से प्रविष्टा मुझे ही देवगण भजा करते हैं। जीव जो अन्न खाता है, देखता है, प्राण धारण करता है—ये सब मेरे द्वारा ही साधित हो रहे हैं; इस रूप में जो मुझे समझ नहीं सकता है वही क्षीणता को प्राप्त होता है। मैं खुद ही यह सब जो कहती हूँ, देवता और मानवगण द्वारा वही सेवित होता है; जिसको-जिसको मैं चाहती हूँ उसको-उसको मैं बड़ा बना देती हूँ; उसे ब्रह्म, उसे ऋषि, उसे सुमेधा बनाती हूँ। ब्रह्मविद्वेषी हननयोग्य के हनन के लिए मैं ही रुद्र के लिए धनुष पर ज्या आरोपण करती हूँ, जनता

के लिए (रक्षा के लिए, कल्याण के लिए) मैं ही संग्राम करती हूँ; मैं ही द्युलोक और भूलोक में सर्वतःप्रकार प्रविष्ट हूँ। इन सब के (दृश्यमान सब कुछ के) पिता को मैं ही प्रसव करती हूँ; इस पर मेरी योनि—जल में—अन्तःसमुद्र में (सायण के मतानुसार समुद्र यहाँ परमात्मा है, जल व्यापनशीला धीवृत्ति है)। इसीलिए ही संसार को मैं विविध प्रकार से व्याप्त किए हुए हूँ; उस द्युलोक को भी मैंने ही देह से स्पर्श कर रक्खा है। आरभमाण संसार को वायु की भाँति मैं ही प्रवर्तित करती हूँ, मैं द्युलोक के भी परे हूँ, मैं पृथ्वी के भी परे हूँ—यही मेरी महिमा है।"[१]

यहाँ आत्म-स्वरूप परब्रह्म की ही महिमा उद्गीत हुई है,—वही सर्वभूतों में विराजमान रहकर सबका धारण और संचालन कर रहे हैं। जहाँ जो कुछ हो रहा है, जहाँ जो कोई भी जो कुछ कर रहा है—यह सब होना और करना क्रिया के मूल में उन्हीं की एक सर्वव्यापिनी शक्ति है। वे सर्वशक्तिमान् हैं—उस सर्वशक्तिमान् की अनन्त शक्ति ही सारी क्रियाओं का मूल कारण है, सारे ज्ञानों का मूल कारण है; यह इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मिका है। विश्वव्यापिनी शक्ति ही तो देवी हैं—वही महामाया हैं। यहाँ आत्मा के महिमाख्यापन के उपलक्ष्य में ब्रह्म का महिमाख्यापन और ब्रह्म के महिमाख्यापन के अन्दर से मानों ब्रह्मशक्ति की ही महिमा कीर्तित हुई है। शक्तिमान् और शक्ति अभेद है; तथापि ब्रह्म के महिमाख्यापन के लिए ही मानो ब्रह्मशक्ति को ही प्रधान दिखाया गया है। यह जो शक्ति और शक्तिमान् के मूल अभेदत्व के बावजूद अभेद में भेद की कल्पना करके शक्ति की महिमा प्रकट की गई है, यहीं भारतीय दार्शनिक शक्ति-वाद का बीज है। भगवान की अनन्तशक्ति सभी देशों, सभी कालों, सभी शास्त्रों में मानी और गाई गई है, लेकिन उस शक्ति को शक्तिमान् से अलग करके उसमें एक स्वतन्त्र सत्ता और महिमा का आरोप करके अपनी महिमा में शक्ति की ही प्रतिष्ठा करना—यही भारतीय शक्तिवाद का अभिनवत्व है। इस शक्तिवाद में भारत के जितने धर्ममतों में जिस प्रकार से भी प्रवेश किया है सभी जगह यह अभेद में भेद बुद्धि का मूलतत्त्व वर्तमान है। उपर्युक्त वैदिक सूक्त में शक्तिमान् और शक्ति एकदम अबिना रूप से बद्ध है; लेकिन यहाँ जो एक 'दो' की सूक्ष्म कल्पना की व्यंजना है उसी ने परवर्ती काल में विविध धर्मों में धर्म-विश्वास और दार्शनिक तत्त्व दोनों रूपों में विचित्र प्रतिष्ठा पाई है। इसीलिए ही शायद उपर्युक्त वैदिक सूक्त परवर्ती काल में शक्तिवाद का बीज माना गया है। मार्कण्डेय पुराण

---

(१) अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि आदि। (१०।१२५।१-८)

के अन्तर्गत देवीमाहात्म्य में जिस शक्तिरूपिणी चण्डी का तत्त्व वर्णित हुआ है, यह देवीसूक्त ही उसका आधार माना जाता है। यह बात सच है कि मार्कण्डेय पुराण में वर्णित देवी-माहात्म्य से निकटतर योग दिखाई पड़ता है अथर्ववेद के एक दूसरे सूक्त में वर्णित देवी के साथ। सर्वभूताधिष्ठात्री देवी को यहाँ इन्द्र-जननी कहा गया है और इस इन्द्र-जननी देवी से जिस तरह प्रार्थना की गई है वह मार्कण्डेय चण्डी के अन्तर्गत इस प्रकार की प्रार्थना का ही स्मरण करा देगी।[1] वेद के 'रात्रिसूक्त' को भी देवी के साथ एक कर लिया गया है। तंत्रादि शास्त्रों में देखता हूँ कि देवीका बहुतेरे स्थलों पर 'रजनी' के तौर पर वर्णन किया गया है। तंत्रादि शास्त्रों में देखा जाता है कि दिन शिव का और रात शक्ति का प्रतीक है। अथर्ववेद के प्रसिद्ध 'पृथ्वी-सूक्त' (१२।१) में पृथ्वी का विश्वजननी देवी

---

(१) सिंहे व्याघ्रे उत या पृदाकौ
त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान
सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ।।
या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये
त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु ।
इन्द्रं या देवी इत्यादि ।
रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे
वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे ।
इन्द्रं या देवी इत्यादि ।
राजन्ये दुन्दुभावायताषा-
मश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।
इन्द्रं या देवी इत्यादि ।

जो देवी सिंह में बाघ में है और जो देवी सर्प में हैं; जो अग्नि में, ब्राह्मण में, सूर्य में दीप्ति हैं; इन्द्र को जन्म दिया है जिस सुभगा देवी ने, तेजोदीप्ता वह देवी हमारे पास आवें। जो हाथी में, द्वीपी में, जो हिरण्य में हैं,—दीप्ति हैं जो जलराशि में, गोसमूह में, पुरुषसमूह में; इन्द्र को जन्म दिया है, आदि। जो रथ में, अक्षसमूह में, ऋषभ की शक्ति में हैं; जो हवा में, बादल में और वरुण की शक्ति में हैं; इन्द्र को जन्म दिया है जिस देवी ने आदि। जो राजन्य में, दुन्दुभि में हैं; जो अश्व की गति में, पुरुष के गर्जन में हैं; इन्द्र को जन्म दिया है आदि। (६।३८।१-४)।

के तौर पर वर्णन किया गया है। वेद में वर्णित पृथ्वी की इस देवीमूर्ति के साथ परवर्ती काल की विष्णु की भू-शक्ति की योजना स्मरण की जाती है।[1] इसके बाद श्रुतियों में हमें शक्ति का लक्षणीय उल्लेख मिलता है केनोपनिषद् में, जहाँ ब्रह्मशक्ति ही असल शक्ति है—वह शक्ति ही जो अग्नि, वायु, इन्द्र आदि सभी देवताओं के अन्दर क्रियमाण है—देवताओं को यही तत्त्व सिखाने के लिए साक्षात् ब्रह्मविद्या बहु-शोभमाना हैमवती उमा के रूप में आकाश में आविर्भूता हुईं।[2] 'हैमवती' यहाँ हेममण्डिता के अर्थ में आया है, लेकिन इस 'हैमवती' विशेषण ने ही परवर्ती काल में देवी को हिमालयपर्वत-दुहिता बन जाने में सहायता की है। बृहदारण्यक उपनिषद् में हम एक और उल्लेखनीय श्रुति देख सकते हैं। वहाँ कहा गया है कि आत्मा ही आदि में सन्मात्र के रूप में एकाकी रह रहे थे। वह आत्मा कभी रमण नहीं कर पाए, क्योंकि अकेला कोई रमण नहीं कर सकता; इसलिये उन्होंने दूसरे किसी की इच्छा की। उनका जो आत्मभाव है वह मानो स्त्री-पुरुष का घोर आलिंगनाबद्ध एक एकीभूत भाव है, उन्होंने तद्विध अपने को द्विधा विभक्त किया, स्त्री और पुरुष के रूप में। यही आदि मिथुन तत्त्व है; इसी आदि मिथुन-तत्त्व की ही अभिव्यक्ति संसार के सभी प्रकार के मिथुनों के अन्दर से होती है।[3] यह श्रुति गहरा अर्थद्योतक है। यहाँ देखते हैं कि परमसत्य का जो एकरूप अवस्थान है वह मानो मिथुन की ही एक अद्वयावस्था है; उसी अद्वय के अन्दर ही दो छिपा हुआ था और वे आत्मरति के लिए ही दो रूपों में अभिव्यक्त हुए। इस आत्मरति के आनन्द-संभोग-हेतु ही मानो अद्वयतत्त्व का कल्पित भेद स्वीकार किया गया है, एक की ही दो रूपों में लीला के तौर पर। परवर्ती शाक्ततंत्र में और वैष्णव मतानुसार भी यह मूलतत्त्व गहराई से अनुस्यूत है। इस आत्मरति और तन्निमित्त अभेद में भेद-कल्पना के अलावा वैष्णवों का लीलातत्त्व टिक ही नहीं सकता। परवर्ती काल के शाक्त और वैष्णव दोनों सम्प्रदायों के साधकों ने इस श्रुति को प्रयोजन के अनुसार यथेष्ट मात्रा में व्यवहार किया।

उपनिषदों के अन्दर—खास तौर से बृहदारण्यक, छान्दोग्य और प्रश्नोपनिषद् में एक और मिथुन-तत्त्व दिखाई पड़ता है। सृष्टिप्रकरण के प्रसंग

---

(१) नारायणोपनिषद् में पृथ्वी का ही श्रीदेवी के तौर पर वर्णन किया गया है।

(२) केन, ३।१२

(३) १।४।३

में कितने ही कितनी स्थलों में देखा जाता है कि सृष्टिकाम प्रजापति ने पहले एक 'मिथुन' का सृजन किया, इस मिथुन के दोनों अंशों को साधारणतः 'प्राण' और 'रयि' या 'प्राण' और 'अन्न' अथवा 'अन्नाद' और 'अन्न' कहा जाता है। छान्दोग्य में 'वाक्' और 'प्राण' के मिथुन की बात मिलती है; बहुतेरे स्थलों में 'अग्नि' और 'सोम' के मिथुन की बात मिलती है। तत्त्वतः प्राण और रयि, प्राण और अन्न, प्राण और वाक्, अन्नाद और अन्न, अग्नि और सोम एक ही वस्तु हैं। इसी को कहीं शुक्ल-पक्ष और कृष्ण-पक्ष, दिन और रात, सूर्य और चन्द्र के तौर पर वर्णन किया गया है। विश्व-प्रपंच के सृजन के पहिले प्रजापति ने तपस्या द्वारा पहले इस मिथुन का सृजन कर लिया था। उसका तात्पर्य यह है कि, विश्व-प्रपंच का सब कुछ प्राण और अन्न, या प्राण और रयि इन दोनों अंशों के मिलन से सृष्ट हुआ है। इसका एक अन्तरांश है, एक बाह्यांश; एक 'प्रकाशक', स्थायी, अमृत है, दूसरा अप्रकाशक, उपयान-अपाय-धर्मक, स्थूल मर्त्य है। इसके अन्दर प्राण 'कारणांश', रयि या अन्न 'कार्यांश' है। अन्न या रयि प्राण का आधार है, इस आधार का आश्रय पाकर ही प्राण की यद्यावतीय क्रियाएँ होती हैं। अग्नि ही यह प्राण है, क्योंकि वह 'अत्ता' है, वह अन्न का भक्षक है, इसीलिये अग्नि या प्राण ही 'अन्नाद' है। सोम ही अन्न या रयि है, वह भोज्य है। ऋग्वेद में अग्नि को ही 'आयुः' या प्राणशक्ति का प्रथम विकाश कहा गया है। यह 'अग्नि गूढ़ रूप से अवस्थान कर रही थी; मातरिश्वा या प्राणशक्ति ने मंथन करते-करते उसको आविर्भूत किया।' प्राणी के शरीर में हम देखते हैं कि यह अग्नि वैश्वानर के तौर पर अवस्थान करके अन्न को ग्रहण कर रही है; और इस अन्न की आहुति और अग्नि की पाचन क्रिया इन दोनों का अवलम्बन करके हमारा शरीर चल रहा है। शरीर के चलने के बारे में जो सत्य है, विश्व के चलने के बारे में भी वही सत्य है। यह प्राण और रयि, या अग्नि और सोम कहीं भी स्वतंत्र होकर नहीं रहते हैं, वे सर्वदा अन्योन्याश्रित रहते हैं—एक दूसरे की परिपोषकता किया करते हैं, दोनों ही मानो एक अभिन्न सत्य के दो अंश मात्र हैं। गीता में हम देखते हैं कि, यह अग्नि और अन्न एक अद्वय सत्य पुरुषोत्तम में विधृत है।[१] परवर्ती काल के शैव शाक्त तंत्रों में इस प्राण या अग्नि को ही शिव, और अन्न, रयि या सोम को शक्ति का प्रतीक माना गया है। इस प्राण-रयि या अग्नि-सोम तत्त्व ही ने परवर्ती काल के शिव-शक्ति तत्त्व की आधारभूमि प्रस्तुत कर रक्खी है।

---

(१) गीता, १५।१३–१४

वैष्णव दर्शनशास्त्र में विष्णु-शक्ति के विवेचन के प्रसंग में जिन थोड़ी-सी श्रुतियों का बहु उल्लेख दिखलाई पड़ता है, उनमें श्वेताश्वतर उपनिषद् की दो श्रुतियाँ बहुत ही प्रसिद्ध हैं, एक इस प्रकार है—

न तस्य कार्यं करणंच विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।। ६।८

"उनका कार्य और करण कुछ भी नहीं है; उनके समान या उनसे अधिक भी कोई नहीं है। इनकी विविधा पराशक्ति की बात सुनी जाती है, और इनकी ज्ञान-बल-क्रिया स्वाभाविकी है।"

दूसरा श्लोक इस प्रकार है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।। ४।१०

"माया को प्रकृति समझना, मायी को महेश्वर समझना। उनकी अवयव-भूत वस्तु के द्वारा ही यह सारा संसार व्याप्त है।"

इसके अलावा श्वेताश्वतरोपनिषद् में शक्ति और माया-मायी का उल्लेख अन्यत्र भी है, जैसे इस प्रसिद्ध श्लोक में—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।। ४।१

"जो एक और अवर्ण हैं, और गूढ़ प्रयोजन से बहुधा शक्ति के योग से अनेक वर्णों का विधान करते हैं।" आदि।

ऊपर के इस 'बहुधा शक्तियोगात्' शब्दों के अन्दर परवर्ती काल में गहरे अर्थ की द्योतना आविष्कृत हुई है। फिर कहा गया है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।। ४।४

एक लोहित-शुक्ल-कृष्णवर्णा (त्रिगुणात्मिका ?) अजा (जन्मरहिता अनादि मायाशक्ति)—आत्मानुरूपा (त्रिगुणात्मक) बहुप्रजा (संतान, कार्य) का सृजन कर रही है, इस प्रकार सृजमाना अजा को एक अज (माया-बद्ध जीव) सेवापरायण होकर भोग कर रहा है; दूसरे (ब्रह्म या परमात्मा भुक्तभोगा इस अजा को त्याग करते हैं। दूसरी जगह देखते हैं—

अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्
तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ।। ४।९

"मायी इस विश्व का सृजन करते हैं, और उसमें (इस सृष्टि में) दूसरे सारे (जीव) माया द्वारा आबद्ध रहते हैं।"

प्राचीनतर उपनिषदों में शक्ति का उल्लेख और विवेचन इतना ही है। परवर्ती काल में अनेक उपनिषद् रचित हुए हैं और उनमें शिवशक्ति का प्रसंग नाना प्रकार से उत्थापित और विवेचित हुआ है। इन उपनिषदों के रचयिता और रचनाकाल दोनों ही सन्दिग्ध होने के कारण इनके बारे में विवेचन न करने जाना ही ठीक होगा। दूसरे कुछ संहिताओं, आरण्यकों और गृह्यसूत्रों में भिन्न-भिन्न देवियों का उल्लेख मात्र मिलता है, शक्ति-तत्त्व के विवेचन में उनका कोई खास मूल्य नहीं दिखलाई पड़ता। इसके परवर्ती काल में रामायण में शक्ति का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।[1] महाभारत में जगह-जगह दुर्गा का उल्लेख मिलता है और स्वतन्त्र देवी की तौर पर उनकी स्तुति और पूजा होती देखी जाती है। लेकिन विराट महाभारत में ये अंश कहाँ तक शुद्ध और कहाँ तक प्रक्षिप्त हैं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसके बाद ही हम पुराण और तंत्र के युग में पहुँचते हैं। पुराण और तंत्र का युग वास्तव में कौन-सा युग है यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। पुराणों के काल के संबंध में अगर कोई बात कही भी जा सकती है तो अनगिनित उपपुराणों के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। तंत्र का कालनिरूपण तो और भी दुःसाध्य बात है। तंत्रशास्त्र अधिकांश में भारत के दो छोरों के दो देशों में रचित हुआ है; एक है—पश्चिमी छोर पर बसा काश्मीर देश, दूसरा है पूर्वी छोर पर बसा बंग देश। काश्मीर में जो तंत्र रचित हुये हैं उनके रचनाकाल के बारे में काश्मीरी शैव दर्शन की सहायता से एक धारणा की जा सकती है, लेकिन बंगाल तथा उसके आसपास के अंचलों में जो अनगिनित तंत्रशास्त्र रचित हुये हैं (हिन्दूतंत्र और बौद्धतंत्र) उनके रचना-काल का निर्णय करना कठिन है। इसके अलावा इन तंत्रपुराणादि में या शैवदर्शन में जहाँ शक्तितत्त्व का विवेचन भलीभाँति आरम्भ हुआ है वहाँ देखते हैं कि शक्तिवाद वैष्णव-धर्म और दर्शन में भी घुसना शुरू किया है; और हमारा विश्वास है कि, वैष्णव धर्म और दर्शन में घुसा हुआ यह शक्तिवाद ही परवर्ती काल में पूर्ण विकसित राधावाद में परिणत हुआ है।

(१) वाल्मीकि रामायण के दो एक श्लोकों में श्री और विष्णु का उल्लेख मिलता है। इस विषय पर हमने आगे लिखा है।

अतएव इन तंत्रपुराणादि में व्याख्यात शक्तितत्त्व के बारे में अलग से विवेचन नहीं करके वैष्णव धर्म और दर्शन में गृहीत शक्तितत्त्व को लेकर ही हम विवेचन आरम्भ करना चाहते हैं। इसके अलावा दार्शनिक आधार पर शक्तितत्त्व का पूर्ण विवेचन हमें काश्मीरी शैवदर्शन में मिलता है, इस बात को मानने के लिए हमारे पास काफी प्रमाण हैं कि वैष्णव पञ्चरात्र मत के कम से कम कुछ-कुछ ग्रंथ काश्मीरी शैवदर्शन के ग्रंथों के रचित होने के पहले ही रचित हुये थे।

द्वितीय अध्याय

श्रीसूक्त और श्रीदेवी या लक्ष्मी देवी का प्राचीन इतिहास

वैष्णव धर्म और दर्शन में उत्पन्न क्रम-विकसित शक्तिवाद का विवेचन शुरू करने पर हम देखते हैं कि शक्ति या देवी 'श्री' या 'लक्ष्मी' के रूप में ही पहले वैष्णव धर्म में आत्म-प्रकाश करती हैं। परवर्ती काल के तंत्र-पुराणादि को जैसे ऋग्वेदीय 'देवीसूक्त' में ही देवी का मूल मिला है, उसी तरह ऋग्वेदीय 'श्रीसूक्त' में ही वैष्णव की विष्णु-शक्ति श्री या लक्ष्मी की उत्पत्ति मान ली जाती है। यह श्रीसूक्त ऋग्वेद के पंचम मंडल के अन्त में खिलसूक्तस्थ पंद्रहवाँ ऋक् मंत्र है। आनन्द, कर्दम, श्रीद आदि ऋषि इसके रचयिता हैं।

हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ।।
तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम् ।।
अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनीम् ।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम् ।।
कां सोस्मितां हिरण्यप्रकारा–
मार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् ।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम् ।।
चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं
श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम् ।
तां पद्मिनीमीं शरणं प्रपद्ये
ऽलक्ष्मी में नश्यतां त्वा वृणे ।।
आदित्यवर्णे तपसोधि जातो
वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ विल्वः ।
तस्य फलानि तपसा नुदन्तु
या अन्तरा याश्च वाह्या अलक्ष्मीः।
उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह ।
प्रादुर्भूतो ऽस्मि राष्ट्रेस्मिन् कीर्तिमृद्धि ददातु मे ।।

क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम् ।
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात् ।।
गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ।।
मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि ।
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः ।।
कर्दमेन प्रजाभूता मयि संभव कर्दम ।
श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम् ।।
आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे ।
नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कूले ।।
आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिंगलां पद्ममालिनीम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ।।
आर्द्रां यः करणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम् ।
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह ।।
तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावो दास्यो ऽश्वान्
विन्देयं पुरुषानहम् ।।

यहाँ जातवेद (जातप्रज्ञ) अग्नि से लक्ष्मी का आह्वान कर के उसकी प्रार्थना की जा रही है। अग्नि देवहोतृ हैं, सभी आह्वान उनके अधीन है, इसीलिये उन्हीं से इस आह्वान की प्रार्थना की जा रही है, "हे जातवेद अग्नि, तुम मेरे लिए हिरण्यवर्णा, हरित्कान्ति अथवा हरिणी-रूपधारिणी,[1] सुवर्ण-रजत की पुष्पमालाधारिणी, चन्द्रवत् प्रकाशमाना हिरण्मयी लक्ष्मी का आह्वान करो। जातवेद मेरे लिये उस अपगमनरहिता लक्ष्मी का आह्वान करो, जिनके आहूत होने पर मैं सुवर्ण, गौ, अश्व और बहुतेरे लोगों को पाऊँगा। जिस देवी के सम्मुख अश्व, बीच में रथ है, हस्तिनाद के द्वारा जिनकी (वार्ता) स्थापित होती है, उस श्री देवी को मैं निकट आह्वान कर रहा हूँ। वाक्य मन की अगोचरा ब्रह्मरूपा[2] हिरण्यवर्णा आर्द्रा[3] प्रकाशमाना तृप्ता पर तर्पयन्ती (भक्त मनोरथ सिद्धकारिणी) कमल पर स्थिता, कमल-वर्णा उस श्री को अपने निकट आह्वान कर रहा हूँ। चन्द्राभा प्रभासा (प्रकृष्ट-भासयुक्ता) मन के द्वारा प्रकाशमाना देवसेविता उदारा पद्मिनी श्री की

(१) 'श्रीर्धृत्वा हरिणीरूपमरण्ये संचचार ह' इति पुराणात् । (सायण)
(२) 'क इति ब्रह्मणो नाम' इति पुराणात् । (सायण)
(३) क्षीरोदधेरुत्पन्नत्वात् । (सायण)

इहलोक में शरण ले रहा हूँ, मेरी सारी अलक्ष्मी नष्ट हो, मैं तुम्हीं को वरण कर रहा हूँ ।। हे आदित्यवर्णा श्री, तुम्हारे तपोहेतु (नियमहेतु) ये वनस्पति विल्ववृक्ष अभिजात हुए हैं[1]; उसके फलसमूह तुम्हारी कृपा से ही मेरी अन्तरिन्द्रिय-बहिरिन्द्रिय-सम्बन्धिनी माया (अज्ञान) और तत्-कार्यसमूह और अलक्ष्मी का अपनोदन करें ।। देवसख (महादेव के सखा कुबेर) और कीर्ति (यश अथवा कीर्तिनाम्नी कीर्त्यभिमानिनी दक्षकन्या) मणिसह (मणि मणिरत्न के अर्थ में अथवा कुबेर कोषाध्यक्ष मणिभद्र के अर्थ में) मेरे समीप आए; मैं इस राष्ट्र में प्रादुर्भूत हुआ हूँ, मुझे कीर्ति और ऋद्धि दान करें ।। क्षुधा-पिपासा से मलिन ज्येष्ठा अलक्ष्मी का मैं नाश करूँगा; सारी अभूति और असमृद्धियों को मेरे घर से विताड़ित करो ।। गंधलक्षणा दुराधर्षा नित्यपुष्टा (शस्यादि द्वारा) शुष्कगोमयवती (अर्थात् गवाश्वादिबहुपशुसमृद्धा) सर्वभूत की ईश्वरी उस श्री का यहाँ आह्वान कर रहा हूँ ।। हे श्री, मन का कामना-संकल्प, वाक्य का सत्य (यथार्थता), पशुओं का रूप (अर्थात् क्षीर आदि) और अन्न का रूप (भक्ष्यादि चतुर्विध) हम जिसमें पायें; मुझमें 'श्री और यश आश्रय प्राप्त हो ।। कर्दम (ऋषि) द्वारा तुम अपत्यवती हुई हो (अर्थात् कर्दम ने तुम्हारा अपत्यत्व स्वीकार किया है); अतएव हे श्रीपुत्र कर्दम, तुम मेरे घर में निवास करो; और पद्ममालिनी माता श्री को मेरे कुल में निवास कराओ ।। सारे अप् स्निग्धकारियों को उत्पन्न करे; हे श्रीपुत्र चिक्लीत, तुम मेरे घर में निवास करो; और माता श्रीदेवी को मेरे घर में निवास कराओ ।। हे जातवेद, तुम मेरे लिए आर्द्रा, गजशुण्डाग्रवती, पुष्टिरूपा, पिंगलवर्णा पद्ममालिनी, चन्द्राभा, हिरण्यमयी, लक्ष्मी का आह्वान करो ।। हे जातवेद, तुम मेरे लिए आर्द्रा, यष्टिहस्ता, सुवर्णा, हेममालिनी, सूर्याभा, हिरण्यमयी लक्ष्मी का आह्वान करो ।। हे जातवेद, मेरे लिये तुम उस अनपगामिनी लक्ष्मी का आह्वान करो, जिसके अन्दर मैं हिरण्य, प्रचुर सम्पदा, दास, घोड़े और अनेक पुरुष पाऊँगा ।।"

उपर्युक्त श्रीसूक्त का विश्लेषण करने पर हमें पता चलेगा कि यहाँ वर्णित श्री या लक्ष्मी केवल सम्पदरूपिणी और कान्तिरूपिणी मात्र नहीं हैं, इस वर्णन में श्री या लक्ष्मी के अनेक विशेषणों के अन्दर परवर्ती काल की लक्ष्मीदेवी के अनेक पौराणिक उपाख्यान के बीज भी छिपे हुये है। लक्ष्मी को यहाँ हरिणी कहा गया है, पुराण में लक्ष्मी का हरिणी रूप

(१) **'विल्वो लक्ष्म्याः करेऽभवत्' इति वामनपुराणे कात्यायनवचनात्। (सायण)**

धारण करके जंगल में विचरण करने की बात लिखी है। इस लक्ष्मीदेवी को बहुतेरे स्थलों में 'आर्द्रा' कहा गया है, यही शायद परवर्ती काल में लक्ष्मी के समुद्र से निकलने का मूल कारण है। लक्ष्मी को 'पद्मे स्थिता' और 'पद्म-वर्णा', 'पद्मिनी', 'पद्म-मालिनी' कहा गया है; इससे पद्मासना या पद्मालया 'कमला' का या 'कमलिनी' का संबंध अत्यन्त घनिष्ठ प्रतीत होता है। विल्ववृक्ष और विल्वफल से देवी का संबंध लक्षणीय है; और आजतक भी कोजागर पूर्णिमा में लक्ष्मीपूजा में केले के वृक्ष से लक्ष्मी की जो प्रतीकमूर्ति बनाई जाती है, विल्वफल से उसका स्तन बनाने की प्रथा विद्य-मान है; यह केवल देवी को 'विल्व-स्तनीय' बनाने के लिए ही किया जाता है ऐसा नहीं लगता। 'राजनिर्घण्ट' में विल्व को लक्ष्मीफल कहा गया है। देवी को एक स्थल पर 'पुष्करिणी' कहा गया है; 'पुष्कर' शब्द गजशुण्डाग्र-वाचक है; इस प्रसंग में परवर्ती काल की गजलक्ष्मी की मूर्ति और उपा-ख्यान स्मरणीय है। एक स्थल पर अलक्ष्मी को लक्ष्मी की अग्रजा कहा गया है। पुराणों में लक्ष्मी और अलक्ष्मी में कौन श्रेष्ठ है इस बात को लेकर कलह दिखलाई पड़ता है। श्रीसूक्त के सप्तम मंत्र में कुबेर से लक्ष्मी का योग दिखलाई पड़ता है; पुराण-तंत्रादि-निर्दिष्ट लक्ष्मी-पूजा और कुबेर-पूजा में योग भी इस प्रसंग में लक्षणीय है। अहिर्बुध्न्य-संहिता के ५९ वें अध्याय में वेद के पुरुषसूक्त और श्रीसूक्त का विवेचन है। श्रीसूक्त के विवेचन में 'हिरण्यवर्णा' की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि यह शक्ति ही परमा-मृता देवी है। यह श्रीसूक्त केवल देवी का सूक्त ही नहीं है, इसमें विष्णु और श्री इन दोनों के मिथुन के चिह्न वर्तमान हैं। इन दोनों के शुरू से ही अन्योन्यमिश्र होने के कारण इनमें से किसी के संबंध में सूक्त अन्योन्य-प्रतिपादक है।[1] वैषानस-सम्प्रदाय का 'काश्यप-संहिता' नामक ग्रंथ अत्यन्त प्राचीन समझा जाता है। इस 'काश्यप-संहिता' के अंश के तौर पर समझी जाने वाली 'काश्यपज्ञानकाण्डम्' नामक जो पुस्तक तिरूपति से प्रकाशित हुई है उसमें हम पद्मप्रभा, पद्माक्षि, पद्ममालाधरा, पद्महस्ता श्री देवी के ध्यान के प्रसंग में श्रीसूक्त के द्वारा उनका होम करने की विधि देखते

---

(१) **हिरण्यवर्णां श्रीसूक्तं कृतो ऽन्यत्रा ऽस्य विस्तरः ।**
वर्णो वरयते रूपं वर्णो वर उतापतिः ॥
हितश्च रमणीयश्च यस्या वर्ण इति स्थितिः ।
हिरण्यवर्णा सा देवी श्रीशक्तिः परमा ऽमृता ॥
तदेतत् सूक्तमित्युक्तं मिथुनं परचिह्नितम् ।
आदावन्योन्यमिश्रत्वादन्योन्यप्रतिपादकम् ॥ ५०।४०-४२

हैं।[1] पद्मपुराण के उत्तर-खंड में इस श्रीसूक्त का एक संक्षिप्त रूप देखने को मिलता है, वहाँ कहा गया है—

हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं विष्णोरनपगामिनीम् ।।
गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ।
ईश्वरीं सर्वभूतानान्तामिहोपह्वये श्रियम् ।।
एवं ऋक्-संहितायान्तु स्तूयमाना महेश्वरी । इत्यादि
(२२७।२६-३१)

अग्निपुराण में हमें श्रीसूक्त के द्वारा लक्ष्मी की शिला-स्थापन करने का विधान देखने को मिलता है।[2] लक्ष्मीप्रतिष्ठा के सारे मंत्र श्रीसूक्त के हैं। श्रीसूक्त के भिन्न-भिन्न मंत्रांशों द्वारा देवी की आँखें खोली जाती हैं, विशेष मंत्रांश द्वारा मधुरत्रय दान करना होता है, विशेष विशेष मंत्रांश द्वारा आठों ओर से देवी का अभिषेक करना पड़ता है।[3] इसके बाद सारी पूजा-अर्चा श्रीसूक्त के द्वारा करने का विधान है।[4] स्कन्दपुराण में 'गन्ध-द्वारा' मंत्र को लक्ष्मी का आवाहन-मंत्र और 'हिरण्यवर्णा' आदि मंत्र को लक्ष्मी के ध्यानमंत्र के तौर पर व्यवहृत होते देखते हैं। विष्णुपुराण (१।६।१००) में और पद्मपुराण (सृष्टिखंड, ४।५८ आदि) में हम देखते हैं कि

---

(१) **श्रियं पद्मप्रभां पद्माक्षीं पद्ममालाधरां पद्महस्तां सुमुखीं सुकेशीं शुक्लाम्बरधरां सर्वाविरणभूषितां सुप्रभया ज्वलन्तीं सुवर्णकुम्भस्तनीं सुवर्ण-प्राकारां सुदन्तोष्ठीं सुभ्रूलतां चिन्तयेत् । एवं बुद्धिस्थां कृत्वा पद्मैः श्रीसूक्तेन होमं कुर्यात् । इत्यादि । (सप्तम अध्याय)**

(२) **श्रीसूक्तेन च तथा शिलाः संस्थाप्य संघशः । ४१।८**

(३) **हिरण्यवर्णां हरिणीं नेत्रे चोन्मीलयेच्छ्रियाः ।।**
तन्म आवह इत्येवं प्रदद्यान्मधुरत्रयम् ।
अश्वपूर्वेति पूर्वेण तां कुम्भेनाभिषेचयेत् ।।
कां सो ऽस्मितेति याम्येन पश्चिमेनाभिषेचयेत् ।
चन्द्रां प्रभासामुच्चार्यादित्यवर्णेति चोत्तरात् ।।
उपैतु मेति चाग्नेयात् क्षुत्पिपासेति नैर्ऋतात् ।
गन्धद्वारेति वायव्यान्मनसः काममाकूतिम् ।। ६२।३-६

(४) **जैसे:—**
आयन्तीयेन शय्यायां श्रीसूक्तेन च सन्निधिम् ।
लक्ष्मीबीजेन चिच्छक्ति विन्यस्याभ्यर्चयेत् पुनः ।। ६२।६

समुद्रमंथन से विकसित कमल पर धृतपंकजा लक्ष्मी का आविर्भाव होने पर देवताओं और महर्षियों ने श्रीसूक्त के द्वारा उनका स्तव किया था।

अग्निपुराण के मतानुसार चारों वेदों के चार श्रीसूक्त हैं। 'हिरण्यवर्णां हरिणीं' आदि पंद्रह मंत्र ऋग्वेदोक्त हैं; 'रथेष्वक्षेषु वाजे' आदि चार मंत्र यजुर्वेदोक्त हैं; 'आयन्तीयं साम' आदि मंत्र सामवेदोक्त श्रीसूक्त और 'श्रियं धातर्मयि धेहि' यह एकमात्र अथर्ववेदोक्त श्रीसूक्त का है।[1] वैदिक लक्ष्मी देवी 'श्री' के नाम से सुप्रसिद्ध थीं, शायद इसीलिए पुराणादि में जगह-जगह देवी के वर्णन में इस 'श्री' का प्रयोग लक्षणीय हो उठा है।[2] विष्णु के वर्णन में भी बहुधा 'श्री' से उनका अविनाबद्ध योग ही प्रधान हो उठा है।[3] शतपथ ब्राह्मण में श्रीदेवी की पूजा का उल्लेख है। वहाँ

---

(१) श्रीसूक्तं प्रतिवेदञ्च ज्ञेयं लक्ष्मीविवर्धनम्।
हिरण्यवर्णां हरिणीमृचः पंचदश श्रियः॥
रथेष्वक्षेषु वाजेति चतस्रो यजुषि श्रियः।
आयन्तीयं तथा साम श्रीसूक्तं सामवेदके॥
श्रियं धातर्मयि धेहि प्रोक्तमाथर्वणे तथा।
श्रीसूक्तं यो जपेद्भक्तया हुत्वा श्रीस्तस्य वै भवेत्॥ २६३।१-३

(२) जैसे कूर्मपुराण में सर्वात्मिका परमेश्वरी शक्ति का वर्णन ही देखने को मिलता है:—
श्रीफला श्रीमती श्रीशा श्रीनिवासा शिवप्रिया।
श्रीधरी श्रीकरी कल्या श्रीधरार्धशरीरिणी॥ आदि १२।१८०-८१

(३) जैसे:—
श्रियः कान्त नमस्तेऽस्तु श्रीपते पीतवाससे।
श्रीद श्रीश श्रीनिवास नमस्ते श्रीनिकेतन॥ ब्रह्मपुराण, ४९।१०
ॐ नमः श्रीपते देव श्रीधराय वराय च।
श्रियः कान्ताय दान्ताय योगिचिन्त्याय योगिने। वही-५९।५१
श्रीनिवासाय देवाय नमः श्रीपतये नमः॥
श्रीधराय सशार्ङ्गाय श्रीपदाय नमो नमः।
श्रीवल्लभाय शान्ताय श्रीमते च नमो नमः॥
श्रीपर्वतनिवासाय नमः श्रेयस्कराय च।
श्रेयसां पतये चैव ह्याश्रमाय नमो नमः॥
गरुड़पुराण, ३०।१३-१५
श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीधरः श्रीनिकेतनः।
श्रियः पतिः श्रीपरम एतैः श्रियमवाप्नुयात्॥ अग्निपुराण, २८४।५

श्री प्रजापति से उत्पन्न हुई हैं। वे सौभाग्य, सम्पदा और सौन्दर्य की देवता हैं।[१] बोधायन धर्मसूत्र में भी श्रीदेवी की पूजा का उल्लेख है।[२] वाल्मीकि-कृत रामायण के एकाधिक स्थलों में प्रसंगक्रम में श्री या लक्ष्मी का उल्लेख दिखाई पड़ता है। अयोध्याकाण्ड के ११८ वें में सीता कहती हैं—'शोभयिष्यामि भर्तारं यथा श्रीविष्णुमव्ययम्।'[३] अरण्यकाण्ड में एक जगह सीता को 'श्रीरिवापरा' कहा गया है।[४] सुन्दरकाण्ड के एक जगह सीता को लक्ष्मी कहा गया है।[५] सुन्दरकाण्ड में सातवें अध्याय में कहा गया है कि लक्ष्मी समुद्र-मंथन से पैदा होने वाले फेन से आविर्भूत हुई हैं। यह बात सच है कि इनमें कौन-सा अंश प्राचीन है और कौन-सा परवर्ती काल का प्रक्षिप्त है इसे निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। महाभारत के वनपर्व के एक स्थल पर श्री या लक्ष्मी को हम स्कन्द की पत्नी के तौर पर पाते हैं। यह उल्लेख कहाँ तक प्राचीन है यह नहीं कहा जा सकता है।

श्री या लक्ष्मी देवी सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यों का अनुसंधान करते हुए हम देखते हैं कि, भरहुत तथा दूसरे बौद्ध केन्द्रों में इस देवी की प्रतिमूर्ति मिलती है।[६] राजुबुल मुद्रा पर भी इस देवी की प्रतिमूर्ति मिलती है।[७] डाक्टर हेमचन्द्र राय चौधुरी ने और भी कई शिलालेखों और ताम्रलेखों में लक्ष्मीदेवी का उल्लेख किया है।[८] उदयगिरि गुही लेख (८२ गुप्ताब्द) में दो मूर्तियों के उत्सर्ग करने का उल्लेख है—एक है विष्णुमूर्ति और दूसरी है द्वादशभुजा एक देवी, जो शायद लक्ष्मी देवी की ही विशेष मूर्ति है। स्कन्दगुप्त के समय के जूनागढ़ के एक लेख में एक विष्णुस्तोत्र में विष्णु को कमलनिवासिनी लक्ष्मी देवी का शाश्वत आश्रय कहा गया है। परिव्राजक महाराज संक्षोभ (ई० ५२९) के खोह् ताम्रलेख में वासुदेव के स्तव-प्रसंग में पिष्टपुरी नामक एक देवी का उल्लेख मिलता है। यहीं के शर्वनाथ के राज्यकाल के दो और लेखों में पिष्टपुरिका देवी की पूजा के

(१) ११।४।३

(२) २।५–२४; डाक्टर हेमचन्द्र राय चौधुरी प्रणीत Materials For the Study of the Early History of the Vaishnava Sect, ग्रंथ देखिए।

(३) ११८।२०; बम्बई का निर्णयसागर संस्करण।

(४) ३४।१५—वही। (५) ११७।२७—वही।

(६) देखिए–Buddhist India by Dr. T.W. Rhys Davids, पृ० २१७–१८। डाक्टर रायचौधुरी की उपर्युक्त पुस्तक में उल्लिखित।

(७) Coins of Ancient India, पृ० ८६। डाक्टर रायचौधुरी की पुस्तक में उल्लिखित।

(८) डाक्टर रायचौधरी की पुस्तक में उल्लिखित।

लिए बहुत से गाँवों का दान देने की बात मिलती है। इस पिष्टपुरी या पिष्टपुरिका देवी को लक्ष्मी देवी का ही रूपान्तर या नामान्तर माना जाता है।

श्री या लक्ष्मी देवी का उल्लेख उनकी पूजा का उल्लेख प्राचीनतर ग्रंथादि में कुछ-कुछ मिलने पर भी लगता है कि देवी के तौर पर लक्ष्मी की प्रतिष्ठा और उनकी पूजा का प्रचलन गुप्त साम्राज्य के काल में ही हुआ था। एक और चीज देखनी होगी। श्री या लक्ष्मी और उनकी पूजा के जो प्राचीन उल्लेख मिलते हैं, उन्हें देखने पर पता चलेगा कि यद्यपि शक्ति या पत्नी के तौर पर वे विष्णु से संयुक्त हैं फिर भी यह विष्णु-शक्ति रूप या विष्णुपत्नी रूप ही उनका प्रधान परिचय नहीं है; वे शस्य, सौन्दर्य, सम्पदा की अधिष्ठात्री देवी के तौर पर अपनी स्वतंत्र महिमा से प्रतिष्ठित हैं। कोजागर लक्ष्मीपूजा कम से कम बंगाल में हर गृहस्थ के यहाँ होती है; जनता में लक्ष्मी का यह विष्णुशक्ति या विष्णुपत्नी रूप सम्पूर्ण रूप से अज्ञात न होने पर भी बिलकुल गौण है; वे अपनी शक्ति और महिमा से ही वरणीया हैं। 'लक्ष्मी का आसन' बंगाली हिन्दुओं के घर-घर में प्रतिष्ठित है; इस आसन पर प्रतिदिन जलघट-प्रतिष्ठा और शाम को धूपदीप देना हिन्दू नारी के अवश्य-कर्त्तव्य कार्यों में समझा जाता है। इसके अलावा वृहस्पतिवार को लक्ष्मी की व्रतकथा बंगाल के करीब प्रत्येक हिन्दू के घर में प्रचलित है। इस व्रतकथा के प्रारम्भ में और अंतिम प्रणाम में विष्णु का साहचर्य जोड़ दिया गया है सही, लेकिन व्रतकथा में लक्ष्मी स्वतंत्र देवी हैं। मत्स्य-पुराण में विष्णु की स्तुति या वर्णन के उपलक्ष्य में लक्ष्मी या श्री का उल्लेख बहुत कम है, लेकिन २६१वें अध्याय[1] में हम देखते हैं कि ब्रह्माणी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा आदि के रूप-वर्णन में (प्रतिमा बनाने के प्रसंग में) 'श्री देवी' का विस्तार पूर्बक वर्णन है। यहाँ भी श्री देवी गजलक्ष्मी हैं;—करिभ्यां स्नाप्यमानाऽसौ। इसलिये यहाँ भी लगता है कि लक्ष्मी की ख्याति स्वतन्त्र देवी के रूप में ही है। वैष्णव शास्त्रों में ही आकर उनका स्वातन्त्र्य विष्णु में लुप्त करके केवल-मात्र विष्णु-शक्ति या विष्णु-प्रिया सत्ता को प्राप्त हुआ है। इससे लगता है कि लक्ष्मी भारतवर्ष की दूसरी देवियों की भाँति एक स्वतंत्र देवी हैं, भारतीय धर्म-इतिहास के आवर्त्तन के साथ-साथ वह विष्णु देवता के साथ अबिनाबद्ध भाव से बद्ध हो गईं। हमारे वर्त्तमान विवेचन में हमें लक्ष्मी या श्री की विष्णु-शक्ति मूर्ति की आवश्यकता है, अतएव हम अपने विवेचन को उसी दिशा में ले जायँगे।

---

(१) पंचानन तर्करत्न का संस्करण।

तृतीय अध्याय

पञ्चरात्र में विष्णु-शक्ति श्री या लक्ष्मी

विष्णु-शक्तिरूपा श्री या लक्ष्मी के विवेचन के सिलसिले में पहले हम पाञ्चरात्र मत का विवेचन करना चाहते हैं। इस पाञ्चरात्र के विवेचन में हम मुख्यतः जिन ग्रंथों की सहायता लेंगे वे कब और किसके द्वारा रचित हुई थीं इसे ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता। शतपथ ब्राह्मण में पाञ्चरात्र मत का प्रथम उल्लेख मिलता है। महाभारत के मोक्षधर्म के अन्तर्गत नारायणीय अंश में इस पाञ्चरात्र मत का अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन है; लेकिन वहाँ केवल नारायण की उपासना की बात ही कही गई है; नारायण की शक्ति या पत्नी के तौर पर लक्ष्मी आदि किसी का उल्लेख नहीं है। कहा जाता है कि नारद ने इस पाञ्चरात्र मत का प्रचार किया, लेकिन 'नारद पाञ्चरात्र' नामक जिस ग्रंथ को कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी ने प्रकाशित किया है[1] वह बहुत बाद की मालूम होती है। इसमें एकाधिक स्थल पर राधा का उल्लेख मिलता है, और राधा के बारे में बिलकुल बाद के जो वर्णन हैं वे भी इसमें हैं। बहुतेरे प्राचीन और अर्वाचीन विविध प्रकार के वैष्णव ग्रंथ पञ्चरात्र-शास्त्र के नाम से प्रचलित हो गये हैं। पण्डितप्रवर स्च्‌ह्राडर (Schrader) ने अपने Introduction to the Pancharatra and the Ahirbudhnya Samhita ग्रंथ में कहा है कि कुल १०८ पंचरात्र-संहिताओं के नाम मिलते हैं; उन्होंने जिन पंचरात्र-संहिताओं की पाण्डुलिपियाँ देखी हैं या उन्हें जिन पाण्डुलिपियों का पता चला है उनकी संख्या भी बहुत कम नहीं है। हमने पञ्चरात्र-शास्त्र के जो ग्रंथ पढ़े हैं उनमें अहिर्बुध्न्य-संहिता[2] सबसे पुरानी न होने पर भी सर्वप्रधान लगती है। इस संहिता के रचनाकाल के सम्बन्ध में स्च्‌ह्राडर साहब ने कहा है कि इस प्रकार की संहिताओं के

---

(१) रेवरेन्ड कृष्णमोहन वन्द्योपाध्याय द्वारा सम्पादित।

(२) देवशिखामणि रामानुजाचार्य द्वारा सम्पादित। अडैयार पुस्तकालय (मद्रास) द्वारा प्रकाशित।

रचनाकाल की अंतिम सीमा ईसा की आठवीं सदी मानी जा सकती है[१]; लेकिन उनका मत है कि अहिर्बुध्न्य-संहिता संभवतः ईसा की पाँचवीं सदी में लिखा गया था। पञ्चरात्र के अन्यतम प्रधान ग्रंथ जयाख्य-संहिता को किसी-किसी ने ईसा की पाँचवीं सदी की रचना[२], किसी-किसी ने ईसा की सातवीं सदी या इससे कुछ पहले की रचना मान लिया; किन्तु ये ग्रंथ पुराणों से प्राचीन हैं, इस बात को माना नहीं जा सकता। अठारह पुराणों में कितने ही पुराणों की ईसा की पाँचवीं सदी के बाद की रचना समझने पर भी विष्णुपुराण, कूर्मपुराण, वायुपुराण आदि कई पुराणों को कितने ही लोग पाँचवीं सदी के पहले की रचना मानते हैं। लेकिन बहुतेरे पुराण और उपपुराण (कम से कम आज कल वे जिस रूप में मिल रहे हैं) परवर्ती काल की रचना लगने के कारण पंचरात्र की भाँति ही हमने ऊपर उनका विवेचन किया है।

पाञ्चरात्रमतानुसार भगवान वासुदेव ही परम देवता, परमतत्त्व हैं, वही ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णित परमपुरुष हैं। वही अनादि-अनन्त परमब्रह्म हैं, वही अक्षय अव्यय, नामरूप के द्वारा अभेद्य, वाक्य-मन के अगोचर हैं। वे सर्वशक्तिमान्, षड्गुणसम्पन्न, अजर, ध्रुव हैं। वही संसार के कारण हैं और संसार के आधार, संसार के प्रमाण हैं। यही वासुदेव ही सुदर्शनाख्य विष्णु हैं; ये सर्वभूतों के निवासस्थल हैं, सबको व्याप्त होकर रहते हैं, निस्तरंग सागर की भाँति वे अविक्षिप्त हैं। प्राकृत गुण उन्हें स्पर्श नहीं कर सकते, मगर अप्राकृत गुणास्पद हैं,[३] वे भवार्णव के दूसरे पार निष्कलंक निरंजन के रूप में रहते हैं। परमरूप में आत्मभावी होने के कारण वे परमात्मा हैं[४], प्रणवापन्न होने के कारण सर्वतत्त्वप्रविष्ट हैं; षड्गुणयुक्त होने के कारण भगवान् और सर्वभूतों में निवास करने के कारण वासुदेव नाम से विख्यात हैं।[५] बहुप्रकार के रूपों में व्यक्त नहीं होने के कारण अव्यक्त हैं, और सर्व प्रकृति उनकी शक्ति होने के कारण वे 'सर्व-प्रकृति' कहे जाते हैं; और उनके अन्दर सभी कार्यों का सम्पादन होता है

---

(१) Introduction to the Pancharatra.—पृ० ९७।

(२) गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज (संख्या ५४) में प्रकाशित जयाख्य-संहिता की डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य लिखित अंगरेजी भूमिका देखिए।

(३) अप्राकृतगुणस्पर्शमप्राकृतगुणास्पदम्। अहिर्बुध्न्य-संहिता। २।२४।

(४) पारम्येणात्मभावित्वात् परमात्मा प्रकीर्तितः। वही—२।२७

(५) समस्तभूतवासित्वाद्वासुदेवः प्रकीर्तितः। वही—२।२८

इसलिये वे प्रधान हैं।[1] वे अक्षय होने के कारण अक्षर हैं; अविकार्य-स्वभाव के कारण अच्युत हैं; व्ययनाशन होने के कारण अव्यय हैं; बृहत् होने के कारण ब्रह्म हैं; हित-रमणीय-गर्भ के कारण हिरण्यगर्भ हैं, मंगल-दायक होने के कारण वही पाशुपतोक्त शिव हैं। अप्राकृत-गुणस्पर्श (अर्थात प्राकृत गुण जिन्हें स्पर्श नहीं करते हैं) होने के कारण वे निर्गुण हैं। यही निर्गुण ब्रह्म जब 'जगत्प्रकृतिभाव' ग्रहण करते हैं तब वही वासुदेव ब्रह्म ही 'शक्ति' के नाम से परिकीर्तित होते हैं।[2] ज्ञान ही वासुदेव का प्रथम अप्राकृत गुण है, ज्ञान ही परमात्मा ब्रह्म का परमरूप है;[3] इस ज्ञान की शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज ये पाँचशक्तियाँ हैं; ज्ञान और उसकी इन पाँच शक्तियों को लेकर ही ब्रह्म का षाड्गुण्य होता है, इसीलिये वे 'भगवान्' हैं।

श्रुतियों में देखते हैं कि परमपुरुष पहले सत्-रूप में आत्म-समाहित थे, वह जो आत्म-समाहित सत्-रूप है वह उनका सत्रूप भी है, असत्रूप भी है; सत्-रूप इसलिए कि इसमें सत्ता, चैतन्य और आनन्द सभी प्रकार की प्रकाश-संभावनाएँ निहित हैं; असत्-रूप इसलिए कि सृष्टिप्रपंच के तौर पर यहाँ कुछ भी नहीं है। इस परमपुरुष ने पहले अपना ईक्षण या दर्शन किया; इसी ईक्षण से ही सृष्टि की इच्छा हुई। यहाँ हम देखते हैं कि, स्वशक्ति-परिवृंहित ब्रह्म में पहले 'बहु स्याम्' का संकल्प आया[4]; यही संकल्प ही ईक्षण है; यही स्वरूपदर्शन है।[5] ब्रह्म की शक्ति या गुण ही ब्रह्म का स्वरूप है;[6] ब्रह्म का पहला संकल्प है इस स्व-स्वरूप या स्व-गुण या स्व-शक्ति का ईक्षण। निस्तरंग अर्णवोपम वासुदेव के अन्दर प्रथम संकल्प-रूप यह जो स्पन्दन है वही स्वरूप में सुप्ता शक्ति की इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक प्रथम जागरण है। यह जो शक्तितत्त्व है वह सर्वदा ही अचिन्त्य है, क्योंकि शक्तिमान् या शक्ति की आश्रयवस्तु से अलग करके इस शक्ति को कभी भी नहीं देखा जा सकता है। इसीलिए स्वरूप में

---

(१) **सर्वप्रकृतिशक्तित्वात् सर्वप्रकृतिरीरितः।**
प्रधीयमानकार्यत्वात् प्रधानः परिगीयते ।। अहिर्बुध्न्य-संहिता—२।३०

(२) **जगत्प्रकृतिभावो यः सा शक्तिः परिकीर्तिता ।। वही—२।५७**

(३) **वही—२।५६, ६२**

(४) **वही—२।७, ६२**

(५) **यत्तत्प्रेक्षणमित्युक्तं दर्शनं तत्प्रगीयते ।। वही—२।८**

(६) **स्वरूपं ब्रह्मणस्तच्च गुणश्च परिगीयते। वही—२।५७**

शक्ति को देखा ही नहीं जा सकता है, उसे देखना या समझना पड़ता है उसके बाहर के कार्य के अन्दर से। सूक्ष्मावस्था में सभी शक्तियाँ अपनी आश्रय-वस्तु या भाव की ही सम्पूर्ण अनुगामिनी होती हैं। अतएव उस शक्ति को 'यह' या 'यह नहीं' ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता।[1] भगवान् परब्रह्म की ऐसी जो अचिन्त्य शक्ति है वह स्वरूपतः ब्रह्म के साथ अपृथक्-स्थिता है; ब्रह्म की सर्वभावाभावानुगा सर्वकार्यकारी यह शक्ति किरणमाली चन्द्र और उसकी ज्योत्स्ना की भाँति, अथवा सूर्य या उसकी रश्मि की भाँति, अथवा अग्नि और उसकी चिनगारी की भाँति, अम्बुधि और उसकी ऊर्मिमाला की भाँति ब्रह्म से अभिन्ना है[2]। विष्णु के स्वरूप में लीन यह अपृथक्-रूपा शक्ति विष्णु-संकल्प का अवलम्बन करके स्पन्दनात्मिका के तौर पर जब पहले पहल जाग्रत हुईं तब से उन्होंने मानो स्वातंत्र्य-प्राप्ति की; अर्थात् विश्व के सृष्टि कार्य का जितना भी भार था उसे मानो विष्णु ने तदात्मिका इसी शक्ति पर ही दिया; यह मानो शक्ति का ही स्वतन्त्र मामला है; इसीलिए इस जगन्मयी शक्ति को 'स्वातन्त्र्यरूपा' या स्वतंत्र-शक्ति कहा जाता है। अपने सृष्टि-कार्य के क्षेत्र में वे स्वतंत्रा हैं। बाद में हम देखेंगे कि वे विष्णुप्रिया हैं, इसलिये स्वेच्छा से ही वे विष्णु को प्रसन्न करने के लिए सारे काम करती हैं; घर की गृहिणी जिस तरह पति को प्रसन्न करने के लिए घर के सारे कामों को करने पर भी घर के कामों के मामले में वे मानो वह स्वतंत्र है। यह स्वतंत्र शक्ति तब स्वेच्छा से

---

(१) शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक्स्थिताः ।
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ताः ।।
सूक्ष्मावस्था हि सा तेषां सर्वभावानुगामिनी ।
इदन्तया विधातुं सा न निषेद्धुं च शक्यते ।। अहिर्बुध्न्य-संहिता—३।२—३

(२) सर्वभावानुगा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः ।
भावाभावानुगा तस्य सर्वकार्यकरी विभोः ।। वही—३।५;
तुलनीय, वही—६०।३

जयाख्य-संहिता में कहा गया है :—

सूर्यस्य रश्मयो यद्वदूर्मयश्चाम्बुधेरिव ।
सर्वैश्वर्यप्रभावेन कमला श्रीपतेस्तथा ।। ६।७८

और :—

ततो भगवतो विष्णोर्भासा भास्वरविग्रहात् ।
लक्ष्म्यादिर्निःसृता ध्यायेत् स्फुलिंगनिचया यथा ।।

जयाख्य-संहिता, १३।१०५—०६

'उदितानुदिताकारा', 'निमेषोन्मेष-रूपिणी' होकर सृष्टि-स्थिति-लय करती रहती है। निरपेक्षता के कारण वे आनन्दा, काल के द्वारा परिच्छिन्न न होने के कारण वे नित्या, आकारहीना होने के कारण वे सदा पूर्णा हैं; वे एक ओर रिक्ता, एक ओर पूर्णा हैं। जगत्-रूप में लक्ष्यमाणा होने के कारण वे लक्ष्मी हैं, वैष्णव भाव का आश्रय करती हैं इसलिये उन्हें 'श्री' कहा जाता है; उनमें कोई कालभाव या पुंभाव व्यक्त नहीं होता इसलिए वे 'पद्मा' हैं, पर्याप्त सुखयोग के द्वारा कामदान करती हैं इसलिये वे 'कमला'[१] हैं, विष्णु की सामर्थ्यरूपा होने के कारण वे विष्णुशक्ति हैं; हरि का भाव पालन करती हैं इसलिये वे विष्णुपत्नी हैं, अपने अन्दर अखिल जगदाकार को संकुचित करती हैं इसलिए कुण्डलिनी हैं, मनोवाक्यादि के द्वारा वे आहता (गोचरीभूता) नहीं होती हैं इसलिये वे अनाहता हैं। मंत्र-स्वरूप सूक्ष्मरूपा होकर भी वे 'परमानन्द-सम्बोधा' हैं; शुद्धसत्त्व को आधार बनाती हैं इसलिये वे गौरी हैं, वे विशेषणहीना होने के कारण अद्वितीया हैं। अपनी चेतना के द्वारा सब कुछ को प्राणवान् बनाती हैं इसलिये वे जगत्-प्राणा हैं। जो गाते हैं (भगवान् की महिमा) उन सभी का त्राण करती हैं इसलिये वे गायत्री हैं, अपने द्वारा ही जगत् का प्रकृष्ट रूप से सृजन करती हैं इसलिये वे प्रकृति हैं, वे अलग-अलग रूपों में परिमाण भी करती हैं, और सब कुछ में वे ही व्याप्त भी रहती हैं इसलिये वे माता के रूप में कीर्तित होती हैं[२]। सबका मंगल करती हैं इसलिये शिवा हैं, काम्यमानत्व के कारण तरुणी हैं, संसार से तारण करती हैं इसलिये तारा हैं, अनन्त विकार उन्हीं के अन्दर शान्त होते हैं इसलिये वे शान्ता हैं, वे मोह का अपनोदन करती हैं और मोहित करती हैं इन दोनों कारणों से वे 'मोहिनी' हैं। हरि का अधिष्ठान और इरूष्यमाण होने के कारण वे 'इड़ा' हैं; रमण (लीला के द्वारा आनन्ददान) कराती हैं इसलिये वे रन्ती या रति हैं, स्मरण कराती हैं इसलिये सरस्वती हैं, अविच्छिन्ना हैं इसलिये 'महाभासा'

---

(१) **जगत्तया लक्ष्यमाणा सा लक्ष्मीरिति गीयते ।**
श्रयन्ती वैष्णवं भावं सा श्रीरिति निगद्यते ।।
अव्यक्तकालपुंभावात् सा पद्मा पद्ममालिनी ।
कामदानाच्च कमला पर्याप्तसुखयोगतः ।।

अहिर्बुध्न्य-संहिता ३।९-१०

(२) **प्रकुर्वन्ती जगत् स्वेन प्रकृतिः परिगीयते ।**
मिमीते च तता चेति सा माता परिकीर्तिता ।।

वही—३।१६-१७

हैं । सर्वांगसम्पूर्णा भावाभावानुगामिनी विष्णु की यह दिव्या शक्ति ही नारायणी है[१] ।

भगवान् वासुदेव का प्रथम स्पन्दनात्मक सृष्टि-संकल्प ही उनका सुदर्शन रूप है ।[२] इसी सुदर्शन-तत्त्व से ही शक्तितत्त्व की अभिव्यक्ति हुई है । मूलतत्त्व की दृष्टि से इस शक्ति की अलग कोई सत्ता न होने के कारण शक्तितत्त्व मानो एक उत्प्रेक्षामात्र है; इसलिये सुदर्शन तत्त्व से उत्पन्न शक्ति को उत्प्रेक्षा-रूपिणी कहा गया है[३] । वास्तव में शक्ति परमपुरुष वासुदेव का ही 'पूर्णाहन्ता' रूप है; शक्ति और शक्तिमान् इसलिये सदा ही धर्मधर्मिस्वभाव से संयुक्त हैं[४] । इसीलिये कहा गया है कि भगवान् की यह सर्वभावना 'अहन्ता'-रूपिणी शक्ति 'अपृथक्चारिणी' आनन्दमयी परा सत्ता है ।[५] दूसरी अन्यत्र हम देखते हैं—"जो परमात्मा नारायण देव हैं, 'अहंभावात्मिका शक्ति' उन्हीं की है, (और इसीलिये) यह शक्ति तद्धर्मधर्मिणी है । यह एक और अद्वयतत्त्व ही जगत्-सृष्टि के लिये भेद्यभेदक के तौर पर अलग-अलग उदित हुआ है । शक्ति के अलावा शक्तिमान् कभी भी कारण के तौर पर अवस्थान नहीं करता है, और शक्तिमान् के अलावा शक्ति कभी अकेली अवस्थान नहीं करती है ।"[६] ब्रह्मभावमयी होने के कारण शक्ति को वैष्णवी कहा जाता है, नारायण ही परब्रह्म हैं, इसलिये शक्ति नारायणी है[७] ।

---

(१) अहिर्बुध्न्य-संहिता—३।२४

(२) सोऽयं सुदर्शनं नाम संकल्पः स्पन्दनात्मकः । वही—३।३९

(३) उत्प्रेक्षारूपिणी शक्तिः सुदर्शनपराह्वया । अहिर्बुध्न्य-संहिता, ६०।९

(४) सर्वभावात्मिका लक्ष्मीरहंता पारमात्मिका ।
तद्धर्मधर्मिणी देवी भूत्वा सर्वमिदं जगत् ।। वही—३।४३
तुलनीय—एष चैषा च शास्त्रेषु धर्मधर्मिस्वभावतः ।।
वही—३।२५

(५) या सा भगवतः शक्तिरहंता सर्वभावगा ।।
अपृथक्चारिणी सत्ता महानन्दमयी परा । वही—४।७३

(६) वही—६।१-३। जयाख्य-संहिता में है—
या परा वैष्णवी शक्तिरभिन्ना परमात्मनः ।। १४।३४
तुलनीय—जीव गोस्वामी के भगवत्-सन्दर्भ में उद्धृत श्रीहयशीर्ष-पंचरात्र—
परमात्मा हरिर्देवस्तच्छक्तिः श्रीरिहोदिता ।
श्री देवी प्रकृतिः प्रोक्ता केशवः पुरुषः स्मृतः ।
न विष्णुना विना देवी न हरिः पद्मजां बिना ।।

(७) अहिर्बुध्न्य, ४।७७

महाप्रलय की अवस्था में परब्रह्म नारायण 'प्रसुप्ताखिलकार्य' (प्रसुप्त है अखिल कार्य जिसमें) के तौर पर और 'सर्वावास' के तौर पर विराज करते हैं। तब षाड्गुण्य उनके अन्दर पूर्ण रूप से स्तैमित्यरूप रहता है, और वे 'असमीराम्बरोपम' होकर अवस्थान करते हैं। तब उनके अन्दर उनकी शक्ति 'स्तैमित्यरूपा' और 'शून्यत्व-रूपिणी' रहती है।[१] यह स्तैमित्यरूपा शक्ति ही परब्रह्म की आत्मभूता शक्ति है। इस स्तैमित्यरूपा आत्मभूता शक्ति का सृष्टि के लिए जो प्रथम उन्मेष है, शक्ति का वह रूप ही लक्ष्मीरूप है। यह लक्ष्मीमय समुन्मेष दो प्रकार का होता है—क्रिया और भूति। भूति शक्ति का जगत्-प्रपंच रूप है, और शक्ति का क्रियात्मक जो उन्मेष है वही भूतिप्रवर्तक है। यह क्रिया शक्ति ही विष्णु का संकल्प है, यही विश्व की प्राणरूपा शक्ति है।[२] ये प्राणरूपा क्रिया-शक्ति और भूतिशक्ति मानों सूत और मणि हैं, क्रियाशक्ति ही भूति-शक्ति को पकड़े हुये है; एक को सृष्टि का निमित्त-कारण और दूसरे को सृष्टि का उपादान-कारण कहा जा सकता है। इस भूति-शक्ति और क्रिया-शक्ति को विष्णु का भाव्यभावक रूप भी कहा जा सकता है। सुदर्शनात्मक विष्णु-संकल्प भावक है; यही क्रियाशक्ति है, यही विष्णु का सामर्थ्य, योग, महातेज या मायायोग है। भाव्य नाम से शक्ति का जो उन्मेष होता है वही भूति-शक्ति सी है, वह शुद्ध्यशुद्धमयी है। अग्नि की ज्वाला विष्णु के संकल्प के द्वारा ही फैलती है, इसलिये भाव्य अग्नि भूति-शक्ति है और अग्नि की ज्वाला उत्पन्न करनेवाली सर्वव्यापी संकल्पात्मक शक्ति ही क्रिया-शक्ति है।[३] इस प्रसंग में यह भी देखा जा सकता है कि विष्णु की पूर्णाहन्ता रूप में विष्णु की स्वरूपभूता या विष्णुलीना जो शक्ति है उसी को विष्णु की समवायिनी-शक्ति कहते हैं;[४] विष्णु की जगत्-प्रपंचकारिणी जो शक्ति है वह त्रिगुणात्मिका माया-शक्ति है; यही परिणामिनी प्रकृति है।[५] अहिर्बुध्न्य-संहिता में दूसरी जगह हम देखते हैं कि विष्णु की दो प्रधान शक्तियाँ हैं—इच्छात्मिका शक्ति और क्रियात्मिका शक्ति। इच्छात्मिका शक्ति लक्ष्मी है और क्रियात्मिका या संकल्परूपा शक्ति सुदर्शन है।[६]

शक्ति के द्वारा विष्णु का जो सृजन है वह दो प्रकार का है—शुद्धसृष्टि और शुद्धेतर सृष्टि। विष्णु की 'गुणोन्मेषदशा' शुद्धसृष्टि है; अर्थात् महा-

---

(१) अहिर्बुध्न्य—५।२-३; तुलनीय—वही—५१।४९-५०
(२) वही—३।२८ प्रभृति; वही—८।२९-३२
(३) वही—१६।३१-३५
(४) या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।। वही—८।२९
(५) वही—सप्तम अध्याय।
(६) वही—३६।५३-५७

प्रलयावस्थित ब्रह्म की निस्तरंग सत्ता के अन्दर जो गुणसमूह हैं उनका प्रथम उन्मेष। इसी गुणोन्मेष के द्वारा ही पूर्णाहन्ता के रूप में षड्गुणमय भगवत्ता की स्वानुभूति होती है। भगवान् के ये सभी गुण अप्राकृत हैं। मन्वादि का अवलम्बन करके प्रजा-सृष्टि शुद्धेतरा सृष्टि है। शुद्धसृष्टि के अन्दर चार क्रम-परिणतियों की अवस्था या स्तर दिखलाई पड़ते हैं; यही पाञ्चरात्र का प्रसिद्ध चतुर्व्यूह-तत्त्व है। एक एक व्यूह को हम भगवान् का एक-एक प्रकाश-स्तर कह सकते हैं; यह प्रकाश पहले से दूसरा, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा है; यह मानो बहुत कुछ एक प्रदीप से दूसरे को और दूसरे से और एक को जलाने की भाँति है।[१]

यथाक्रम चतुर्व्यूह के नाम हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध।[२] वासुदेव व्यूह है परब्रह्म विष्णु के आत्म-संहृत स्तिमित स्वरूप के अन्दर प्रथम गुणोन्मेष की अवस्था, यह संकल्पकल्पित विष्णु की अव्यक्ताथावस्था से प्रथम व्यक्तिलक्षण है। परतत्त्व परवासुदेव है; इसी परवासुदेव से ही व्यूह-वासुदेव की उत्पत्ति हुई है, परवासुदेव ही एक अंश में व्यूह वासुदेव के रूप में अविर्भूत होते हैं, दूसरे अंश में वह नारायण स्वरूप अवस्थान करते हैं।[३] यह वासुदेव-तत्त्व ही विष्णुशक्ति की प्रथमावस्था है, और यह विष्णुशक्ति ही प्रकृष्टरूप से सब कुछ करती है इसलिये वे ही विश्वप्रकृति के नाम से ख्यात हैं। अतएव भगवान् वासुदेव ही परमा प्रकृति हैं। लेकिन यह प्रकृति विशुद्धसत्त्व की षड्गुणमयी प्रकृति है, सत्त्व, रज, तम यह अविशुद्ध गुणत्रयात्मिका प्रकृति नहीं। इस स्तर पर गुणत्रयों की बिलकुल ही उत्पत्ति नहीं होती। शक्ति और शक्तिमान् की प्रथम भेदावस्था को ही वासुदेव-तत्त्व कहा जा सकता है।[४] सर्वशक्तिमान् वासुदेव

---

(१) पाद्मतन्त्र, १।२।२१; स्च्हाडार के पूर्वोक्त ग्रंथ में उल्लेखित।

(२) यह लक्षणीय है कि पहला व्यूहवासुदेव हैं वसुदेव-सुत श्रीकृष्ण, संकर्षण हैं श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम या बलदेव, प्रद्युम्न हैं श्रीकृष्ण के पुत्र और अनिरुद्ध हैं पौत्र।

(३) स्च्हाडार का पूर्वोक्त ग्रंथ, ५२ पृ०।

(४) तेषां युगपदुन्मेषः स्तैमित्यविरहात्मकः।
संकल्पकल्पितो विष्णोर्यः स तद्व्यक्ति लक्षणः॥
भगवान् वासुदेवः स परमा प्रकृतिश्च सा।
शक्तिर्या व्यापिनो विष्णोः सा जगत्प्रकृतिः परा॥
शक्तेः शक्तिमतो भेदाद्वासुदेव इतीर्यते। अहिर्बुध्न्य-संहिता, ५।२७-२६

अहिर्बुध्न्य-संहिता की एक जगह में फिर वासुदेव ही परब्रह्म की अनिर्देश्य अव्यक्तावस्था कहा गया है:—

नासदासीत्तदानीं हि न सदासीत्तदा मुने॥
भावाभावौ विलोप्यान्तर्विचित्रविभवोदयो।
अनिर्देश्यं परं ब्रह्म वासुदेवोऽवतिष्ठते॥
सा रात्रि स्तत्परं ब्रह्म तदव्यक्तमुदाहृतम्। प्रभृति, ४।६८-७०

सृष्टि की इच्छा करके अपने अन्दर ही अपने को भाग करते हैं; यह अपने में अपने आप विभक्त रूप ही संकर्षण है।[1] वासुदेव से इस संकर्षण की अभिव्यक्ति को एक सुन्दर दृष्टान्त देकर समझाया गया है। यह एक ऐसी दशा है, जहाँ मानो सूर्य स्पष्ट नहीं उदित हुआ है, केवल उदय शैल की सूर्य की प्रभा दिक्‌मण्डल में फैल गई है; भगवान् वासुदेव ने अब तक स्पष्ट सृष्टि के तौर पर अपने को फैला नहीं दिया है, मगर इस वह्वात्मिका सृष्टि का रश्मिजाल मानो उनके चारों ओर बिखर गया है, यही संकर्षण-तत्त्व है।[2] संकर्षण-व्यूह में ही शुद्ध सृष्टि से लगातार अशुद्ध सृष्टि अस्पष्ट प्रकट होती है। सृष्टि ने अब तक मानों स्पष्ट कोई रूपग्रहण नहीं किया है, सब कुछ भ्रूणावस्था में है। अब तक चित् चित् में या अचित् अचित् में या चिदचित् में कोई भेद नहीं है। चिदचित्खचित शुद्धाशुद्ध अनन्त विश्व को मानो इस अच्युत संकर्षण ज्ञानमय अपने शरीर में तिलकालक की भाँति धारण किये हुये हैं;[3] अर्थात् तिलकालक जैसे पुरुष के देह में प्रच्छन्न रहता है, चिदचित्खचित शुद्धाशुद्ध विश्व भी उसी तरह संकर्षण के ज्ञानमय देह के अन्दर प्रच्छन्न है।

संकर्षण-व्यूह से प्रद्युम्न-व्यूह की उत्पत्ति हुई है। इस व्यूह में आकर पुरुष से प्रकृति अलग हुई; अर्थात् इसी स्तर पर सत्त्व, रज और तम यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति उत्पन्न हुई। इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति के उत्पन्न होने के बाद पंचरात्र-शास्त्र में जो सृष्टि-प्रकरण वर्णित है उसमें सांख्यदर्शन का ही एक तरह से अनुकरण किया गया है। प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति हुई है। अनिरुद्ध मानो प्रद्युम्न से सृष्टि का दायित्व लेकर प्रद्युम्न के आरम्भ किये हुये कार्य को ही सुसम्पन्न करते हैं। काल की सहायता से जड़ और चित् की सृष्टि करके वे जगत्-ब्रह्माण्ड के अधिपति के रूप में विराजते हैं।

वासुदेव षड्‌गुणयुक्त भगवान् हैं; संकर्षण में इस षड्गुण का ज्ञान और बल गुण प्रकट होता है, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य और वीर्य प्रकट होता है, अनिरुद्ध में शक्ति और तेजोगुण प्रकट होता है। दूसरी ओर प्रद्युम्न को सृष्टि, अनिरुद्ध को स्थिति और संकर्षण को लय का देवता कहा जाता

(१) **अहिर्बुध्न्य-संहिता,** ५।२६-३०

(२) **भानावुदयशैलस्थ्ये प्रभा यद्वद्विजृम्भते।**
उदयस्थे तथा देवे प्रभा संकर्षणात्मिका॥ वही—५।३०-३१

(३) वही—४।६४-६५

है।[1] महासनत्कुमारसंहिता में कहा गया है कि वासुदेव अपने मन से श्वेतवर्ण की शान्तिदेवी की और संकर्षण-स्वरूप शिव की सृष्टि करते हैं, शिव के वाम अंग से श्री देवी की उत्पत्ति हुई है, प्रद्युम्न उन्हीं के पुत्र हैं, वही ब्रह्मा हैं। ब्रह्मा ने पीत सरस्वती की और पुरुषोत्तमरूपी अनिरुद्ध की सृष्टि की। कृष्णरति अनिरुद्ध की शक्ति हैं, वही त्रिधा मायाकोष हैं।[2] दूसरी ओर कहा गया है कि संकर्षण भगवत्प्राप्तिसाधन का मार्ग बतलाते हैं, प्रद्युम्न भगवत्प्राप्ति का वर्त्मस्वरूप शास्त्रार्थ-भाव से अवस्थान करते हैं और अनिरुद्ध भगवत्प्राप्ति-लक्षण शास्त्रार्थ का फल साधकों को प्राप्त कराते हैं।[3] दार्शनिक दृष्टि में यह संकर्षण जीवतत्त्व के अधिष्ठाता देवता हैं, प्रद्युम्न मन या बुद्धितत्त्व के अधिष्ठाता देवता हैं, अनिरुद्ध अहंकार तत्त्व के देवता हैं।

शाक्त ग्रन्थों में विश्वव्यापिनी इस आद्या शक्ति को 'योनि-रूपा' कहा जाता है। पंचरात्र में भी परमात्म-धर्मधर्मी-लक्ष्मीरूपा शक्ति को जगत् की 'योनि' कहकर वर्णन किया गया है।[4] यह ब्रह्मलीना या 'परमात्म-लीना' अनपायिनी देवी 'तारा' के नाम से विख्यात हैं, 'ह्रीं' के नाम से भी कीर्तित होती हैं।[5] अनन्त दुरित हरण करती है, सुरासुरगण उनकी स्तुति करते (ईड्यते) हैं, अखिलमान के द्वारा उनके परिमाण का निरूपण किया जाता है (मीयते); इस 'हरति' का 'ह', 'ईड्यते' का 'ई' और 'मीयते' का 'म' एकत्र होकर 'ह्रीं' बीज उत्पन्न होता है।[6] और विष्णु की भूति-शक्ति और क्रिया-शक्ति के अन्दर क्रिया-शक्ति की एक मन्त्रमयी स्थिति है। यह क्रिया-शक्ति जाग्रत होने पर नादरूपता ग्रहण करती है। यह परमनाद मानो दीर्घ घण्टास्वन की भाँति है, केवल परमयोगी ही इस परमानन्दरूपा शक्ति को साक्षात् कर सकते हैं। समुद्र के अन्दर बुलबुले की भाँति यह नाद कदाचित् उत्पन्न होता है, उन्मेषहीन दशा में योगिगण इसे विन्दु कहते हैं। यह विन्दु नाम-नामि-स्वरूप दो हिस्सों

---

(१) विष्वक्सेन-संहिता का यही मत है। लक्ष्मीतंत्र के मत में अनिरुद्ध सृष्टि, प्रद्युम्न स्थिति और संकर्षण लय के देवता हैं। —देखिए स्च्हाडर का पूर्वोक्त ग्रंथ।

(२) स्च्हाडर का पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० ३६।

(३) अहिर्बुन्ध्य—५।२२-२४

(४) या च सा जगतां योनिर्लक्ष्मी स्तद्धर्मधर्मिणी। वही—५९।७

(५) वही—५१।५४-६१

(६) वही—५१।५५

में बँट जाता है; इसके अन्दर नाम के उदय का अवलम्बन करके शब्दब्रह्म प्रवर्तित होता है, और नामी के उदय का अवलम्बन करके पूर्वदृष्टा भूति का प्रवर्तन होता है। नाम और कुछ नहीं है, विन्दुमयी शक्ति ही स्वेच्छा से नामता ग्रहण करती है। वह नाम अवर्ण होकर भी स्वर-व्यंजन-भेद से दो रूपों में रहता है। शब्दसृष्टिमयी 'एकानेकविचित्रार्था', 'नानावर्ण-विकारिणी' साक्षात्सोमरूपा यह जो शक्ति है वही लक्ष्मी का **शब्दमयी** तनु है, यही उनका 'परा' रूप है। लक्ष्मी की यह नादरूपिणी 'परा'शक्ति कुण्डलिनी के तौर पर, शान्ता और निरंजना के तौर पर मूलाधार-कमल में निवास करती है। वहाँ से वह नटी की भाँति चंचल होकर ऊर्ध्वगामिनी होती है;[१] यह नादरूपा शक्ति जब दृष्टि-दृश्यात्मता को प्राप्त होकर शब्दार्थत्व की विवर्तिनी के तौर पर नाभि-पद्म में अवस्थान करती है तभी यह 'पश्यन्ती' नाम धारण करती है। और यह 'पश्यन्ती' ही भृंगी की भाँति ध्वनि करते-करते हृदयपद्म में प्रवेश करके विस्तृत होती है।[२] तब यह शक्ति वाच्य-वाचक-भाव से लोलीभूत होकर क्रियामयी हो उठती है। यही विभिन्न तन्त्रों और स्फोटवाद में कहा गया 'मध्यमा' रूप है। इसके बाद यह शक्ति कण्ठ में प्रवेश करके कण्ठस्पर्श के द्वारा स्पष्ट व्यंजनादि के तौर पर प्रकट होती है। यही नाद का रूप है—तन्त्र और स्फोटवाद में कहा गया 'वैखरी' रूप है। इस प्रकार स्वर-व्यंजनादि सभी वर्ण विष्णुशक्ति से उत्पन्न हुये हैं, और इसीलिये वर्णों को विष्णुशक्तिमय और विष्णुसंकल्पजृंभित कहा जाता है।[३] विष्णु की यह नादरूपा शक्ति सोमसूर्यात्मिका, अथवा कहा जा सकता है, यह विष्णु की सोमसूर्याग्निभूषणा त्रैलोक्यैश्वर्यदा उज्ज्वल मायातनु है।[४] इसी सोमसूर्य से ही स्वर-व्यंजनादि वर्णमाला की उत्पत्ति हुई है। शाक्ततन्त्रादि में जिस प्रकार इस वर्णात्मिका स्वर-व्यंजनरूपा मात्रिका को देह के सभी अंग-प्रत्यंगों में न्यस्त करके अंग-न्यास कर-न्यास के द्वारा सभी प्रकार से शक्तिमयी हो जाने का विधान है इस पाञ्चरात्र शास्त्र के बहुतेरे स्थलों पर यह एक ही विधान देखने को मिलता है।

पाञ्चरात्र में वर्णित इस शक्ति-तत्त्व के सम्बन्ध में एक मौलिक प्रश्न उठ सकता है, शक्ति और शक्तिमान् के पूर्ण अभेदत्व के बावजूद

---

(१) **नटीव कुंडलीशक्तिराद्या विष्णोर्विजृम्भते। अहिर्बुध्न्य—१६।५५**

(२) **भृंगीव निनदन्ती सा हृदब्जे याति विस्तृतिम्। वही—१६।६१**

(३) **विष्णुशक्तिमया वर्णा विष्णु-संकल्पजृम्भिताः। वही—१७।३**

(४) **वही—१८।४**

अपने अन्दर मानो अपने आप एक भेद पैदा कर यह जो विश्वसृष्टि हुई है, वह क्यों हुई ? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि यही विष्णु की लीला है। वहीं पांचरात्र में लीलावाद का प्रवर्तन होता है। महाप्रलय के समय यह सर्वशक्तिमयी विश्वप्रकृति अपने स्वामी के अंग में—पुरुषदेह में लीन थी; परब्रह्म विष्णु तब बिलकुल अकेले थे; इसीलिये वे रमण नहीं कर सके। जिस तरह बृहदारण्यक उपनिषद् में देखते हैं कि ब्रह्म अकेले रमण न कर पा अपने को ही स्त्री-पुरुष दो भागों में विभक्त किया है, यहाँ भी वही बात दिखाई पड़ती है। अकेले रमण न कर पा उस एकाकी सनातन विष्णु ने भी लीला के लिये यह सारी सृष्टि की। उस सर्वग देव ने सभी के नाम रूप आदि की पहले सृष्टि की, और इसके बाद लीला की उपकरणभूता त्रिगुणात्मिका मायासंज्ञा प्रकृति की सृष्टि करके उसी के साथ रमण करने लगे।[१] कल्प की समाप्ति के बाद लीला-रस-समुत्सुक होकर ही उन्होंने संसार की सृष्टि करने का विचार किया।[२] इस क्रीड़ारस में ही व्यक्त सब कुछ आनन्द प्राप्त करता है, ईश्वर भी इस सृष्टिरूपा देवी के द्वारा ही खुद आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। ईश्वर का हृषीकेशत्व, उनका देवत्व, यह सब कुछ उसी लीला के द्वारा साधित हुआ है।[३]

शक्ति के प्रकार-भेद के बारे में पाञ्चरात्र ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न मत दिखाई पड़ते हैं। हम लोगों ने अहिर्बुध्न्य-संहिता के मतानुसार प्रधानतः शक्ति के दो भाग देखे हैं, क्रियाशक्ति और भूतिशक्ति (या इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति)। सात्वत-संहिता में विष्णु की दो मुख्य शक्तियों का उल्लेख है, भोक्तृ-शक्ति और कर्तृ शक्ति; इस भोक्तृशक्ति को लक्ष्मी और

---

(१) एकाकी स तदा नैव रमते स्म सनातनः ।
स लीलार्थं पुनश्चेदमसृजत् पुष्करेक्षणः ।।
स पूर्वं नामरूपाणि चक्रे सर्वस्य सर्वगः ।
लीलोपकरणां देवः प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकाम् ।।
मायासंज्ञां पुनः सृष्ट्वा तया रेमे जनार्दनः ।
(२) पुरा कल्पावसाने तु भगवान् पुरुषोत्तमः ।
जगत् स्रष्टुं मनश्चक्रे लीलारससमुत्सुकः ।।

वही—४१।४

(३) क्रीड़या हृष्यति व्यक्तमीशस्तत्सृष्टिरुपया ।
हृषीकेशत्वमीशस्य देवत्वं चास्य तत् स्फुटम् ।।

—वही—५३।४४

कर्तृशक्ति को पुष्टि कहा जाता है[१]। इस संहिता में अन्यत्र शक्ति को चार, छः, आठ और बारह शक्ति के तौर पर वर्णन किया गया है, जैसे—श्री, कीर्ति, जया और माया ये चार; शुद्धि, निरंजना, नित्या, ज्ञानमुक्ति (?), प्रकृति और सुन्दरी ये छः; लक्ष्मी, शब्दनिधि, सर्वकामदा, प्रीतिवर्द्धिनी, यशस्करी, शान्तिदा, तुष्टिदा और पुष्टिदा ये आठ[२]; लक्ष्मी, पुष्टि, दया, निद्रा, क्षमा, कान्ति, सरस्वती, धृति, मैत्री, रति, तुष्टि, मति (मेधा)—ये बारह। पद्मतंत्र में श्री और भूमि इन दो शक्तियों का उल्लेख मिलता है।[३] परमेश्वर-संहिता में भी श्री और भूमि इन दो शक्तियों का उल्लेख किया गया है। वहाँ भूमिशक्ति ही पुष्टिशक्ति है। विहगेन्द्र-संहिता के दूसरे अध्याय और पराशर-संहिता के आठवें से दशवें अध्याय तक तीन शक्तियों का उल्लेख मिलता है—श्री, भू (या भूमि) और लीला। विहगेन्द्र-संहिता में कीर्ति, श्री, विजया, श्रद्धा, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा इन आठ शक्तियों का उल्लेख मिलता है।[४] जयाख्य-संहिता में लक्ष्मी, कीर्ति, जया, माया इन चार देवियों का उल्लेख मिलता है[५]। महा-संहिता में परमात्मा की श्री, भू और दुर्गा इन तीन शक्तियों का उल्लेख है।[६]

---

(१) तस्य शक्तिद्वयं तादृगमिश्रं भिन्नलक्षणम्।
भोक्तृशक्तिः स्मृता लक्ष्मीः पुष्टिर्वै कर्तृसंज्ञिता॥
सात्वत-संहिता, कंजीवरम् संस्करण १३।४९

(२) वही—१२।७–१२

(३) स्च्ह्राडर का पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ५४।
अहिर्बुध्न्य-संहिता में भी पृथ्वी को वैष्णवी-शक्ति कहा गया है।
पृथिवी वैष्णवी शक्तिः प्रथमाना स्वतेजसा। ५८।५४

(४) स्च्ह्राडर का पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ५५।

(५) ६।७७

(६) जीवगोस्वामी के भगवत्-संदर्भ में उद्धृत।

चतुर्थ अध्याय

पाञ्चरात्र में वर्णित शक्तितत्त्व और काश्मीर-शैवदर्शन में व्याख्यात शक्तितत्त्व में समानता ।

ऊपर हम लोगों ने पाञ्चरात्र में वर्णित शक्तितत्त्व के बारे में जो कुछ लिखा उसमें और काश्मीर-शैवदर्शन में वर्णित शक्तितत्त्व में विचित्र मेल दिखलाई पड़ता है। पंडित स्च्ह्राडर समझते हैं कि प्राचीन पाञ्चरात्र-संहितायें अधिकांश में काश्मीर में लिखी गई थीं, कम से कम अहिर्बुध्न्य-संहिता काश्मीर में लिखी गई थी। स्च्ह्राडर का यह मत सोलहो आने ग्रहणयोग्य हो चाहे न हो, शक्तिवाद की दृष्टि से पाञ्चरात्र और काश्मीर-शैवदर्शन में संबंध अत्यन्त घनिष्ठ है इसमें कोई संदेह नहीं। काश्मीर-शैवदर्शन के एक आचार्य उत्पल-वैष्णव ने बहुतेरे प्रसंगों में इस पाञ्चरात्र मत का उल्लेख किया है। यों प्रसिद्ध संहितोक्त पाञ्चरात्र मत काश्मीर-शैवदर्शन (कम से कम काश्मीर-शैव धर्म के प्रचलित प्रधान-प्रधान ग्रंथों में प्रतिष्ठित शैवदर्शन) से प्राचीनतर है इसमें संदेह नहीं।[1] लेकिन नवीं और दसवीं शताब्दी में विवेचित और प्रतिष्ठित काश्मीर-शैव धर्म का मूल कई प्राचीनतर (?) तंत्र-ग्रंथों में है। यों हम देख रहे हैं कि, पाञ्चरात्र का शक्तितत्त्व और काश्मीर-शैवधर्म का शक्तितत्त्व एक ही धारा में आवर्तित हुए हैं।

बड़े प्रासंगिक रूप से हम एक साधारण तत्त्व को देख रहे हैं; वह यह है कि भारतीय शक्तिवाद नामक जिस मत को हम ग्रहण करते हैं वह मूलतः या प्रधानतः कई शैव या शक्तितत्त्वों का अवलम्बन करके बना

(१) साधारण तौर से अहिर्बुध्न्य, जयाख्य, परमानन्द, विष्वक्सेन आदि संहिताओं के रचनाकाल की अंतिम सीमा आठवीं शताब्दी मानी जाती है; काश्मीर-शैवदर्शन के प्रथम आचार्य श्रीकंठ को नवीं शताब्दी के प्रारंभ का माना जाता है। देखिए—जगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय से रचित किताब Kashmir Shaivism।

है। हमारा यह साधारण संस्कार ठीक नहीं है। तंत्र-शास्त्र का उद्भव और प्रसार मुख्यतः काश्मीर और बंगाल में दिखाई पड़ता है। बंगाल में जो तंत्र प्रचलित हैं उनमें से किसी भी तंत्र का रचना काल नहीं बताया जा सकता है। लेकिन यह कहना शायद असंगत नहीं होगा कि इसमें से कोई भी तंत्र दसवीं शताब्दी के पहले का नहीं है। नवीं-दसवीं शताब्दी में प्रचारित काश्मीर-शैवदर्शन के अन्दर कई प्राचीन तंत्रों का उल्लेख मिलता है।[१] ये तंत्र दसवीं या नवीं शताब्दी से प्राचीनतर हैं इतना ही कहा जा सकता है, लेकिन पाञ्चरात्र की प्रसिद्ध संहिताओं से प्राचीनतर नहीं हो सकते। इन तथ्यों पर विचार करने पर हमें लगता है कि एक दार्शनिक मत के रूप में भारतीय शक्तिवाद का जो विकाश हुआ है, कोई विशेष धर्म या कोई विशेष शास्त्र उसका वाहन नहीं था; इस शक्तिवाद का विकाश जैसे शैवधर्म या शैवशास्त्र का अवलम्बन करके हुआ है वैसे ही शाक्तधर्म या शाक्तशास्त्र का अवलंबन करके हुआ है, और शुरू से ही वैष्णवधर्म या वैष्णव शास्त्र का अवलम्बन करके भी हुआ है। अतएव शाक्त-शैवधर्म के प्रभाव से ही यह शक्तिवाद वैष्णव धर्म में गृहीत हुआ है यह धारणा बहुत कुछ निराधार मालूम होती है। हम देखते हैं कि एक भारतीय विश्वास एवं चिन्ता की धारा प्रायः एक ही प्रकार से सभी धर्मों के अन्दर से प्रवाहित होती आ रही है। जहाँ इस शक्ति ने ही प्राधान्य पाया है वहाँ शाक्तधर्म या शाक्तशास्त्र का उद्भव हुआ है, जहाँ शक्तिमान् शिव या विष्णु को प्रधानता मिली है वहाँ शैव या वैष्णव मत का प्रचार हुआ है। ऊपर हम लोगों ने पाञ्चरात्र में विवेचित शक्तिवाद का जो संक्षिप्त विवरण दिया है उसका विश्लेषण करने पर दिखाई पड़ेगा कि परवर्त्ती (अथवा समसामयिक) शैव-शाक्त तंत्रादि में शक्तितत्त्व के संबंध में जो कुछ कहा गया है एक प्रकार से उसकी सारी बातें अथवा उनका आभास पाञ्चरात्र मत के अन्दर मिलता है। इसे मैं पाञ्चरात्र पर किसी प्रकार का शैव-शाक्त प्रभाव न कहकर एक स्वतंत्र विकाश मानता हूँ।

---

(१) जैसे, मालिनी-विजय (या मालिनी-विजयोत्तर), स्वच्छन्द, विज्ञानभैरव, उच्छुष्मभैरव, आनन्दभैरव, मृगेन्द्र, मतंग, नेत्र, रुद्र-यामल आदि। बौद्धतंत्र और उसकी टीकाओं में भी उपर्युक्त तंत्रों में से कई तंत्रों का उल्लेख मिलता है।

काश्मीर-शैवदर्शन के मतानुसार परमशिव ही परमतत्त्व हैं। यह परमशिव परम आत्म-समाहित हैं, यह परम-आत्म-समाहित रूप ही उनका निर्गुण, निराकार, निष्क्रिय, निष्कल रूप है, यह परमशिव परम-अद्वय तत्त्व है, एक यामल तत्त्व है। उनके इस आत्म-संहृत अद्वय रूप के अन्दर निःशेष लीन हुई हैं पराशक्ति, जो अनन्त संभावना के तौर पर भाविचराचरबीज के तौर पर शिव से एक होकर अवस्थान कर रही हैं। इसलिये परम शिव शिव-शक्ति का मिलन या संघट्ट हैं;[१] यह संघट्ट या यामल 'शक्ति-शक्तिमत्-सामरस्यात्मा'[२] हैं। ये परम शिव जिस प्रकार नित्य हैं, मूलकारण-रूपिणी शक्ति भी इस परम शिव से अबिनाभाव से युक्त होने के कारण वह भी नित्या है।[३] शिवसूत्रवार्त्तिक (भास्कर-कृत वार्त्तिक) में इस शक्ति के बारे में कहा गया है—

स्वपदशक्तिः ॥ १।१७

इसके बयान में कहा गया है—"स्वपद सत्पद है, यही शिवाख्य तत्त्व है; इस शिवाख्य का दृक्क्रियारूप जो वीर्य है वही शक्ति के नाम से प्रकीर्तित होता है।"[४] शक्तितत्त्व का प्रथम उन्मेष हुआ परम शिव की पूर्णाहन्ता अवस्था में; यही उनका स्पन्द रूप है। चित् रूप शिव में आत्म-दृष्टि-इच्छा का जो प्रथम उन्मेष होता है वही उनकी स्पन्दरूप पूर्णाहन्ता अवस्था है। इस अवस्था को उनकी 'चिदाह्लादमात्रानुभवतल्लय' अवस्था कहा गया है; उस अवस्था में किसी भी तदतिरिक्त कारण का अवलम्बन करके उनमें आनन्दानुभूति नहीं है, केवल अपने चित्-स्वरूप में जो आह्लाद-स्वरूपता वर्तमान है उसी के आस्वाद में वे आत्ममग्न हैं। इसी आत्म-वेक्षण अवस्था से ही उनके अन्दर तावत् इच्छा-ज्ञान और क्रिया जाग्रत

---

(१) **तयोर्यद् यामलं रूपं स संघट्ट इति स्मृतः।**

तन्त्रालोक, अभिनवगुप्त-कृत, ३।६७

(काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थमाला)

(२) **तन्त्रालोक से १।१ श्लोक की जयरथ-कृत टीका।**

(३) **शिवशक्त्यविनाभावान्नित्यैका मूलकारणम् ॥ तन्त्रालोक, ६।१५२**

तन्त्रालोक, ६।१५२

(४) **स्वपदं सत्पदं ज्ञेयं शिवाख्यं यदुदीरितम्।**

तद्वीर्यं दृक्क्रिया-रूपं यत् सा शक्तिः प्रकीर्तिता।

(का०—सं०—ग्र०, ५ उ ६ संख्या)

होती है; इस स्वरूप का इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक जो स्पन्दन है वही उनकी शक्ति है। यह जो शक्ति-त्रितय है इस पूर्णाहन्ता में सुसूक्ष्म अवस्था में पूर्ण सामरस्य में वर्तमान रहती है; लेकिन तब तक वह परशिव निर्विभाग और 'चिद्रूपाह्लादपरम'[१] रहते हैं। यह पूर्णाहन्तारूप निवृत्तचित्तावस्था में भी—जिस अवस्था में उनके अन्दर कोई भाग-विभाग कुछ भी नहीं रहता है तब भी—यह इच्छा-ज्ञान-क्रिया-रूपा त्रितयात्मा शक्ति से उनका कोई वियोग नहीं होता।[२] इस पूर्णाहन्ता के 'चिद्धर्मविभवामोदजृम्भण' के द्वारा ही शक्ति का जागरण होता है।[३] शिव शक्तिमान् हैं, वह इच्छा मात्र से सब कुछ कर सकते हैं, उनकी दृष्टिमात्र से विश्व-ब्रह्मांड की सृष्टि होती है; यह अपनी इच्छा मात्रता ही उनकी शक्ति है। अतएव शिव कभी भी शक्ति-रहित नहीं हैं, शक्ति भी कभी व्यतिरेकिणी नहीं है, जो सच्चे शैव हैं वे शक्ति-शक्तिमान् का भेद कभी भी नहीं करते, शक्ति-शून्य का केवल-रूप भी वे स्वीकार नहीं करते।[४] पाञ्चरात्र में जैसी शक्ति-शक्तिमान् के धर्मधर्मित्व-संबंध का वर्णन मिला है, यहाँ भी सर्वत्र वही वर्णन मिलता है। कहा गया है, आग और उसकी दाहिका-शक्ति जैसे अलग नहीं है, शिव और शक्ति भी उसी तरह कभी अलग नहीं हो सकते।[५] नेत्र-तंत्र में कहा गया है—"वह जो शक्ति है

(१) स यदास्ते चिदाह्लादमात्रानुभवतल्लयः।
तदिच्छा तावती तावज् ज्ञानं तावत्-क्रिया हि सा॥
सुसूक्ष्म-शक्तित्रितयसामरस्येन वर्तते।
चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा॥ शिवदृष्टि, सोमानन्द-कृत। काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थमाला, ५४ संख्या।१।३—४

(२) एवं न जातु चित्तस्य वियोगस्त्रितयात्मना॥
शक्त्या निवृत्तचित्तस्य तद्भागविभागयोः। वही—१।६—७

(३) वही—१।७

(४) न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतो भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते॥ वही—३।२—३
न कदाचन तस्यास्ति कैवल्यं शक्तिशून्यकम्। वही—३।६०

(५) एवंविधा भैरवस्य यावस्था परिगीयते।
सा परा पररूपेण परा देवी प्रकीर्तिता॥
शक्तिशक्तिमतो यद्वद् अभेदः सर्वदा स्थितः।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् परा शक्तिः परात्मनः॥
न वह्नेर्दाहिका शक्ति र्व्यतिरिक्ता विभाव्यते।
केवलं ज्ञान-सत्तायां प्रारम्भोऽयं प्रवेशने।
शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना।
तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवी मुखमिहोच्यते॥ विज्ञानभैरव, १७।२०
(का०सं०ग्र०)

वह मेरी ही इच्छा-रूपा पराशक्ति है, वह मेरी शक्ति से ही शक्तियुक्ता है, मेरे स्वभाव या स्वरूप से ही जात है; आग की गर्मी की तरह, सूरज की किरणों की तरह, मेरी ही कारणात्मिका जो शक्ति है वही सारे संसार की शक्ति है।"[१] श्री मृगेन्द्रतंत्र में कहा गया है कि यह शक्ति ही शिव के सारे देहकृत्य करती है; अतनु चिदेकमात्र शिव का कोई देह नहीं है, इसलिये शक्ति ही मानो शिव का देह कहा गया है;[२] अर्थात् शक्ति द्वारा विश्वब्रह्मांड की जो कुछ क्रिया है वही करते हैं।

शक्ति और शक्तिमान् में जो भेद-कल्पना है, वह एक भेद का भान मात्र है। शक्ति की जो अलग सत्ता है वह परमपुरुष का अवभासन मात्र है, तथापि वह कुछ भी नहीं है ऐसी बात नहीं, प्रतीति के रूप में ही वह वास्तव है।[३] शिवसूत्रवार्तिक के विवरण में कहा गया है कि, शक्तिमान् परम शिव की जो शक्तियाँ हैं वे उनके अपने आप की ही चित्-परिणाम हैं; उस चित्-परिणाम के ही जो नये-नये उल्लास-स्पन्दन हैं वही विश्व है; जो शक्त्यात्मक विभु हैं वही जगत्-रूप में प्रस्फुरित हो रहे हैं, अपने को आप ही प्रस्फुरित कर रहे हैं।[४] अभिनवगुप्त ने कहा है, परमेश्वर की पराशक्ति क्या है? जिसके द्वारा वे अपने अविकल्प संविन्मात्र रूप में अवस्थान करके 'शिवादिधरण्यन्त' सब कुछ का भरण करते हैं, देखते हैं, प्रकाशित करते हैं वही उनकी परा शक्ति है।[५]

---

(१) नेत्रतंत्र, १।२५–२६ (का०–सं०–ग्र० ४६)

(२) १।३।१४ (का०–सं०–ग्र०, ५०)। श्रीमृगेन्द्रतंत्र को 'कामिकतंत्र' का ही संक्षिप्त संस्करण कहा जाता है।

(३) भानमन्तरेण अन्यत् किंचिन्नास्ति, इत्यसौ भेदोऽपि भासमानत्वाद्वस्तुतो न न किंचित्। ध्वन्यालोक की जयरथ-कृत टीका, पृ० ११०-११

तुलनीय—स्वाभासा मातृका ज्ञेया क्रियाशक्तिः प्रभोः परा।
शिवसूत्रवार्तिक की २।७–विवृति।

(४) एवं शक्तिमतश्चास्य शक्तयः स्वाच्चिदादयः।
तासां नवनवोल्लासस्पन्दा ये प्रचयाः स्मृताः॥
त एव विश्वं विज्ञेयं यतः शक्त्यात्मना विभुः।
जगद्रूपः प्रस्फुरति स्फुरन्नेवात्मना सदा॥ वही; ३।३० विवृति।

(५) ययेदं शिवादिधरण्यन्तमविकल्प-संविन्मात्ररूपतया विभर्ति च पश्यति च भासयति च परमेश्वरः सास्य पराशक्तिः।
परात्रिंशिका में (का०–सं०-ग्र० १८)
अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत।

काश्मीर-शैवदर्शन में विवेचित शक्तितत्त्व के संबंध में एक चीज विशेष रूप से लक्षणीय है। हमारे पाञ्चरात्र शक्तिवाद के विवेचन के प्रसंग में देखा है कि शक्ति द्वारा जो विश्वसृष्टि हुई है उसका मूल प्रयोजन परमपुरुष की आत्मोपलब्धि है, शक्ति को स्वेच्छा से थोड़ा सा मानो अलग करके उसके अन्दर से परमपुरुष अपने को ही अनन्त रूप में सृष्ट करते हैं, अपने को इस अनन्त रूप में सृष्टि के अन्दर से ही वे अनन्त भाव से आत्मोपलब्धि करते हैं। यह सत्य काश्मीर-शैवदर्शन में बहुतेरे स्थलों में आभासित हो उठा है। सृष्टि-स्थिति-उपसंहार-रूपा इस शक्ति को 'तद्भरणे रता'[१] कहा गया है। 'तत्-भरण' शब्द का यहाँ तात्पर्य है परम शिव का मनोरञ्जन या तृप्ति-विधान। यह देवी परम शिव की 'इच्छानुविधायिनी' हैं, इसलिये इनके पति इनकी कामना किया करते हैं।[२] अपने भोक्तृत्व रूप का अनुभव करने के लिये ही परमेश्वर इस शक्तिरूपिणी मूल-प्रकृति को बार-बार क्षोभित करके उसे सृष्टि की उन्मुखिनी किया करते हैं।[३] परमपुरुष का यह भोक्तृत्व कैसा है? गहरी निद्रा में अभिभूत कोई व्यक्ति अपनी सुन्दरी प्रियतमा द्वारा आलिंगित होने पर, उस गहरी निन्द्रा में ही अपने स्तिमित चैतन्य में वह जिस प्रकार अपना एक 'भोक्तृत्व' अनुभव करता है, इस महाशक्ति द्वारा आलिंगित परम शिव का भोक्तृत्व-बोध भी वैसा ही है।[४] अपने को आप ही इस तरह बहुत प्रकार से भोज्य के तौर पर भाग करके, पृथग्विध पदार्थ के रूप में बहुधा सृष्टि करके सर्वेश्वर और सर्वमय परमेश्वर जो अपने आप को भोग करते हैं यह भोक्तृत्व मानो लीलामय का एक स्वप्न में भोग मात्र है।[५] अपने को ही वे ज्ञेयी और ज्ञेय रूप में अलग कर लेते हैं; यह ज्ञेय सर्वदा ही ज्ञेयी का उन्मुख है, इसीलिये ज्ञेय कभी भी ज्ञेयी की स्वतन्त्रता का खंडन नहीं करता। प्रभु, ईश्वर आदि संकल्प के द्वारा ही वे अपने को अपने आप ही निर्माण करते हैं, यह निर्माण केवल

---

(१) देखिए तन्त्रालोक के २।२ श्लोक की जयरथ से टीका।

(२) कामयते पतिरेनामिच्छानुविधायिनीं यदा देवीम्। तन्त्रालोक ८।३०६

(३) भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृतिं क्षोभयेद् भृशम्। वही, ६।२२५

(४) गाढ़निद्राविमूढ़ो ऽपि कान्तालिंगितविग्रहः।
भोक्तैव भण्यते सो ऽपि मन्नुते भोक्तृतां पुरा। वही, २०।२४५

(५) प्रविभज्यात्मनात्मानं सृष्ट्वा भावान् पृथग्विधान्।
सर्वेश्वरः सर्वमयः स्वप्ने भोक्ता प्रव`ते॥

ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा के ३।२।२ श्लोक की अभिनवगुप्त से कृत टीका में उद्धृत है।

मात्र उन्हीं के व्यवहार के लिये है।[१] इस ज्ञेयरूप में 'इसका' भाव में (इदन्तया) जो कुछ प्रकट होता है, नाना रूपों के द्वारा अविच्छिन्न घटादि के रूप में जो कुछ प्रकट होता है वह परमेश्वर की शक्ति का ही 'भास' है, और कुछ भी नहीं।[२] विज्ञानभैरव में कहा गया है कि आलोक से जिस तरह दीपक की पहिचान होती है, किरण से जैसे सूर्य की पहिचान होती है, इसी तरह शक्ति के द्वारा ही शिव का सब कुछ प्रकट होता है।[३]

अभिनव गुप्त ने कहा है कि विश्व-ब्रह्माण्ड के इस अवभास या प्रतिफलन के लिये एक साफ आइना चाहिये; वह साफ आइना है परमेश्वर का 'स्व-संवित्'। यह स्व-संवित् ही जब सपने में मानो एक प्रमातृत्व ग्रहण करता है तब वह प्रमातृ-रूप स्व-संवित् साफ आइने में विश्व-ब्रह्माण्ड का प्रतिफलन होता है। शक्ति-द्वारा सृष्ट यह विश्व-ब्रह्माण्ड इसलिये परमेश्वर के अपने विभक्त संवित् के अन्दर अपना ही एक प्रतिफलन मात्र है; अर्थात् अपनी चेतना के अन्दर अपने को ही दृश्य रूप में देखना[४]। शक्ति-के द्वार पर अपने ही अन्दर जब तक अपना प्रतिफलन नहीं होता तब तक अपने को आप नहीं दिखाई पड़ता; इसलिये शक्ति के तौर पर एक द्रष्टा अपने को दृश्य बना देता है। एक स्थल पर कहा गया है कि इस विश्व भैरव का (परम शिव का) चिद्रूप स्वच्छ अम्बर में प्रतिबिम्ब मल-स्वरूप है; अपने चिदम्बर में यह जो ज्ञेय रूप प्रतिबिम्ब-मल है वह भैरव के अपने ही प्रसाद से सम्भव होता है; दूसरे किसी के प्रसाद से नहीं[५]।

शक्ति के द्वार पर परम शिव अपने को आप ही देखते हैं, इसलिये 'काम-कला-विलास' में इस शक्ति को ही शिव का निर्मल आदर्श कहा गया है।

---

(१) ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, उत्पलदेव प्रणीत (का०-सं०-ग्र०, २२) १।५।१५-१६

(२) वही १।५।२०

(३) यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये ॥२१॥

(४) शिवश्चालुप्तविभव स्तथा सृष्टोऽवभासते।
स्वसंविन्मातृमुकुरे स्वातन्त्र्याद्भावनादिषु ॥ तन्त्रालोक ।१।७३

(५) इत्थं विश्वमिदं नाथे भैरवीयचिदम्बरे।
प्रतिबिम्बमलं स्वच्छे न खल्वन्यप्रसादतः ॥ ३।६५
तुलनीय—विमल मकुर सामाग्रो यत्याभयन कमाकम सेय।
महानयप्रकाश, राजानक क्षितिकंठ प्रणीत (का०-सं०-ग्र०, २१), ११।५

सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूपविमर्शनिर्मलादर्शः ॥ २ ॥

यहाँ 'निजसुखमय' शब्द का तात्पर्य शिवसुखमय है; अर्थात् शिव की सुखरूपिणी। यह शक्ति भाविचराचरबीजरूपिणी होने के कारण शिवरूपविमर्शनिर्मलादर्श है। 'शिवरूपविमर्श' शब्द का अर्थ शिव का 'मैं ऐसा हूँ' इस प्रकार का जो ज्ञान है उसी का विमर्श या स्फुरण है। इस विमर्श की साधकतमा या करणरूपा ही शक्ति है, अतएव यह शक्ति ही शिव-रूप का निर्मल आदर्श है; इसी आदर्श के अन्दर से ही वे सदा स्वयं अपना रूप देखते हैं। अन्यत्र कहा गया है कि परशिव रवि-स्वरूप हैं, शक्ति उनकी करनिकर-स्वरूपा हैं; इस शक्तिरूपा विशद-विमर्श-दर्पण में प्रतिफलित होती हैं परमाक्षर परमाव्यक्त महाविन्दु; अथवा यह महाविन्दु अधिष्ठान करती हैं प्रति सौन्दर्य द्वारा सुन्दर हो उठा है शिव का ऐसा चित्तमय शक्तिरूप दीवार पर[1]। शिव की सारी इच्छा या काम को पूर्ण करती हैं इसलिये शक्ति को विमर्शरूपिणी कामेश्वरी[2] कहा गया है। यह परमशिव और उनकी शक्ति ब्रह्माण्ड गर्भिणी परमेश्वरी मानो हंस-हंसी की भाँति नित्य लीलारत हैं।[3]

परमशिव का जो कुछ प्रमातृत्व ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व है वह सब कुछ शक्ति का अवलम्बन करके ही है; इसलिये यह शक्ति केवल मात्र ज्ञानरूपिणी या क्रियारूपिणी नहीं है; शक्ति आनन्दरूपिणी है, यह शक्ति ही आनन्द शक्ति है[4]। वह कारणात्मिका होकर ही अद्भुतानन्दा के तौर पर चिद्रूपात्मक शिव की अश्रिता होती है[5]। यह आनन्द ही सभी सृष्टियों का मूल है; नारी-पुरुष के मिलन को हम जो कुछ सृष्टि देखते

---

(१) **परशिवरविकरनिकरे प्रतिफलति विमर्शदर्पणे विशदे।**
प्रतिरुचिरुचिरे कुड्ये चित्तमये निविशते महाविन्दुः ॥
कामकलाविलास, ४

(२) वही, ५१

(३) **ब्रह्माण्डगर्भिणीं व्योमव्यापिनः सर्वतोगतेः।**
परमेश्वरहंसस्य शक्तिं हंसीमिव स्तुमः ॥
स्तवचिन्तामणि, श्रीभट्टनारायण-विरचित।
(का०—सं०—ग्र० १०)

(४) **आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते ॥**
तन्त्रालोक, ३।६७

(५) नेत्रतन्त्र (का०—सं०—ग्र०, ४६), ८।३४–३५

हैं, वहाँ यह मिलन एक बाहरी प्रक्रिया मात्र है। वास्तव में आनन्द शक्ति ही उद्वेलित होकर अपने को आप ही सृष्टि करती है[१]। यहाँ आनन्द है निमित्त-कारण और आनन्द ही उपादान कारण है। विश्व-सृष्टि के महानन्दमय यज्ञ के अन्दर ही जो अनुचरण करता है, जो अवस्थान करता है वही आनन्दमयी शक्ति में समाविष्ट परम होकर भैरव को प्राप्त होता है[२]। जागतिक पदार्थ के तौर पर जो कुछ प्रतिभात होता है वह अब कुछ उसी आनन्दशक्ति का आनन्द-रस-विभ्रम मात्र है; जिस वस्तु का अवलम्बन करके हमारे मित्र को आनन्द मिलता है वह वस्तु भी आनन्द-रस-विभ्रम है; और हृदय की जो आनन्द-अनुभूति है वह भी मूलतः वही आनन्दशक्ति है[३]; आनन्द यहाँ व्याप्य-व्यापक के रूप में ब्रह्माण्ड को व्याप्त किये हुए है।

परमशिव की पराशक्ति ही आनन्दमयी है; मायाशक्ति या प्राकृत शक्ति आनन्दमयी नहीं है। आनन्दशक्ति परमशिव की स्वरूप-शक्ति है, इसलिये आनन्दरूपिणी अमृतमयी इस पराशक्ति को शक्ति-चक्र की जननी कहा गया है[४]। जो शक्ति आनन्दमयी हैं वे माया के ऊपर महा-माया हैं[५]। इस आनन्द-शक्ति को ही 'वैन्दवी कला'[६] कहा जाता है; अर्थात् शक्ति के सोलह कला के ऊपर यही सप्तदशी कला है।

परम शिव की यह जो आनन्दरूपिणी स्वरूप-शक्ति है—जो परम शिव के साथ सर्वदा अबिनाबद्धभाव से अवस्थान करती है उसी को 'समवायिनी' शक्ति कहा गया है। इस शक्ति का सारा अस्तित्व और

---

(१) आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना।
विज्ञानभैरव के ६१ नं० श्लोक की क्षेमराजकृत टीका से उद्धृत।

(२) विज्ञानभैरव, १५५

(३) तंत्रालोक, ३।२०९–१०

(४) या सा शक्तिः परा सूक्ष्मा व्यापिनी निर्मला शिवा।
शक्तिचक्रस्य जननी परानन्दामृतात्मिका ॥
शिवसूत्र-वार्तिक (का०-सं०-ग्र० ४३)

(५) मायोपरि महामाया त्रिकोणानन्दरूपिणी। कुब्जिकातन्त्र, परात्रिंशिका में उद्धृत, १८४ पृष्ठ

(६) तन्त्रालोक, १।१ श्लोक की जयरथ कर्तृक टीका देखिये।

तात्पर्य केवलमात्र सृष्टिकाम परमेश्वर की इच्छा से है[१]। इसी समवायिनी शक्ति से ही परमेश्वर का साक्षात् सम्बन्ध है; इसीलिए इसी शक्ति के प्रति वे अनुग्रह करते हैं[२]। मायाशक्ति या प्राकृतशक्ति इसी समवायिनी शक्ति से उत्पन्न होती है; अतएव परमेश्वर से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं है। माया या प्राकृत-शक्ति समवायिनी शक्ति से ही उत्पन्न होने के कारण समवायिनी शक्ति को सभी शक्तियों की शक्ति और सभी गुणों का गुण कहा जाता है[३]। यह समवायिनी शक्ति 'माया' के ऊपर पर महामाया है[४]। ऊपर पाञ्चरात्र के विवेचन के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि, वहीं शक्ति के दोहरे पक्ष को स्वीकार किया गया है। वहाँ भी भगवान् विष्णु की स्वरूप-शक्ति को उनकी समवायिनी शक्ति कहा गया है, और विष्णु की जगत्-प्रपंचकारिणी शक्ति को उनकी माया-शक्ति कहा गया है, यही परिणामिनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। स्वरूपभूता समवायिनी शक्ति कभी भी परम शिव के स्वरूप को आच्छादित नहीं करती है, लेकिन जिस माया से यह ब्रह्माण्ड-व्यापार साधित होता है वह मायाशक्ति मानो अनावृत-स्वरूप विभु का ही एक आत्माच्छादन है[५]। विभु की इस मायाशक्ति के द्वारा ही विभु की समवायिनी स्वरूपभूता विमर्श-शक्ति ज्ञान, संकल्प, अध्यवसाय आदि नामों से भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतीत होती है[६]। यह माया विभु के निज अंशजात अखिल जीव के अन्दर ही एक भेदबुद्धि है; यह उनका नित्य और निरंकुश अर्थात् अप्रतिहत विभव है[७]—जैसे कि जगह जगह इस समवायिनी शक्ति और परिग्रहा

---

(१) या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ।।
मालिनीविजयोत्तर-तन्त्र, (का०—सं०—ग्र० ३७) ३।५
तुलनीय—इच्छा सैव स्वच्छा संततसमवायिनी सती शक्तिः।
षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह, (का०—सं०—ग्र० १३) द्वितीय श्लोक।

(२) तां शक्तिं समवायाख्यां भेदाभेदप्रदर्शिनीम्।
अनुगृह्णाति संबन्ध इति पूर्वेभ्य आगमः।
ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा के २।३।६ श्लोक की अभिनवगुप्त कर्तृक टीका से उद्धृत

(३) शक्तीनामपि सा शक्तिर्गुणानामप्यसौ गुणः ।। वही

(४) पूर्वोक्त कुब्जिकातंत्र।

(५) तंत्रालोक, ४।११

(६) ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, १।५।१८

(७) षट्त्रिंशत्तत्त्व-संदोह, ५

शक्ति की एक ही शक्ति-समुद्र की भिन्न-भिन्न अवस्था के तौर पर व्याख्या की गई है। एक परा चिच्छक्ति है—वह 'महासत्तास्वभावा' और 'चिन्मात्र-शान्तस्वभावा' है; यह प्रशान्त समुद्ररूपी शक्ति का ही स्फीत भाव और अभाव इस उभय-व्यापिका के रूप में, सत् और असत् इन दोनों रूपों में, विश्वप्रपंच के कारण और अधिकरण दोनों रूपों में विराज करता है; यही शक्ति की दूसरी अवस्था है। तीसरी अवस्था में समुद्र के यह स्फीत भाव से ही मानो ऊर्मि के तौर पर चराचर की अन्तश्चारिणी परिग्रह-वर्तिनी शक्ति का आविर्भाव होता है, यही शक्ति विश्वमयी शक्ति है[१]। परम शिव का जो मायाच्छादित रूप है, 'पूर्णाहन्ता' के स्फुटास्फुट 'इदन्ता' के तौर पर जो अभिव्यक्ति योग्यता है इसी को लेकर सदाशिव-तत्त्व या ईश्वर-तत्त्व होता है[२]। शिवतत्त्व मायातीत है, और माया का स्वप्रकाश है शिव को अधोदेश में व्याप्ति[३]। यह जो ईश्वर रूपी सदाशिव हैं वे बाह्य उन्मेष-निमेषशाली हैं।[४] इस सदाशिवतत्त्व तक सब कुछ प्राकृत है, सदाशिव से ऊपर जो कुछ तत्त्व है वहाँ प्रकृति या माया को प्रवेश करने का कोई अधिकार नहीं है, वही अप्राकृत मायातीत धाम या तत्त्व है।

पाञ्चरात्र में शक्तितत्त्व का विवेचन करते समय हमने देखा है कि, वहाँ भी भगवान् की 'लीला' की कल्पना है; लेकिन वह लीला मायातीत या गुणातीत अवस्था में स्वरूप-शक्ति के साथ नहीं है; विश्वसृष्टि के अन्दर से यह जो आत्मप्रकाश होता है और महाप्रलय के अन्दर से

---

(१) महानय-प्रकाश के ५।२ श्लोक की विवृति, (का०–सं०–ग्र०, २१), ६२ पृष्ठ देखिये।

(२) तुलनीय—स्वातंत्र्यात्मिका तावदिच्छैव भगवतः शक्तिः। सा तु कृत्यभेदेन बहुधा उपचर्यते। तत्र यथाप्ररूढस्फुटास्फुटेदन्ता-प्रकाशने सदाशिवेश्वरता ज्ञानक्रियाशक्तिरूपा, चिन्मात्रग्राहकत्वेऽपि इदन्ताप्ररूढौ क्रियाशक्तिशेषरूपैव महामाया विद्येशशक्तिः, ग्राह्यग्राहकविपर्यासे पशुप्रमातृषु मायाशक्तिः। :—ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, ३।१।६ श्लोक की अभिनव-कृत विवृति।

(३) 'मायातीतं शिवतत्त्वं'।

'अधोव्याप्तिः शिवस्यैव स्वप्रकाशस्य सा'।

ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा के ३।१।१ श्लोक की टीका में उद्धृत।

(४) ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, ३।१।३

आत्म-संहरण होता है, इस सृजन-प्रलय में ही उसकी लीला है[१]। इसीलिए सारी सृष्टि उनका लीला-स्पन्दन है। स्वच्छन्द-तंत्र की क्षेमराज कृत टीका के अनुबंध में प्रणाम-श्लोक में शिव को कहा गया है 'प्रसरच्छक्ति-कल्लोलजगल्लहरिकेलये'; धारामयी शक्ति के कल्लोल के अन्दर से ही यह जगत्‌रूपी लहरी जगी है; इस शक्ति-कल्लोल के अन्दर बैठ कर जगत्-लहरी को लेकर ही परमेश्वर केलि या लीला करते हैं।

---

(१) यत् सदाशिवपर्यंतं पार्थिवाद्यं च सुव्रते।
तत्सर्वं प्राकृतं ज्ञेयं विनाशोत्पत्तिसंयुतम्॥
स्वच्छन्दतंत्र, (का०-सं०-ग्र०),
१०।१२।६४-६५

पंचम अध्याय

पुराणादि में व्याख्यात वैष्णवशक्तितत्त्व

इसके बाद और श्री-रुद्र-माध्व-सनकादि दार्शनिक संप्रदायों के मतों का विवेचन करने के पहले हम तंत्र-पुराण में विवेचित वैष्णव-शक्तिवाद का विवेचन कर लेना चाहते हैं। इस विवेचन के अन्दर भी शुद्ध ऐतिहासिक विवेचन संभव नहीं है। वैष्णव के तौर पर बहुत से पुराण, संहितायें, उपनिषद् और तन्त्र नाम के ग्रंथ हैं, इनका रचनाकाल निश्चित नहीं किया जा सकता है। इस विषय पर जो किञ्चित् वैज्ञानिक तरीकों से विवेचन किया है उनमें कोई सामान्य एकता नहीं दिखाई पड़ती है। विल्सन आदि पंडितों ने किसी भी पुराण को ईसा के आठवीं शताब्दी के पहिले का नहीं माना है, बल्कि उन्होंने अधिकांश पुराणों को दसवीं शताब्दी के बाद का माना है। कुछ पुराण-उपपुराण को वे तीन-चार सौ से अधिक पुराना नहीं मानते हैं। यह बात सत्य है कि पुराण-तंत्र नामक ग्रंथ आधुनिक काल में भी लिखे गये हैं। दूसरी ओर गिरीन्द्र शेखर वसु वगैरह पुराणों के रचना-काल के बारे में दूसरा ही मत रखते हैं। बहुत से वैष्णव और शैव (शाक्त भी हैं) और साधारण योग-उपनिषद् हैं जिन्हें पंडितगण अधिकांश में बाद की रचना मानते हैं। वैष्णव तंत्रों के बारे में भी यही बात लागू होती है। इस तरह के ग्रंथों के काल-निरूपण-रूपी घने जंगल में हम प्रवेश नहीं करना चाहते; इससे कोई फायदा होने के बजाय दूसरे प्रसंग में चले जाने की संभावना ही अधिक है। अपनी ओर से हम देख सकते हैं कि दार्शनिक वैष्णव-सम्प्रदाय के अन्दर प्राचीनतम श्रीसम्प्रदाय के प्रधान आचार्य रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में विष्णु, गरुड़, ब्रह्म वगैरह कई पुराणों से श्लोक ढूँढ़ निकाले हैं (अधिकांश में विष्णु-पुराण से), हमारा गौड़ीय वैष्णवधर्म तो एक प्रकार से पुराणों के प्रमाण पर ही प्रतिष्ठित है। रामानुजाचार्य का आविर्भाव-काल ग्यारहवीं शताब्दी है; अतएव विष्णु, गरुड़, ब्रह्म आदि पुराण इसके पहले ही शास्त्र के तौर पर प्रसिद्ध हो चुके थे। रामानुजाचार्य के

आविर्भाव के कम से कम तीन चार सौ वर्ष पहिले रचित न होने पर ये पुराण उनके समय प्रामाणिक शास्त्र के तौर पर प्रसिद्ध होते, ऐसा नहीं लगता है। अतएव रामानुजाचार्य द्वारा उद्धृत पुराण कम से कम सातवीं आठवीं शताब्दी के रचे मालूम होते हैं। हाँ, रामानुजाचार्य ने भागवत-पुराण का कहीं उल्लेख नहीं किया है, इसलिये कोई-कोई भागवत को रामानुजाचार्य के बाद का ग्रंथ मानते हैं; लेकिन यह भी हो सकता है कि भागवत द्वारा प्रचारित वैष्णव मत रामानुजाचार्य द्वारा प्रचारित वैष्णव मत का बिल्कुल परिपोषक नहीं होने के कारण शायद रामानुजाचार्य ने इसका उल्लेख नहीं किया है। पुराणों के काल के बारे में विचार करते हुए श्री बंकिमचंन्द्र[1] ने कहा है कि महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत काव्य में मयूरपुच्छशोभित गोपवेषधारी विष्णु का उल्लेख किया है[2]। पुराणादि के पहले गोपवेषधारी विष्णु की प्रसिद्धि नहीं थी, अतएव कालिदास को छठी शताब्दी का भी माना जाय तो छठी शताब्दी के पहले ही कुछ-कुछ वैष्णव पुराणों का प्रचलन और प्रसिद्धि थी, इस बात को मानना पड़ेगा।

इन पुराणादि शास्त्रों में वर्णित विष्णु-शक्ति के बारे में विवेचन के अन्दर हम दो धाराएँ देखते हैं; पहली है किंवदन्ती और उपाख्यान धारा, और दूसरी है तत्त्व-विश्वास की धारा। पहली धारा में हम देखते हैं कि विष्णु-शक्ति 'लक्ष्मी' या 'श्री' के संबंध में जो प्राचीन संक्षिप्त वर्णन या प्रसिद्धियाँ थीं, उसी को अनेक स्थलों पर कवि-कल्पना के द्वारा पल्लवित कर भिन्न-भिन्न उपाख्यानों की रचना हुई है। दूसरी धारा को हम किसी विशुद्ध दार्शनिक तत्त्व की धारा नहीं कह सकते। उस में भी हम भिन्न-भिन्न प्रकार के तत्त्व और धर्मविश्वास के कितने ही जनप्रिय सम्मिश्रण देखते हैं। हम पहले किंवदन्ती और उपाख्यान की धारा का संक्षिप्त परिचय देंगे, फिर तत्त्व-विश्वास की धारा पर विचार करेंगे। इस प्रसंग में एक और बात का संक्षेप में उल्लेख करना चाहता हूँ, बाद में हम इस बात का तात्पर्य और भी कितने ही प्रसंगों में अधिक स्पष्ट और गहराई के साथ अनुभव करेंगे। बात यह है; हमारे अन्दर एक प्रचलित विश्वास है कि धर्मतत्त्व पहले शायद कुछ दार्शनिक तत्त्व के तौर पर ही अभिव्यक्त होता है; यह दार्शनिक तत्त्व जनता के धर्म-संस्कार और विश्वास आचार-विचार, प्रथा-पद्धति आदि से मिलकर नाना प्रकार की लौकिक कहावतों, किंवदन्तियों और कहानियों में पल्लवित होता रहता है। लेकिन धर्म

(१) **कृष्ण-चरित्र, बंकिमचन्द्र।**
(२) **पूर्वमेघ, श्लोक १५।**

के इतिहास में इसकी उल्टी बात ही शायद अधिक होती है। लौकिक संस्कार, आचार-विचार, प्रथा-पद्धति ही सामाजिक-जीवन में पहले प्रकट होती है; अध्यात्म-चिन्तनशील मनीषिगण इन लौकिक उपादानों को लेकर ही उनकी सहायता से तत्त्व का महल खड़ा करते हैं।

पुराण आदि शास्त्रों के अन्दर इस लौकिक उपादान की ही प्रधानता है। देश के विशाल जन-समाज के विश्वास, रुचि, ध्यान-मनन को यहाँ बहुधा अधिक परिमाण में प्रकट होने का सुअवसर मिला है; अतएव कहावतों, किंवदन्तियों-उपाख्यानों आदि को बिल्कुल छोड़कर इसके अन्दर से किसी विशुद्ध तत्त्व को छान निकालने की चेष्टा को व्यर्थ प्रयास ही कहना होगा।

दार्शनिक दृष्टि में लक्ष्मी विष्णु से अभिन्न हैं, वे शक्तिमान् विष्णु की ही शक्ति मात्र हैं; लेकिन लौकिक दृष्टि में विष्णु और लक्ष्मी पति-पत्नी मात्र हैं। इसीलिये शिव-शक्ति का दार्शनिक तत्त्व कुछ भी क्यों न हो, लौकिक विश्वास में वे साफ ही पति-पत्नी हैं। साधारण जनता अपने समाज-बोध द्वारा ही धर्म-बोध का निर्माण करती है। इस समाजबोध द्वारा ही सभी जगह शक्ति और शक्तिमान् की पति-पत्नी के रूप में कल्पना की जाती है। लेकिन देवताओं के संबंध में यह पति-पत्नी-रूपी समाज-बोध पहले का है, या शक्तिमान्-शक्ति का तत्त्व-बोध, इसे साफ-साफ नहीं बताया जा सकता। बहुधा दोनों बोध एक दूसरे के पूरक होते हैं; समाज-बोध भी अध्यात्म-तत्त्वबोध के द्वारा प्रभावित होता है, दूसरी ओर अध्यात्म-तत्त्वबोध भी समाज-बोध के द्वारा विचित्र ढंग से रूपायित होता है।

(क) पुराणादि में लक्ष्मीसम्बन्धी किंवदन्ती और उपाख्यान

पुराणों आदि में हम विष्णु के वर्णन में प्रायः सर्वत्र देखते हैं कि वे लक्ष्मीपति, श्रीपति, रमापति, कमलापति, श्रीनाथ, श्रीकान्त, लक्ष्मीकान्त आदि हैं। लक्ष्मी भी विष्णुप्रिया या हरिप्रिया, विष्णुवक्षोविलासिनी, वैष्णवी, नारायणी हैं। विष्णु 'लक्ष्मीमुखाम्बुजमधुव्रतदेवदेव'[१], 'लक्ष्मीमुख-पद्मभृंग',[२] 'लक्ष्मीविलासांग',[३] 'रमामानस-हंस',[४] हैं। पुराण आदि में लक्ष्मी

(१) पद्मपुराण (क्रियायोगसार), १।६८

(२) वही, ४।७५

(३) वही, भूमिखंड, १६।५४

(४) गोपालतापनी, ३६

के इस विष्णुपत्नीत्व की प्रगति के फलस्वरूप उन का विष्णु-शक्ति-रूपत्व मानों अनेक स्थानों पर ढक गया है। इसीलिए जगह-जगह हम देखते हैं कि विष्णु जितने भी श्रीपति या लक्ष्मीपति क्यों न हों, जगत्-सृष्टि आदि प्रकृति या माया शक्ति के द्वारा ही होते हैं और प्रकृति या माया-शक्ति से लक्ष्मीरूपा आदिविष्णुशक्ति का सर्वत्र सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है।

पुराणों में लक्ष्मी की उत्पत्ति के बारे में अनेक उपाख्यान प्रचलित हैं, उनमें दो उपाख्यान प्रधान लगते हैं; लगता है कि ये दोनों उपाख्यान ही पहले एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप से गढ़े गये थे; पुराणकारों ने सर्वत्र इन दोनों उपाख्यानों को जैसे तैसे एक कर दिया है। पहले उपाख्यान के अनुसार स्वायम्भुव मनु ने रुद्रजाता शतरूपा देवी से विवाह किया। इस देवी के गर्भ से मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र और प्रसूति तथा आकूति नाम की दो कन्याएँ पैदा हुईं। दक्ष ने प्रसूति से शादी की और प्रसूति से चौबीस कन्याएँ पैदा हुईं। इन चौबीस कन्याओं में—श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, पुष्टि, मेधा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि और कीर्ति इन तेरह दक्ष कन्याओं को धर्म ने पत्नी रूप में स्वीकार किया। ख्याति, सती, सम्भूति, स्मृति, प्रीति, क्षमा, सन्मति, अनसूया, अर्जा, स्वाहा, और स्वधा इन ग्यारह दक्ष-कन्याओं को भृगु, भव, मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु, अत्रि, वशिष्ठ, वह्नि और पितृगणों ने ब्याहा।[1] इस धर्म के औरस से लक्ष्मी (चला) के गर्भ में दर्प नामक पुत्र पैदा हुआ। विष्णुपुराण के बादवाले अध्याय में हम देखते हैं कि भृगु-पत्नी ख्याति के गर्भ में धाता-विधाता नाम के दो पुत्र और लक्ष्मी नामक कन्या पैदा हुई; इस भृगु-कन्या लक्ष्मी ने ही देवदेव नारायण को पति के रूप में वरण किया।[2] इस प्रकार दिखाई पड़ रहा है कि लक्ष्मी या तो प्रसूति के गर्भ से दक्ष-कन्या या ख्याति के गर्भ से भृगु-कन्या हैं। इन सारे वर्णनों से पुराणों में प्रश्न उठा है कि अति प्राचीन

---

(१) विष्णुपुराण, १।७।१४–२६, पद्मपुराण, सृष्टिखंड, ३।१८३ आदि; गरुड़पुराण, ५।२४–२६।

(२) विष्णुपुराण, १–८–१३; वायपुराण, २८–१–३; ब्रह्माण्डपुराण, २९–१–३; कूर्मपुराण पूर्वभाग, १३–१। वायुपुराण के मत से लक्ष्मी के गर्भ से बल व उत्साह नामक दो पुत्र पैदा हुये। जो स्वर्गचारी हैं और जो पुण्यकर्मा हैं और देवगण के विमान को ढोनेवाले हैं, वे सभी इस लक्ष्मी या श्री देवी के मानसपुत्र हैं।

काल से सुनायी पड़ता है कि लक्ष्मी समुद्रोद्भवा हैं, क्षीराब्धि से कमलासन पर उनका आविर्भाव हुआ है—तो फिर उनका देवकन्या या ऋषिकन्या होना कैसे सम्भव होता है ? इस प्रश्न को देखने से लगता है कि समुद्र-मंथन से क्षीराब्धि से कमलासना लक्ष्मी के आविर्भाव की किंवदन्ती ही प्राचीनतर है। परवर्ती काल में स्वायम्भुव मनु से मानव सृष्टि के प्रसंग में लक्ष्मी के सम्बन्ध में देव-ऋषि-घटित नया उपाख्यान गढ़ उठा है; बाद में दोनों उपाख्यानों को बड़े ढीले-ढाले ढंग से जोड़ दिया गया है।

लक्ष्मी के क्षीरार्णव से आविर्भाव के सम्बन्ध में पुराणों में जो वर्णन मिलते हैं वे एक प्रकार से इस तरह हैं। शंकरांश में उत्पन्न दुर्वासा मुनि ने एक विद्याधरी से सन्तानकपुष्प की दिव्य सुगन्धित माला माँग ली और देवराज इन्द्र को उपहार दिया। 'श्री' की निवासभूता वह माला इन्द्र द्वारा अवहेलित हुई, दुर्वासा ने इन्द्र को शाप दिया कि उनका (इन्द्र का) त्रैलोक्य 'प्रनष्टलक्ष्मीक' होगा। इस प्रकार दुर्वासा के शाप से तीनों लोक की 'श्री' या लक्ष्मी का विनाश या अन्तर्धान होने पर हतवीर्य हतश्री देवगण असुर द्वारा पराजित होकर स्वर्गभ्रष्ट हुए। पितामह ब्रह्मा को लेकर देवगण देवादिदेव विष्णु की शरण ली, विष्णु ने देवासुरों को समुद्र-मंथन का उपदेश दिया, उस समुद्र-मंथन के फलस्वरूप ही—

ततः स्फुरत्कान्तिमती विकासिकमले स्थिता ।
श्रीर्देवी पयसस्तस्मादुत्थिता भृतपंकजा ।।

(विष्णुपुराण, १।९।९९)

तब महर्षिगण ने श्रीसूक्त के द्वारा उनका स्तव किया, विश्वावसु प्रमुख गन्धर्वगण उनके सामने गाने लगे, घृताची आदि प्रमुख अप्सरागण नाचने लगे, गंगादि सरिताएँ देवी के स्नानार्थ आ पहुँची, दिग्गज गण ने हेमपात्र लेकर सर्वलोकमहेश्वरी उस देवी को स्नान करा दिया; क्षीरोदसागर ने खुद रूप धर कर अम्लानपंकजा माला दी और स्वयं विश्वकर्मा ने देवी के अंगों के भूषण बनाये। इस प्रकार स्नाता, भूषण-भूषिता और दिव्य-माल्याम्बरधरा हो कर उस देवी ने सब के सामने विष्णु के वक्षःस्थल पर आश्रय लिया।

समुद्र-मंथन से लक्ष्मी के आविर्भाव के वर्णन के बाद पुराणों में कहा गया है कि भृगुपत्नी ख्याति में उत्पन्न 'श्री' (अथवा मतान्तर में दक्ष कन्या श्री) देवदानवों के अमृतमंथन से फिर उत्पन्न हुई; अर्थात् लक्ष्मी का देवकन्यापन या ऋषिकन्यापन लक्ष्मी का पुनराविभाव है। इस प्रसंग

में विष्णुपुराण में कहा गया है कि जगत्स्वामी देवदेव जनार्दन जैसे बार-बार नाना प्रकार से अवतार लेते हैं, उनकी सहायिका श्री या लक्ष्मी देवी भी वैसा ही करती हैं। हरि जब आदित्य (वामन) हुए थे, लक्ष्मी तब फिर कमल से उत्पन्न हुई थीं; जब भार्गव राम हुए, तब यह धरणी बनी थी; राघव के लिये सीता; कृष्णजन्म में रुक्मिणी और दूसरे दूसरे अवतारों में भी ये विष्णु की सहायिनी रही हैं। ये देवत्व में देवदेहा और मनुष्यत्व में मानुषी बनकर विष्णु के देह के अनुरूप आत्मतनु ग्रहण करती हैं।[१]

नारदीय-पुराण, धर्मपुराण, और कूर्मपुराण में लक्ष्मी और सरस्वती शिव-दुर्गा की कन्या हैं। बंगाल में शरत्कालीन दुर्गा-पूजा के समय भगवती की जो प्रतिमा बनाई जाती है उसमें दुर्गा-मूर्ति के दाहिने और बाँएँ दुर्गा की दो कन्याओं तथा कार्तिक-गणेश, दो पुत्रों की मूर्तियाँ रहती हैं। ये दोनों कन्यायें जया-विजया नामसे परिचित हैं; लक्ष्मी-सरस्वती के रूप में भी परिचित हैं; देवी के दक्षिण की कन्यामूर्ति कमलवर्णा कमलासना और कमलहस्ता होती हैं; बाँएँ की मूर्ति श्वेतपद्मारूढ़ा या मरालवाहना और वीणाहस्ता होती है। बंगाल की लोकोक्तियों में लक्ष्मी कार्तिक की स्त्री हैं। कभी-कभी लक्ष्मी की गणेश की स्त्री के रूप में भी कल्पना की जाती है। इसका कारण शायद यह है कि दुर्गापूजा में देवी के शस्य-प्रतीक नवपत्र को बहुधा गणेश के बगल में ही स्थापित किया जाता है। सान्निध्य हेतु इस नवपत्र को गणेश की स्त्री समझने की गलती की जाती है। यह शस्यरूपी नवपत्रिका स्त्री कोजागर लक्ष्मी पूजा में लक्ष्मी प्रतीक के रूप में पूजी जाती है; शायद इसी प्रकार से लक्ष्मी फिर गणेश की पत्नी बनाई गई हैं। मार्कण्डेय-पुराण (अठारह और उन्नीस अध्याय) में लक्ष्मी दत्तात्रेय ऋषि की पत्नी हैं। असुरगण द्वारा लाञ्छित देवगण दत्तात्रेय की शरण में गये; दत्तात्रेय की पत्नी लक्ष्मी के रूप पर मुग्ध होकर देव-गण उन्हें हर कर सिर पर उठाकर ले गये; लक्ष्मी के इस प्रकार से मस्तक पर स्थापित होने के कारण देवताओं की विजय हुई।

प्रसंग-क्रम में हम देख सकते हैं कि लक्ष्मी की प्राचीन मूर्ति की कल्पना के अन्दर गजलक्ष्मी की प्रसिद्धि है। इस गजलक्ष्मी की कल्पना साधारणतः इस प्रकार है—समुद्र के अन्दर एक विकसित कमलपर लक्ष्मी

१. विष्णु-पुराण, १।६ अध्याय। दूसरों पुराणों में भी यही वर्णन मिलता है।

खड़ी हैं, उनके दोनों ओर से दो हाथी सूँड़ों से स्वर्ण-कुम्भ के जल से (अथवा केवल सूँड़ों के जल से) उन्हें नहला रहे हैं। हम लोगों ने श्रीसूक्त में ही देखा है कि, लक्ष्मी नाना प्रकार से कमल से सम्बन्धित हैं।[1] यह श्री या लक्ष्मी सृष्टिरूपिणी हैं; सभी देशों में पद्म सृजनी-शक्ति का प्रतीक माना जाता है, इसीलिये विष्णु के नाभि-कमल में प्रजापति ब्रह्मा के अवस्थान की कल्पना की गई है। इसलिये लक्ष्मी शुरू से ही पद्मा, पद्मासना, पद्मरूपा, या कमला, कमलासना, कमलालया हैं। इस कमल का उद्भव जल से होता है। क्या इसीलिये लक्ष्मी के समुद्र से उद्भव की कल्पना की गई है? हमने श्रीसूक्त में ही देखा है कि लक्ष्मी, पद्मा, पद्मवर्णा, पद्मस्थिता, और 'आर्द्रा' हैं। इस पद्म और सागर से लक्ष्मी के सम्बन्ध के कारण ही परवर्ती काल में राधा 'पदुमिनी' के पेट में 'सागर' के घर में (अर्थात् सागर के औरस और पदुमिनी के गर्भ में) पैदा हुई थी।[2] विष्णुपुराण में देखते हैं कि, समुद्रोद्भूता, पद्मासना, लक्ष्मी को दिग्गजगण आ कर हेमकुंभ से स्नान करा रहे हैं। क्या इसी प्रकार से समुद्र के अन्दर पद्मस्थिता लक्ष्मी के साथ दोनों ओर गज की कल्पना गढ़ उठी थी? हाँ, गजलक्ष्मी का एक और रूप मिलता है, वह और भी दुर्बोध्य है। इस प्रकार पद्म-स्थिता लक्ष्मी एक हाथ से एक हाथी को पकड़ कर ग्रास कर रही हैं, और फिर उसे वमन करके निकाल रही हैं।[3] यह कल्पना कैसे उत्पन्न हुई, इस बात को साफ-साफ न समझ पाने पर भी इसका प्राचीन आधार है इस बात का श्रीसूक्त के 'पुष्करिणी' शब्द की व्याख्या के प्रसंग में हमने उल्लेख किया है। किसी-किसी ने इस कल्पना के अन्दर बौद्ध उपाख्यान में बुद्धदेव के मातृगर्भ में आविर्भाव के पहले बुद्ध की माता मायादेवी का हाथी निगलने और वमन करने के सपने का प्रभाव देखा है। लेकिन इस प्रसंग में एक और पौराणिक तथ्य लक्षणीय है। पुराणों में

---

१. देखिये—तस्मिन् पद्मे भगवती साक्षात् श्रीर्नित्यमेव हि।
लक्ष्म्यास्तत्र सदा वासो मूर्तिमत्या न संशयः॥
ब्रह्माण्ड-पुराण ३६।८

२. श्रीकृष्णकीर्तन।

३. सोलहवीं शताब्दी के मंगलकाव्य के प्रसिद्ध कवि मुकुन्दराम ने अपने चण्डी-मंगल काव्य के धनपति के उपाख्यान में जिस कमलस्थकामिनी का वर्णन किया है, उसमें भी लक्ष्मी को इसी हस्तिग्रासकारिणी और हस्तिवमनकारिणी मूर्ति का परिचय मिलता है।

घटित और अघटित को समान बनानेवाली विष्णुविष्णुप्रभा के वर्णन में स्थान-स्थान पर कहा गया है कि यह देवी सदेवासुर-मनुष्य सारे संसार का ग्रास करती है और फिर सृजन करती है।[१] क्या यही लक्ष्मीदेवी के गज-भक्षण और गज-मोक्षण का तात्पर्य है? क्या हाथी जैसा विशाल पशु विराट् विश्व-ब्रह्माण्ड का ही प्रतीक मात्र है?[२] 'तन्त्रसार' आदि ग्रन्थों में हम लक्ष्मी का जो ध्यानमन्त्र पाते हैं, वहाँ लक्ष्मी के दोनों ओर हेमकुम्भधारी करिद्वय का उल्लेख देखते हैं।[३]

खिल-हरिवंश में देखते हैं कि श्री, धी, और सन्नति नित्य कृष्ण में विराजमान हैं।[४] विष्णु-पुराण में विष्णुशक्ति महामाया भूति, सन्नति, कीर्ति, क्षान्ति, द्यौ, पृथ्वी, धृति, लज्जा, पुष्टि, ऊषा, कही गई है।[५] दूसरे पुराणों में भी बहुतेरी प्रकार की शक्तियों का उल्लेख दिखायी पड़ता है। शक्ति के इस प्रकार के बहुतेरे उल्लेखों की बात हमने पंचरात्र ग्रन्थों में देखी है। तन्त्रसार में ईश्वरी, कमला, लक्ष्मी आदि लक्ष्मी के बारह नाम और स्कन्दपुराण में लक्ष्मी, पद्मालया, पद्मा, कमला, श्री, धृति, क्षमा आदि सत्तरह नामों का उल्लेख पाते हैं। विष्णु की श्री और भू इन दो शक्तियों या श्री, भू और लीला इन तीन शक्तियों का उल्लेख भी बहुत मिलता है। ब्रह्म-पुराण में लक्ष्मी और अलक्ष्मी में काफी कलह दिखाई पड़ता है। ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, स्कन्द आदि पुराणों में लक्ष्मी के प्रिय-अप्रिय व्यक्ति, कार्य और स्थान का विशद विवेचन है।

पहले ही कहा है कि पुराणों के अन्दर लक्ष्मी के कई वर्णन हैं जो साफ ही किसी तत्त्व पर आधारित नहीं हैं, उनमें लक्ष्मी के सम्बन्ध में

---

(१) अनयैव जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम्।
मोहयामि द्विजश्रेष्ठा ग्रसामि विसृजामि च॥
कूर्म-पुराण (पूर्व भाग) १।३५

(२) परवर्ती काल के कबीर आदि की प्रहेलिका-कविता में इस भाव का आभास मिलता है।

(३) कान्त्या काञ्चन-सन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै-
र्हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्। इत्यादि।
तुलनीय—माणिक्यप्रतिमप्रभां हिमनिभैस्तुंगैश्चतुर्भिर्गजै-
र्हस्तग्राहितरत्नकुम्भसलिलैरासिच्यमानां सदा। इत्यादि।

(४) १०१।७३ (बंगवासी) शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत।

(५) ५।१।८१

जनता में जो साधारण विश्वास है, उसी का पूर्ण ढंग से वर्णन किया गया है। ब्रह्म-वैवर्त पुराण में कहा गया है कि मूल प्रकृति के अन्दर जो द्वितीय शक्ति है, जो शुद्धसत्त्व-स्वरूपा है, वही परमात्मा विष्णु की लक्ष्मी हैं। वे सम्पत्ति-स्वरूप हैं, सारी सम्पदाओं की अधिष्ठात्री देवता हैं। वे मनोहारिणी, दान्ता, शान्ता, सुशीला, मंगलदायिनी, लोभ, मोह, काम, क्रोध, अहंकार आदि दोषों से रहित हैं। वे पतिभक्ता की अनुरक्ता, पतिव्रता, आदिभता, भगवद्-प्राणतुल्या, प्रेमपात्री और प्रियभाषिणी हैं। वे शस्य-स्वरूपा हैं, अतएव जीवन की जीवन-रूपिणी हैं, महालक्ष्मी हैं। वह बैकुण्ठ में विष्णु-सेवापरायणा, स्वर्ग में स्वर्गलक्ष्मी, राजभवन में राज्यलक्ष्मी, मर्त्य में गृहलक्ष्मी हैं। वे सभी प्राणियों और वस्तुओं की शोभास्वरूपा हैं,[१] नृपति की प्रभास्वरूपा, वणिक् की वाणिज्यस्वरूपा, चंचल की चंचला हैं।[२] विष्णु-पुराण के एक स्थल पर लक्ष्मी का वर्णन स्पष्ट तत्त्वमूलक न होने पर भी गंभीर भाव द्योतक है। वहाँ कहा गया है कि विष्णु की वह अनुगामिनी श्री जगन्माता और नित्या हैं; विष्णु जैसे सर्वगत हैं, ये भी उसी तरह हैं। विष्णु अर्थ हैं, ये वाणी हैं! हरि नय (उपदेश) हैं, ये नीति हैं। विष्णु बोध हैं, ये बुद्धि हैं। विष्णु धर्म हैं, ये सत्क्रिया हैं। विष्णु स्रष्टा हैं, ये सृष्टि हैं; श्री भूमि हैं, हरि भूधर हैं; भगवान् सन्तोष हैं, लक्ष्मी शाश्वती तुष्टि हैं। श्री इच्छा हैं, भगवान् काम हैं; विष्णु यज्ञ हैं, श्री दक्षिणा हैं; आद्य-आहूति ये देवी हैं, जनार्दन पुरोडाश हैं। लक्ष्मी पत्नीशाला हैं, मधुसूदन प्राग्वंश हैं; लक्ष्मी चिति हैं (ईंटों की बनी यज्ञ की वेदी), हरि यूप हैं; श्री इध्या हैं, भगवान् कुश हैं। भगवान् सामस्वरूपी हैं, कमलालया उद्गीति हैं; लक्ष्मी स्वाहा हैं, वासुदेव जगन्नाथ हुताशन हैं। भगवान् गौरिशंकर हैं, भूति गौरी हैं; केशव सूर्य हैं, कमलालया उनकी प्रभा हैं। विष्णु पितृगण हैं, पद्मा शाश्वत तुष्टिदा स्वधा हैं; श्री द्यौ हैं, और विष्णु अतिविस्तर अवकाश हैं। श्रीधर शशांक हैं, श्री उन्हीं की अनपायिनी कान्ति हैं। लक्ष्मी धृति जगच्चेष्टा हैं, हरि सर्वत्र जानेवाली वायु हैं। गोविन्द जलधि हैं, श्री उनकी तटभूमि हैं। लक्ष्मी इन्द्राणी हैं, मधुसूदन देवेन्द्र हैं।...लक्ष्मी ज्योत्स्ना हैं, सर्वेश्वर हरि प्रदीप हैं; जगन्माता श्री लता हैं, विष्णु द्रुम हैं। श्री विभावरी हैं, चक्रगदाधर देव दिवस हैं;

---

(१) तुलनीय—त्वं लक्ष्मीश्चारुरूपानाम् ।

कूर्मपुराण, पूर्व भाग, १२।२१९ (बंगगवासी)

(२) ब्रह्मवैवर्त, प्रकृतिखण्ड, १।२२।३० (बंगवासी)

विष्णु वरप्रद वर हैं, पद्मवनालया वधू हैं। भगवान् नद हैं, श्रीन दी ह; पुण्डरीकाक्ष ध्वज हैं, कमलालया उनकी पताका हैं। लक्ष्मी तृष्णा हैं, नारायण लोभ हैं; लक्ष्मी रति हैं, गोविन्द राग हैं। अथवा अधिक कहने की जरूरत नहीं, संक्षेप में कहा जाय, तो देव तिर्यक् मनुष्य आदि में भगवान हरि पुरुष हैं, लक्ष्मी स्त्री हैं।[1]

(ख) तात्त्विक दृष्टि से पुराण-वर्णित विष्णुशक्ति और विष्णुमाया

तत्त्व की दृष्टि से विचार किया जाय तो सभी पुराणों में ईश्वरवाद की एक समन्वय-दृष्टि दिखाई पड़ती है। इस समन्वय-दृष्टि के फलस्वरूप पुराणों में सभी परस्पर विरोधी उपाख्यानों और मतों के अन्दर भगवत्-तत्त्व के सम्बन्ध में एक सामान्य एकता दिखाई पड़ती है। हाँ, यहाँ हम जो समन्वय-दृष्टि देखते हैं, उसमें स्पष्ट दार्शनिक-बोध की अपेक्षा साधारण लोगों में प्रचलित एक साधारण धर्मबोध का प्राधान्य दिखाई पड़ता है; लेकिन भारतीय धर्ममत के इतिहास में भगवत्-तत्त्व के समन्वय-वाद का एक विशेष परिणत रूप हम श्रीमत्भगवद्गीता में पाते हैं[2]। गीता में जिस पुरुषोत्तमवाद का परिचय मिलता है, उसी पुरुषोत्तमवाद की नाना प्रकार की अभिव्यक्ति मानो हम पुराणादि शास्त्रों में पाते हैं। अपने विवेचन के अनुसार हम तत्त्व की दृष्टि से पूर्व विवेचित पंचरात्रोक्त वासुदेव-तत्त्व, काश्मीर-शैव दर्शनोक्त परम शिव-तत्त्व, पुराण आदि में विवेचित भगवत्-तत्त्व और गीता में विवेचित पुरुषोत्तम तत्त्व के अन्दर कोई मौलिक पार्थक्य नहीं पाते हैं। गीता या और किसी विशेष उत्स से ही यह मत पुराणादि में फैल गया है, ऐसी बात हम नहीं कहेंगे; हमें लगता है कि यह एक विशेष भारतीय दृष्टि है। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के अन्दर से यह पुष्ट हुआ है।

गीता में कहा गया यह पुरुषोत्तम-तत्त्व क्या है? 'क्षर' और 'अक्षर' ये दोनों पुरुष ही ब्रह्म के दो रूप हैं; क्षय्य, मर्त्य, भूत, सभी क्षर हैं, और परिवर्तनहीन कूटस्थ चैतन्य पुरुष ही अक्षर हैं। जो पुरुषोत्तम

---

(१) १।८।१५-३२

(२) **गीता महाभारत का ही एक अंग है या नहीं इस विषय में बहुतेरे पण्डितों ने सन्देह प्रकट किया है। बहुतों की कहना है कि बहुत बाद में इसे महाभारत में जोड़ा गया है। इस प्रकार के मत अगर सत्य भी हों तो गीता प्रचलित अठारह पुराणों से प्राचीनतर है इसमें शायद किसी को सन्देह नहीं होगा।**

परमात्मा हैं—जो अव्यय ईश्वर होकर तीनों लोक में प्रवेश करके तीनों लोकों का भरण कर रहे हैं, वे इस क्षर और अक्षर दोनों से ऊपर हैं, दोनों ही से अलग हैं। वे क्षर से परे हैं, अक्षर से उत्तम हैं, इसीलिये लोक और वेद में उन्हें 'पुरुषोत्तम' कहा गया है।[१] क्षर और अक्षर सब कुछ उन्हीं में विधृत है, और सब को विधृत करके भी वे सबसे परे अवस्थान कर रहे हैं। इसलिये यह पुरुषोत्तम ईश्वर प्रकृति से परे हैं (यो बुद्धेः परतस्तु सः); सत्त्व, रजः, तम आदि गुण उन्हीं से उत्पन्न होते हैं, लेकिन वे उनके अन्दर नहीं हैं। वे गुणमय होकर भी गुणातीत हैं।[२] सारा विश्वब्रह्माण्ड उनसे उत्पन्न हुआ है और उन्हीं की शक्ति में विधृत हैं; अव्यक्त मूर्त्ति में वे सारे विश्व में व्याप्त हैं, लेकिन उनके अन्दर सारे भूतों का अवस्थान होने पर भी वे किसी के अन्दर नहीं हैं। यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति उनकी अपनी ही प्रकृति है (प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य)—उसी में पुरुष के रूप में अधिष्ठान करके वे सब कुछ का सृजन करते हैं; उन्हीं की अध्यक्षता में प्रकृति सब कुछ प्रसव करती है, यही जगत् के परिवर्तन का कारण है। यह महद्ब्रह्म-प्रकृति ही योनि है, उसी में वे गर्भाधान करते हैं, इसीके फलस्वरूप सब कुछ की उत्पत्ति होती है। यह गुणमयी प्रकृति ही उनकी मायाशक्ति है; यह माया भी दैवी माया है, पुरुषोत्तम की ही आश्रिता माया है; अपनी माया-शक्ति का ही अवलम्बन करके वे अपने को जगदाकार में परिवर्तित करते हैं।

पुराणादि में हम मायातीत प्रकृति के ऊपर अवस्थित परम देवता का ही नाना प्रकार से उल्लेख पाते हैं। स्वरूपावस्था में वे अविकार नित्य परमात्मा, सदेकरूप हैं;[३] वे माया या प्रकृति के दूसरे (उस) पार अवस्थित हैं। लेकिन वे उस पार अवस्थित होने पर भी जो कुछ हुआ है, 'इदं' रूप में जो कुछ परिदृश्यमान है और जो कुछ भविष्यत् है—जो कुछ चर और अचर है—जो कुछ है और नहीं है—यह सब कुछ वे ही हैं।[४] जिनमें जगत् प्रतिष्ठित है, मगर जगत् के द्वारा जिन्हें देखा नहीं जा सकता है, अपना माया-जाल फैलाकर जो ब्रह्मादिस्तम्ब तक विश्व में

(१) गीता १५।१६—१८

(२) गीता ३।४२, ७।१२

(३) विष्णुपुराण, १।२।१। (४) मत्स्यपुराण (पंचानन तर्करत्न सम्पादित), १६४।२७—२८; १६७।५०—६०

व्याप्त हैं, वे ही नारायण पुरुष हैं।[१] समुद्र के जल में लहरों की भाँति जिनसे अनन्त भूत उत्पन्न होते हैं, और फिर जिनके अन्दर सब लोप हो जाते हैं, वही भगवान् वासुदेव हैं।[२]

यह भगवान् पुरुषोत्तम नित्यशक्तियुक्त हैं। यह शक्ति साधारणतः दो रूपों में कीर्त्तित होती हैं। एक गुणातीत स्वरूप-शक्ति के रूप में और दूसरी गुणाश्रया शक्ति के रूप में। जो शक्ति वाणी एवं मन के परे और अगोचरा है, विशेषणहीना है, केवल ज्ञानियों के द्वारा ही परिच्छेद्या है, वही ईश्वरी पुरुषोत्तम की स्वरूपभूता पराशक्ति है; और सर्वभूतों में जो गुणाश्रया शक्ति है वही अपरा शक्ति है।[३] यह परा-शक्ति युक्त ब्रह्म ही अमूर्त्त अक्षर-ब्रह्म हैं, और गुणाश्रया अपरा शक्ति के साथ जगत् ब्रह्माण्ड के रूप में मूर्त्त जो रूप है, वही क्षर-ब्रह्म है। एकदेशस्थित अग्नि की ज्योति जैसे विस्तारिणी होती है, उसी तरह ब्रह्म अपनी इस गुणाश्रया विस्तारिणी शक्ति के द्वारा जगत्-रूप में परिणत हैं। अग्नि से आसन्नता के कारण या दूरी के कारण, जैसे ज्योति में बहुत्व या स्वल्पत्वमय बहुतेरे प्रकार के भेद होते हैं, उसी प्रकार पुरुषोत्तम से सान्निध्य या दूरत्व के कारण इस शक्ति के अन्दर भी बहुतेरे प्रकार के भेद दिखाई पड़ते हैं।[४] त्रिभुवन-विस्तारिणी प्रधानभूता विष्णु-शक्ति के अन्दर सर्वव्यापी चेतनात्मा विष्णु उसी प्रकार से अवस्थान करते हैं; जिस प्रकार से लकड़ी में आग या तिल में तेल वर्त्तमान रहता है। सर्वभूतों के अन्दर आत्मभूता जो विष्णु-शक्ति है, उसी के द्वारा ही पुरुष और प्रकृति दोनों (नियम्यनियन्तृभाव से) संश्रयधर्मी बन कर रहते हैं, और सृष्टि से पहले यह विष्णु-शक्ति ही क्षोभकारणभूता होकर परस्पर-संश्रित पुरुष-प्रकृति के अन्दर पृथक् भाव

---

(१) मत्स्य-पुराण, २४४।१६,२६ (२) वही, २४५।२३ (३) विष्णुपुराण, १।१९।७६—७७

(४) द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्तं चामूर्तमेव च।
क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेष्ववस्थिते॥
अक्षरं तत् परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं जगत्।
एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा॥
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तदेतदखिलं जगत्।
तत्राप्यासन्नदूरत्वाद् बहुत्वस्वल्पतामयः॥ १।२२।५३—५५

का कारण होती है।[1] वायु जैसे जलकणागत शैत्य धारण करती है, मगर उससे मिल नहीं जाती, उसी प्रकार विष्णु की जगत्-शक्ति प्रधान-पुरुषात्मिका होकर भी प्रधान-पुरुष से कभी नहीं मिलती है। इस परा विष्णु-शक्ति का आश्रय करके ही देवतागण अपने अपने कामों में लगते हैं। इस परा-शक्ति के रूप में विष्णु स्वयं ही मूल-प्रकृति हैं।[2] विष्णु-पुराण में अन्यत्र इस तीन प्रकार की शक्ति की बात कही गई है, पहली है परा शक्ति, दूसरी है क्षेत्रज्ञाख्या अपरा शक्ति और तीसरी है कर्म-संज्ञा अविद्या शक्ति। क्षेत्रज्ञाख्या शक्ति ही जीवभूता शक्ति है। कर्म-संज्ञा अविद्या शक्ति के प्रभाव से यह क्षेत्रज्ञा शक्ति संसार में अखिलताप भोगती है और इस अविद्या के संस्पर्श से ही यह क्षेत्रज्ञा शक्ति सर्वभूतों के अन्दर तारतम्य भाव से लक्षित हुआ करती है। ब्रह्म का जो अमूर्त रूप है—जिसे ज्ञानी लोग विशुद्ध सन्मात्र कहते हैं—उसके अन्दर ही सारी शक्तियों की मूलशक्ति निहित है—वह मूलभूता शक्ति ही परा-शक्ति है।[3] इस विष्णुशक्ति को ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित् इन भागों में बाँटा गया है;[4] इसके बारे में विशद विवेचन बाद में किया जायगा।

---

(१) तु० कूर्मपुराण (पूर्वभाग):—

प्रकृतिं पुरुषं चैवप्रविश्याशु महेश्वरः।
क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः॥
यथा मदो नवस्त्रीणां यथा वा माधवो ऽनिलः।
अनुप्रविष्टः क्षोभाय तथासौ योगमूर्त्तिमान्॥ ४।१३–१४
मार्कण्डेयपुराण, ४६।९–१० श्लोक भी यही श्लोक है॥

(२) विष्णुपुराण; २।७।२८–४२; तुलनीय—मत्स्यपुराण, सृष्टिखंड चतुर्थ अध्याय।

(३) विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥ इत्यादि।
६—७—६१ से।

(४) ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ। विष्णुपुराण १—१२—६९

तुलनीय—ह्लादिनी त्वयि शक्तिः सा त्वय्येका सहभाविनी
पद्मपुराण, सृष्टिखंड, ४—१२४

पुराणादि में देखते हैं कि पुरुष और प्रकृति दोनों ही विष्णु-शक्ति के अन्तर्गत हैं।[1] प्रकृति को पुराणों में भिन्न-भिन्न प्रकार से लिया गया है। कहीं-कहीं प्रकृति ही पराशक्ति या आद्या शक्ति है। विष्णु-पुराण में विष्णु की परा शक्ति को मूल-प्रकृति कहा गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृति-खण्ड के प्रथम अध्याय में कहा गया है—'प्र' शब्द प्रकृष्टवाचक है, 'कृति' शब्द सृष्टिवाचक है; सृष्टि में (अर्थात् सृष्टि के मामले में) जो प्रकृष्टा है वही 'प्रकृति' हैं। श्रुति में 'प्र' शब्द प्रकृष्टसत्त्ववाचक है, 'कृ' शब्द रजोगुणवाचक है और 'ति' शब्द तमोगुणवाचक है; जो त्रिगुणात्मस्वरूपा है (ब्रह्मा, विष्णु, शिव ही ये तीनों गुण हैं), सर्वशक्ति-युक्ता है, और सृष्टि के कारण से प्रधान है, वही प्रकृति है। अथवा 'प्र' प्रथम वाचक है, 'कृति' सृष्टिवाचक है; जो सृष्टि की आद्या है, वही प्रकृति है[2] प्रधान पुरुष परमात्मा ने योग के द्वारा अपने को दो भागों में विभक्त किया। उनके अंग का दाहिना भाग पुरुष हुआ। बाँयाँ प्रकृतिस्वरूप हुआ। यह प्रकृति ब्रह्म-स्वरूपा, मायामयी, नित्या और सनातनी है; अनल की दाहिका-शक्ति की भाँति जहाँ आत्मा रहता है, प्रकृति भी वहीं विराजती है। यह आद्याशक्तिस्वरूपा मूल-प्रकृति सृष्टि-कार्य के लिए पाँच भागों में विभक्त हुई। दुर्गा हुई प्रकृति का पहला रूप, दूसरी लक्ष्मी, तीसरी शक्ति हुई सरस्वती, चौथी सावित्री, पाँचवीं राधा।

पुराणादि में विष्णु की परा शक्ति को इस तरह अनेक स्थलों पर प्रकृति या मूल-प्रकृति कहा जाने पर भी साधारणतः प्रकृति को विष्णु की अपरा शक्ति माना गया है। हम लोग जिस तरह पञ्चरात्र में विष्णु की स्वरूपभूता या समवायिनी परा शक्ति और गुणात्मिका मायारूपिणी प्राकृत शक्ति की बात देख आए हैं, काश्मीर-शैवदर्शन में जिस प्रकार

---

(१) विष्णुपुराण, १—१७—३०; कूर्मपुराण (उपरिभाग) ४—२६

(२) **प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।**
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥
गुणे प्रकृष्टसत्त्वे च प्रशब्दो वत ते श्रुतौ।
मध्यमे रजसि कृश्च तिशब्दस्तमसि स्मृतः॥
त्रिगुणात्मस्वरूपा या सर्वशक्तिसमन्विता।
प्रधानं सृष्टिकारणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते॥
प्रथमे वर्तते प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टेराद्या च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥ (बंगवासी)।

समवायिनी शक्ति और परिग्रहा शक्ति का भेद देख आए हैं, पुराणों में एक प्रकार से शक्ति के उसी भेद को रक्षित होते देखते हैं। सृष्टि-प्रकरण के वर्णन के प्रसंग में प्रकृति का जितना उल्लेख देखते हैं, वहाँ सांख्य के चौबीस तत्त्वों को ही स्थान मिला है; लेकिन सांख्य की भाँति प्रकृति यहाँ स्वतंत्र नहीं है, प्रकृति यहाँ भगवान् विष्णु की ही प्राकृत-शक्ति मात्र है। इस प्राकृत-शक्ति से भगवान् का कोई सीधा सम्बन्ध न होने के कारण भगवान् को सर्वत्र ही 'प्रकृति के परे' कहा गया है।[१] वे अपने अन्दर अपने आप 'केवलानुभवानन्द-स्वरूप' में विराजमान हैं। अपनी प्रकृति के द्वारा त्रिगुणात्मक सभी 'इदं'-पदार्थों की वे सृष्टि करके उसके भीतर अप्रविष्ट होकर भी प्रविष्ट रूप में परिभावित होते हैं।[२] इस प्रकृति के अन्दर से जो विश्व-परिणाम है, वह मूलतः वही विष्णु-परिणाम ही है।[३] इसीलिए विष्णु-पुराण में ध्रुव द्वारा विष्णु का स्तव देखते हैं—अत्यन्त क्षुद्र एक बीज के अन्दर जैसे एक विराट् न्यग्रोध वृक्ष निहित रहता है, संयम काल में (अर्थात् विष्णु के आत्म-संहरणकाल में) अखिल विश्व भी उसी तरह बीजभूत विष्णु में ही व्यवस्थित रहता

---

(१) शुद्धः सूक्ष्मोऽखिलव्यापी प्रधानात परतः पुमान्। विष्णुपुराण, १--१२--५४

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥
स एष प्रकृतिः सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया॥ भागवतपुराण, बंगवासी, ३—२६—(३—४)

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत्॥वही, १०—८८—५

(२) विदितोऽसि भवान साक्षात् पुरुषो प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्द-स्वरूपः सर्वबुद्धिधृक्॥
स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम्।
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे। १०—३—(१३—१४)

(३) विष्णुपुराण, २—७—३६

तुलनीय—भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
भूतादिरादिप्रकृतिर्यस्य रूपं नतोऽस्मि तम्॥ वही, १—१२—५३

है : बीज से जैसे अंकुर फूटता है, अंकुर से विराट् न्यग्रोध उठ खड़ा होता है और फैलता है, भगवान् विष्णु से उसी तरह सृष्टि होती है। त्वक्पत्रादि के अलावा केले के पेड़ का जैसे कोई अलग अस्तित्व नहीं दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार जगदाश्रय विष्णु के अलावा विश्व का कोई अन्यत्व नहीं दिखाई पड़ता है।[१] विष्णु के नाभि-कमल (कमल है सृष्टि का प्रतीक) से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है—उसी ब्रह्मा ने सारी प्राकृत सृष्टि की है, इसीलिए पुराण में ब्रह्मा की ही एक-दो स्थलों पर प्रकृति के रूप में कल्पना की गई है।[२] लेकिन अन्यत्र प्रकृति ब्रह्मा की प्रसूति है।[३]

हमने गीता में देखा है, कि प्रकृति को ही श्रीभगवान की आत्ममाया कहा गया है। पुराणों में अनेक स्थलों पर प्रकृति को विष्णुमाया कह कर वर्णन किया गया है। भागवत-पुराण में सांख्यकार कपिल के मुँह से कहलाया गया है कि भक्तियोग के द्वारा ही प्राकृत माया के बन्धन से मुक्त होना चाहिए। ब्रह्मवैवर्त-पुराण में कहा गया है कि सृ‌ि‌ट के समय परमेश्वर ने माया से मिलित होकर अपनी शक्ति से इस स्थावर-जंगमात्मक समुदय विश्व का सृजन किया है।[४] भागवत-पुराण में भी देखते हैं कि, अगुण विभु ने गुणमयी सदसद्रूपा आत्ममाया के द्वारा ही यह सारी सृष्टि की है।[५] एक वही आत्ममाया से समस्त भूतों की सृष्टि कर रहे हैं; अपनी शक्ति का अवलम्बन करके ही वे अपने से सब

---

(१) १।१२।६६—६८

(२) प्रधानात्मा पुरा ह्येषा ब्रम्हाणमसृजत् प्रभुः ।। ब्रह्मपुराण (बंगवासी) १७९।७४

(३) षड् विशंत्तद्गुणो ह्येषा द्वात्रिंशाक्षरसंज्ञिता ।।
प्रकृतिं विद्धि तां ब्रह्मंस्त्वत्प्रसूतिं म ेश्वरीम् ।
सैषा भगवती देवी त्वत्प्रसूतिः स्वयम्भुव ।।
चतुर्मुखी जगद्योनिः प्रकृति गौः प्रकीर्तिता ।
प्रधानं प्रकृतिंचैव यदाहुस्तत्त्वचिन्तकाः ।।
वायुपुराण, (बंगवासी) २३।५३—५५ ।

(४) ब्रह्मखण्ड, १।२

(५) १।२।३०; तुलनीय—लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया ।
१।१।१८

कुछ का सृजन, और फिर अपने अन्दर ही सब का संहरण कर रहे हैं।[१] निर्गुण ईश्वर के जो सत्त्व, रज, तम आदि गुणत्रय माने जाते हैं, वे माया के द्वारा ही होते हैं।[२]

यूँ माया को विष्णु की प्राकृत शक्ति कह कर वर्णन किये जाने पर भी माया और प्रकृति को बिलकुल एक समझना उचित नहीं होगा; प्रकृति मानो बहुत कुछ मायाशक्ति का एक विशेष क्रियात्मक रूप है।[३] तो पुराणों के अनुसार माया का स्वरूप क्या है? भागवत-पुराण में इस माया की एक सुन्दर व्याख्या मिलती है। वहाँ कहा गया है—'अर्थ के बिना जो प्रतीत होता है, किन्तु आत्मा में जो प्रतीत नहीं होता है (अर्थात् सत् होने पर भी जिसके परमार्थ की कोई प्रतीति नहीं है), उसी को मेरी अपनी माया समझना; जैसे द्विचन्द्रादि की प्रतीति, अथवा जैसे तम (जो रहने पर भी कभी अभिव्यक्ति नहीं पाता है)।'[४] तो माया हुई विश्वभुवनव्यापिनी भ्रमशक्ति। लेकिन वैष्णवगण ने इसे भ्रम मात्र न मान 'विलास-विभ्रम' माना है; विलास के लिए ही लीलामय भगवान् ने स्वेच्छा से अपनी सर्वव्यापी अखण्ड एक सत्ता में बहु के अस्तित्व को प्रतिभासित किया। यह एक के अन्दर बहु का अस्तित्व वैकारिक मात्र है, बालक जैसे मृगतृष्णा को जलाशय समझते हैं।[५] तत्त्वदृष्टि मिलने पर

---

(१) भागवतपुराण, २।५।४—५

(२) वही, २।५।१८; तुलनीय, पद्मपुराण, उत्तरखंड:—

तया जगत्सर्गलयौ करोति भगवान् सदा।
क्रीडार्थं देवदेवेन सृष्टा माया जगन्मयी॥
अविद्या प्रकृतिर्माया गुणत्रयमयी सदा।
सर्गस्थिति-लयानां सा हेतुभूता सनातनी॥
योगनिद्रा महामाया प्रकृतिस्त्रिगुणान्विता।
अव्यक्ता च प्रधानंच विष्णोर्लीलाविकारिणः॥२२७।५१—५३

(३) तुलनीय—अतो मायाशब्दो विचित्रार्थसर्गकराभिधायी। प्रकृतेश्च माया-शब्दाभिधानं विचित्रार्थसर्गकरत्वादेव।
—रामानुज का श्रीभाष्य, १।१।१

(४) ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः। २।९।३३

(५) मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम्।
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते॥ १०।७३।११

दिखाई पड़ेगा कि एक से ही सब परिणत होते हैं, और एक ही में सब समाहित होते हैं। कूर्म-पुराण में देखते हैं—"मैं विश्व नहीं हूँ, लेकिन मुझे छोड़कर भी विश्व का कोई अस्तित्व नहीं है। ये सारे निमित्त ही माया हैं, वह माया मेरे द्वारा ही आश्रिता है। प्रकाशसमाश्रया यह माया मेरी अनादिनिधना शक्ति है, इसीलिए अव्यक्त से इस जगत्-प्रपंच का उद्भव होता है।"[१] लेकिन यह अचिन्त्यज्ञानगोचरा शक्ति भी आग की गर्मी की भाँति ब्रह्म से ही विश्व में फैली है।[२] वराहपुराण के १२५वें अध्याय में देखते हैं, पृथ्वी विष्णु से पूछ रही है—'तुम्हारी माया मैं जानना चाहती हूँ।' उत्तर में विष्णु ने कहा—'मेरी माया कोई भी नहीं जान सकता है। बादल जब बरसता है तो सब कुछ पानी से भर जाता है, फिर वही स्थान जलशून्य हो जाते हैं, यही मेरी माया है। चन्द्रमा एक पखवारे में धीरे-धीरे क्षीण होता रहता है, दूसरे पखवारे में धीरे-धीरे बढ़ता रहता है, अमावस्या के दिन वह दीख ही नहीं पड़ता है, यही मेरी माया का तत्त्व है।...यह जो शेषनाग पर मैं शोभित हूँ, उस समय भी अपनी अनन्त माया से मैं सब कुछ धारण किए रहता हूँ, और सोता भी रहता हूँ।...यह जो एकार्णवा मही की सृष्टि की है यह भी मेरी ही माया है, और यह जो मैं जल पर अवस्थान कर रहा हूँ, यह भी मेरी ही माया-शक्ति है।[३]

यह जो भगवान् की अचिन्त्य अनन्त माया-शक्ति है, लगता है, प्रकृति उसी का एक विशेष रूप या व्यापार विशेष है। स्वरूप-विभ्रान्ति धटित करके जो है उसे नहीं दिखाना और जो नहीं है उसे दिखाना ही इसकी लीला-विचित्रता है। इस माया-शक्ति के द्वार पर ही भगवान् की विश्व-लीला विचित्र है। माया शक्ति के भगवान् की ही आश्रिता होने के कारण उसके हाथों से छुटकारा पाने के लिए एक मात्र उपाय है भगवान् का स्मरण करना। जैसे गीता में कहा गया है, 'मामेव ये प्रपद्यन्ते माया-

(१) नाहं विश्वो न विश्वंच मामृते विद्यते द्विजाः।
माया निमित्तमात्रास्ति सा चात्मनि मयाश्रिता॥
अनादिनिधना शक्तिर्माया व्यक्तिसमाश्रया॥
तन्निमित्तः प्रपंचो ऽयमव्यक्ताज्जायते खलु॥
कूर्मपुराण (उपरिभाग), ६।२—३

(२) विष्णुपुराण, १।३।२; पद्मपुराण, सृष्टिखंड, ३।२ वही श्लोक है।

(३) वराहपुराण (बंगवासी), १२५।८—१०, ४५, ४८

मेतां तरन्ति ते'—जो केवल मात्र मेरा ही भरोसा करता है इस माया का वही अतिक्रमण कर सकता है।[१] पुराणों में नाना प्रकार से इस बात की पुनरावृत्ति दिखाई पड़ती है। इनमें अचला भक्ति रहने पर—उनमें सारी धी स्थापित होने पर ही इस दुस्तरा माया से उद्धार हो सकता है।[२] विष्णु-पुराण में अदिति द्वारा विष्णु के स्तव में कहा गया है कि, जो परमार्थ को नहीं जान सके हैं, उनकी बुद्धि को जो शक्ति अत्यन्त मोहित कर रखती है—वह तुम्हारी ही माया है; अनात्मा का यह जो आत्म-विज्ञान है—जिसके द्वारा मूढ़गण बँधे रहते हैं—उसका कारण भी तुम्हारी ही माया है। 'मैं' 'मेरा'—इस प्रकार के जितने भाव मनुष्य के मन में उठते हैं, वह तुम्हारी उसी जगन्माता माया की ही चेष्टा से उठते हैं। जो धर्म-परायण व्यक्ति तुम्हारी आराधना करते हैं, केवल वे ही इस अखिलमाया से त्राण पाते हैं।[२] गरुड़-पुराण में कहा गया है कि, तृणादि से लेकर चतुरानन ब्रह्मा तक चतुर्विध भूतगण-सहित चराचर सारा संसार इसी विष्णुमाया में ही प्रसुप्त है; साधु-असाधु सभी तरह के लोग जो कुछ काम करते हैं, उसे अगर नारायण को अर्पित कर सकें तो वे कर्म के द्वारा लिप्त नहीं होत हैं—माया में बँधते नहीं हैं।[३] कूर्म-पुराण में कहा गया है कि भगवान् की जो आत्म-भूता परा शक्ति है, वही 'विद्या' है; उनकी मायाशक्ति ही अपराशक्ति है—वही लोक-विमोहिनी अविद्या है, इस परा शक्ति विद्या के द्वारा ही वे अपनी माया का नाश करते हैं।[४]

---

(१) इत्यादि राजेन नुतः स विश्वदृक्
तमाह राजन् मयि भक्तिरस्तु ते।
दिष्टयेदृशी धीर्मयि ते कृता यया
मायां मदीयां तरति स्म दुस्तराम्॥
भागवतपुराण, ४।२०।३२

(२) विष्णुपुराण, ५।३०।१४–१६

(३) गरुड़पुराण (बंगवासी) पूर्वखंड, २३५।६–७

(४) अहमेवहि संहर्ता संस्रष्टा परिपालकः।
माया वै मामिका शक्तिर्माया लोकविमोहिनी॥
ममैव च परा शक्तिर्या सा विद्येति गीयते।
नाशयामि तया मायां योगिनां हृदि संस्थिता॥
(उपरि-भाग), ४।१८–१९

तुलनीय, वही पूर्वभाग, १।३६

पुराणादि में विष्णु-शक्ति श्री या लक्ष्मी ही अनेक प्रकार से विष्णु-माया के तौर पर कीर्तित हैं। कूर्म-पुराण में (पूर्वभाग, प्रथम अध्याय) लक्ष्मी की इस माया-रूपिणी मूर्ति का विशद वर्णन है। समुद्र-मंथन से जब नारायण-वल्लभा श्री आविर्भूत हुईं तब पुरुषोत्तम विष्णु ने उन्हें ग्रहण किया। तब उस विशालाक्षी देवी को देखकर नारद आदि महर्षियों ने विष्णु से उनका परिचय पूछा। तब विष्णु ने कहा, "ये वही परमा शक्ति हैं, ये मन्मयी ब्रह्मरूपिणी हैं; ये मेरी माया हैं—मेरी प्रिया हैं—अनन्ता हैं—इन्हीं के द्वारा ही यह संसार विधृत है। हे द्विजश्रेष्ठगण, इन्हीं के द्वारा ही मैं सदेवासुर-मनुष्य सारे संसार को मोहाविष्ट करता हूँ; ग्रास करता हूँ—फिर सृजन करता हूँ। भूतों की उत्पत्ति और प्रलय, गति और अगति यह सब कुछ, और अपनी आत्मा को जो विद्या के द्वारा देखते हैं, वे ही इनसे उद्धार पा सकते हैं। इन्हीं के अंश मात्र का अवलम्बन करके प्राचीन काल में ब्रह्मा, शिवादि देवगण शक्तिमन्त हुए थे[1]—ये ही मेरी सर्वशक्ति हैं। ये ही सर्वजगत्-प्रसूति त्रिगुणात्मिका प्रकृति हैं, पहले अन्य कल्प में ये पद्मवासिनी श्री के तौर पर मुझसे जन्मी थीं। ये चतुर्भुजा, शंखचक्रपद्महस्ता, माल्यधारिणी, कोटिसूर्यप्रतीकाशा, सभी देहधारियों की मोहिनी हैं।[2] कूर्म-पुराण (पूर्वभाग) के द्वितीय अध्याय

---

(१) तुलनीय—केनोपनिषद्, चतुर्थ खंड; और मार्कण्डेय चंडी।

(२) **इयं सा परमा शक्तिर्मन्मयी ब्रह्मरूपिणी।**
माया मम प्रियानन्ता ययेदं धार्यते जगत्॥
अनयैव जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम्।
मोहयामि द्विजश्रेष्ठा ग्रसामि विसृजामि च॥
उत्पत्तिः प्रलयंचैव भूतानामगतिं गतिम्।
विद्यया वीक्ष्य चात्मानं तरन्ति विपुलामिमाम्॥
अस्यास्त्वंशानधिष्ठाय शक्तिमन्तोऽभवन् सुराः।
ब्रह्मेशानादयः सर्वे सर्वशक्तिरियं मम॥
सैषा सर्वजगत्सूतिः प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका।
प्रागेव मत्तः संजाता श्रीः कल्पे पद्मवासिनी॥
चतुर्भुजा शंखचक्रपद्महस्ता स्रगन्विता।
कोटिसूर्य-प्रतीकाशा मोहिनी सर्वदेहिनाम्॥

(पूर्वभाग), १।३४–३९

में देखते हैं कि, सृष्टि के प्रारम्भ में विष्णु से ब्रह्मा और शिव का आविर्भाव हुआ। इसके बाद श्रीदेवी का आविर्भाव हुआ ! आविर्भाव के बाद ही वह नारायणी, महामाया, अव्यया विष्णु के पास उपस्थित हुईं। उन्हें देखकर ब्रह्मा ने विष्णु से कहा—

मोहायाशेषभूतानां नियोजय सुरूपिणीम्। 'अशेष भूतों को मोहित करने के लिए इस सुरूपिणी को नियुक्त करो; तब नारायण ने हँसकर इस देवी से कहा, "हे देवि, मेरे आदेश से सदेवासुर-मानव इस निखिल विश्व को मोहित करके संसार में विनिपातित करो।" लेकिन नारायण ने इस लक्ष्मीरूपी महामाया को सावधान कर दिया—"ज्ञानयोगरत, दान्त, ब्रह्मिष्ठ, ब्रह्मादिगण को और अक्रोधन सत्यपरायण व्यक्तियों को दूर से ही परित्याग करना।.... संक्षेप में कहा जाय तो, स्वधर्मपरिपालक ईश्वर-आराधनारत व्यक्तियों को तुम मेरे द्वारा नियुक्त होकर कभी भी मोहित मत करना।"[१]

पुराणों में इस विष्णुमाया के दो प्रधान भेद दिखाई पड़ते हैं; एक है विष्णु की आत्म-माया, और दूसरी है त्रिगुणात्मिका बाह्यमाया। पहले ही देखा है कि, इस त्रिगुणात्मिका माया से विष्णु का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, यह माया विष्णु की आश्रिता मात्र है। विष्णु की आत्ममाया को ही साधारणतः 'वैष्णवी माया' कहते हैं; यह माया सम्पूर्णरूप से विष्णु की स्वरूपभूता नहीं है, इसीलिए दार्शनिक दृष्टि में 'वैष्णवी माया' लक्ष्मी नहीं है। दूसरी ओर यह माया किसी भी तरह विष्णु के स्वरूप को आवृत नहीं करती या विस्मृत नहीं कराती है। अनन्त शयन में विष्णु जब शयित थे तब यह 'वैष्णवी माया' ही उनकी निद्रा का कारण थी; इसीलिए उनकी उस समय की निद्रा भी वास्तविक निद्रा नहीं थी, यह विष्णु की 'योगनिद्रा' थी।[२] इस वैष्णवी माया के द्वारा ही देवकी के आठवें गर्भ का आकर्षण किया

---

(१) २।१२–१३, २०

(२) **योगनिद्रा महामाया वैष्णवी मोहितं यया।**
अविद्यया जगत् सर्वं तामाह भगवान् हरिः॥ विष्णुपुराण ५।१।७०

विष्णोः शरीरजां निद्रां विष्णुनिर्देशकारिणीम्॥ खिल हरिवंश ४।१०

तुलनीय—भागवतपुराण, १०।२

गया था। कृष्ण के प्राणों की रक्षा के लिए कन्या-रूपिणी माया ने ही कंस को छला था। इसी माया का अवलम्बन करके ही कृष्ण ने भागवत-पुराण में ब्रह्मा को छलकर अपनी माया का खेल दिखाया था। यही 'वैष्णवी माया' 'योगमाया' है। माया वास्तव में माया ही है, लेकिन भगवान् के स्वरूप से भी उसका सम्बन्ध है, इसीलिए ही यह 'योगमाया' है। यह योगमाया ही कृष्ण की सारी प्रकट लीलाओं की सहायक है, अर्थात् इसी योगमाया का आश्रय या विस्तार करके ही उनकी सारी प्रकट लीलाएँ होती हैं।[1] इसके फलस्वरूप प्राकृत जगत् में प्राकृत मनुष्य की भाँति उन्हें सारे आचरण करने पड़ने पर भी इसकी किसी भी बात से वे बन्धनग्रस्त नहीं होते; अथवा लीला के लिए वे जितना बन्धन खुद स्वीकार करते हैं, उसके अलावा माया का और कोई प्रभाव उनपर नहीं रहता है। गीता के अन्दर ही हम भगवान् की इस योगमाया का उलेल्ख पाते हैं। गौड़ीय वैष्णवों ने इस योगमाया के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उनके अन्दर लीलावाद की प्रधानता के लिए इस योगमाया को भी प्रधानता मिली है। गौड़ीय वैष्णव मतानुसार यह योगमाया भगवान् की ही स्वरूप-भूता 'दुस्तर्काचिच्छक्ति' है, अर्थात् यह भगवान् की एक ऐसी चिच्छक्ति का प्रकार है जिसके सम्बन्ध में तर्क द्वारा किसी धारणा पर पहुँचा नहीं जा सकता है। जो दुर्घट है, उसे घटाने की क्षमता इस योगमाया में है; इसीलिए इस योगमाया को 'दुर्घटघटनी चिच्छक्तिः' कहा गया है।[2]

हमने अपने विवेचन के प्रारम्भ में वृहदारण्यक उपनिषद् की एक प्रसिद्ध श्रुति देखी है; वहां कहा गया है कि ब्रह्म जब तक अकेले थे तब तक वे रमण नहीं कर सके, रमण करने के लिए तब उन्होंने अपने को दो भागों में विभक्त किया। उसीका एक भाग पुरुष और दूसरा भाग नारी हुआ। इस श्रुति की प्रतिध्वनि पुराणों में बहुतेरे स्थलों में मिलती है! आगे चलकर हम देखेंगे कि इसका प्रभाव बहुत बाद के शास्त्र-साहित्य में भी चला आया है। पुराणों में देखते हैं कि, मानों शक्तिमान् ने रणमेच्छा ही से अपनी शक्ति को अपने से दो भागों में विभक्त कर लिया है। इस प्रकार खुद ही अपने निकट आस्वाद्य और आस्वादक बन गए हैं। वराह-पुराण में कहा गया है, नारायण ने रमण की इच्छा से अपनी द्वितीय कामना

(१) **विस्तारयन् क्रीड़सि योगमायाम् ॥ भागवत, १०।१४।२१**

(२) **जीव गोस्वामी का भगवत्-संदर्भ ।**

करके अपने को दो भागों में विभक्त करके जिस प्रथम रमणी की सृष्टि की थी वह[1] 'उमा' हैं ।[2]

हमने पुराणोक्त विष्णु के शक्तितत्व के बारे में ऊपर जो विवेचन किया, किसी दार्शनिक मत का अनुसरण न करने पर भी लगता है कि उसके पीछे कई अस्पष्ट दार्शनिक विचार इसके आधारस्वरूप हैं । लेकिन हमने पहले ही कहा है कि पुराणों में लौकिक मनोवृत्ति की ही प्रधानता है । यहाँ 'लौकिक' शब्द को हम कोई अवज्ञा के अर्थ में प्रयोग नहीं कर रहे हैं; वृहत्तर जन-समाज से जिसका सम्बन्ध है, उसीको हम यहाँ लौकिक कह रहे हैं । धर्ममतों की उत्पत्ति और क्रमविकास के इतिहास में इस लौकिक मनोवृत्ति क कई विशेष धर्म या काम हैं । लौकिक मनोवृत्ति की एक प्रधानतम प्रवणता है समीकरण । इस समीकरण की प्रवणता केवल धर्म के मामले में ही नहीं; भाषा, साहित्य, संस्कृति सभी मामलों में है । हमारी एक साधारण धारणा है कि कमसे कम धर्म के मामले में जनता की

---

(१) पूर्वं नारायणस्त्वेको नासीत् किंचिद्धरेः परम् ।
सैक एव रतिं लेभे नैव स्वच्छन्दकर्मकृत् ।।
तस्य द्वितीयमिच्छन्तश्चिन्ता बुद्ध्यास्मिका वभौ ।
अभावेत्येव संज्ञाया क्षणम्भास्करसन्निभा ।।
तस्या अपि द्विधा भूता चिन्ताभूद्ब्रह्मवादिनः ।
उमेति संज्ञया यत्तत् सदा मर्त्ये व्यवस्थिता ।।
उमेत्येकाक्षरीभूता ससर्जेमां महीन्तदा । इत्यादि ।

९।२–५

तुलनीय—स्कन्दपुराण के काशीखंड में पूतात्मकृत शिवस्तव में कहा गया है—

विश्वं त्वं नास्ति वै भेदस्त्वमेकः सर्वगो यतः ।
स्तुत्यं स्तोता स्तुतिस्त्वंञ्च सगुणो निर्गुणोभवन् ।।
सर्गात् पुरा भवानेको रूपनामविवर्जितः ।
योगिनोऽपि न ते तत्त्वं विदन्ति परमार्थतः ।।
यदैकलो न शक्नोषि रंन्तुं स्वैरचरप्रभो ।
तदेच्छा तव योत्पन्ना सैव शक्तिरभूत्तव ।।
त्वमेको द्वित्वमापन्नः शिवशक्तिप्रभेदतः ।
त्वं ज्ञानरूपो भगवान् सेच्छाशक्ति-स्वरूपिणी । इत्यादि ।।

प्रवणता बहु की अभिमुखी होती है; वे बहुतेरे शास्त्रों में विश्वास करते हैं; बहुतेरे मतों में विश्वास करते हैं, बहुतेरे देवताओं में विश्वास करते हैं—धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के क्रिया-काण्डों में विश्वास करते हैं; और उच्चकोटि के दार्शनिक चिन्तनशील पुरुष जिस मत, जिस देवता, जिस शास्त्र, जिस साधन-पद्धति में भी विश्वास क्यों न रखते हों, वे साफ-साफ एक चीज को सोचते समझते हैं और एक ही रास्ते का मजबूती से अनुसरण करते हैं। इस दृष्टि से बात सच है, लेकिन दूसरी ओर से इसे बिलकुल विपरीत दृष्टि से भी देखा जा सकता है। संसार के धर्म और धर्माश्रित दर्शन के इतिहास पर भली-भाँति विचार और विश्लेषण करके देखने से पता चलेगा कि वास्तव में धर्म के अन्दर परस्पर विरोधी कटे-छँटे बहुतेरे मत और पथ हैं—बहुतेरे देवता, दर्शन, और क्रियाविधि की सृष्टि उच्चकोटि के चिन्तनशील सम्प्रदायों के द्वारा ही होती है। उनका तर्क न्याय पर प्रतिष्ठित होता है, बुद्धि-विचार की पैनी नोक परस्पर को सदा दूर हटा कर अपने स्पष्ट सीमायुक्त अधिकारों के अन्दर ही रखना चाहती है। इसीलिए हमारी कट्टर दार्शनिक बुद्धि के सामने शिवतत्त्व, विष्णुतत्त्व, काली-दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी, राधा आदि का तत्त्व जितना भी स्पष्ट रूप से अलग क्यों न हो, जनता सारी नैयायिक विचारबुद्धि और शास्त्र-शासन को तोड़कर अपनी सहजात समीकरण की प्रवणता से एक प्रकार से सब को एक कर लेती है, इसीलिए उच्चकोटि के बुद्धिजीवी शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदायों में जितने भी मतभेद क्यों न हों, जनता ने इन सबको निर्विवाद रूप से अपने हृदय-मन्दिर और गृह-मन्दिर में स्थान दिया है।

वास्तव में जनता के मन का कार्यकलाप बहुत कुछ बंगला के पयार-छन्द की नाईं होता है। पयार छन्द के अन्तर्गत कोई भी अक्षर या ध्वनि परस्पर निरक्षेप रूप से बिलकुल स्वतन्त्र नहीं है, कई अक्षरों या ध्वनियों से जिन तानों का उद्भव होता है, वे ही यहाँ प्रधान हैं, ध्वनियाँ अपने सारे कर्म-धर्म को उस मिश्र तानधर्म के अन्दर समर्पित करती हैं। धर्म के मामले में जनता का मनोधर्म भी इसी तरह का होता है। वहाँ धर्म-सम्बन्धी कोई भी चिन्ता या विश्वास अत्यन्त उग्र रूप से स्वतन्त्र नहीं है; कई चिन्ताएँ और विश्वासों के टुकड़े मिलकर एक तान बनाते हैं; इसी समीकरण से उत्पन्न तान ही प्रधान हो उठते हैं।

हम लोगों ने विष्णुशक्ति के बारे में ऊपर जो विवेचन किया है, उसमें विष्णुशक्ति के अन्दर ही परा और अपरा शक्ति का दो स्पष्ट

भाग देखा है। अपराशक्ति के अन्दर भी जीवशक्ति और जड़शक्ति के भेद हैं। लेकिन पुराणों में विभिन्न स्थलों पर लक्ष्मी या श्री के जो स्तव हैं, उनमें विष्णु की ये शक्तियाँ बिलकुल घुलमिल गई हैं। दार्शनिक वेदान्ती तो सदा से अपने विशुद्ध ब्रह्म को तर्क की चहारदीवारी में घेर कर भाषा के कलुषित स्पर्श से बड़ी सावधानी से बचाते आये हैं; माया सत् है या असत्, इसके बारे में वे साफ-साफ कुछ भी नहीं कहते हैं। लेकिन पुराणकारों ने सभी झगड़ों को समाप्त कर ब्रह्म और माया में अत्यन्त अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित किया है। सांख्य दर्शन के अन्दर पुरुष और प्रकृति का सम्पर्क ठीक-ठीक क्या है इस बात को लेकर बड़ा मतभेद है; लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि पुरुष और प्रकृति शक्तिमान् और शक्ति-रूप में अभेद में भेद है—इस बात को कोई भी सांख्यकार कदापि स्वीकार नहीं करेगा, लेकिन पुराणकारों ने बड़ी आसानी से सांख्य के पुरुष-प्रकृति को तन्त्र के शिव-शक्ति से और वैष्णवों के विष्णु-लक्ष्मी से बिलकुल अभिन्न कर डाला है। इसके फलस्वरूप पुराणों में वर्णित लक्ष्मीस्तव में विष्णु और लक्ष्मी, वेदान्त के ब्रह्म और माया, सांख्य के पुरुष और प्रकृति, तन्त्र के शिव और शक्ति सभी अपनी-अपनी स्वतन्त्रता छोड़कर मिलजुल कर एक युगलमूर्ति धारण किये हुए हैं। बादवाले काल के राधा-कृष्ण ने भी बड़ी आसानी से आकर इस युगल के सामने ही आत्मसमर्पण किया है।

भारतवर्ष के धर्ममतों को अच्छी तरह से देखने पर लगता है, कि यह एक आदि युगल में विश्वास मानो भारतीय-मन का एक आदि-धर्म-विश्वास है; इसी एक विश्वास ने ही मानो भारतवर्ष के बहुतेरे विभिन्न देश-काल के परिवेश के अन्दर से नित्य नव विचित्रता का रूप धारण किया है। इस युगल में विश्वास ही भारतवर्ष के शास्त्रवाद का एक विशेष रूप है। इसीलिए भारतवर्ष के इस शक्तिवाद को हम किसी शैव या शाक्त मत के दायरे में बाँधना नहीं चाहते हैं। यह आदियुगल-विश्वास शैव नहीं है, शाक्त नहीं है, वैष्णव नहीं है, सौर गाणपत्य नहीं है—यह वेदान्त नहीं है, सांख्य नहीं है, तन्त्र नहीं है—यह हिन्दू भी नहीं है, बौद्ध-जैन भी नहीं है—यह भारतवर्ष में सर्वत्र है, प्रायः सभी मतों में है, इसीलिए हम कहेंगे कि यह दर्शन-सम्प्रदाय-निरपेक्ष रूप से भारतवर्ष का है। भारतवर्ष के उस जातीय विश्वास को पुराणकारों ने इसीलिए सभी सम्प्रदायों के तंग दायरे से बाहर लाकर विशाल ऐक्य के अन्दर रूप-दान किया है। इसीलिए पाञ्चरात्र के शक्तिवाद के विवेचन के बाद काश्मीर-शैव दर्शन के शक्तिवाद के विवेचन के प्रसंग में हमने कहा था

कि भारतवर्ष का शक्तिवाद शैव-शक्त दर्शन का अवलम्बन करके बना है, या वैष्णव दर्शन का अवलम्बन करके बना है, इस बात को बिलकुल स्पष्ट और निश्चित रूप से बताना कठिन है, वास्तव में शायद शक्तिवाद एक प्राचीन भारतीय विश्वास का अवलम्बन करके ही बना है—वह विश्वास थोड़ा बहुत भारतवर्ष के सभी दर्शनों, सभी धर्ममतों में रूपायित हुआ है। हम शैव या शाक्त किसी भी शास्त्र-ग्रन्थ में 'शक्ति' का जो वर्णन पाते हैं, पुराणों में लक्ष्मी के वर्णन के अन्दर भी बहुतेरे स्थलों में उसी प्रकार का वर्णन पाते हैं। दूसरी ओर शैव पुराण (या उपपुराण) की पोथी लेने पर हम देखेंगे कि वहाँ वर्णित शिव-शक्ति बिलकुल विष्णु-लक्ष्मी के अनुरूप हैं। वर्णन सर्वत्र एक ही तरह का है, केवल नामों की विभिन्नता है। जिस तरह हम इतनी दूर तक देखते हैं कि, जब सृष्टि का कुछ भी नहीं था, तब सदसदात्मक एक मात्र विष्णु थे; उन्हें सृष्टि की इच्छा हुई। वह इच्छा ही शक्तिरूपिणी या मूल प्रकृति हुई; उसी आद्याशक्ति या मूलप्रकृति से ही पुरुष-प्रधान की उत्पत्ति हुई—उसी से अखिल संसार बना; शिवपुराण को देखने पर बिलकुल इसी प्रकार का वर्णन मिलेगा[1]। परमात्मा शिव हैं, पुरुष उनसे उत्पन्न हुआ और

(१) इदं दृश्यं यदा नासीत् सदसदात्मकञ्च यत्।
तदा ब्रह्ममयं तेजो व्याप्तिरूपञ्च सन्ततम्॥

... ...

कियता चैव कालेन तस्येच्छा समपद्यत।
प्रकृतिर्नाम सा प्रोक्ता मूलकारणमित्युत॥
अष्टौ भुजाश्च तस्यासन् विचित्रवसना शुभा।
राकाचन्द्र सहस्रस्य वदनं तस्य नित्यशः॥
नानाभरणसंयुक्ता नानागतिसमन्विता।
नानायुधधरा देवी प्रफुल्लपंकजाक्षिका॥
अचिन्त्यतेजसा युक्ता सर्वयोनि समन्विता।
एकाकिनी यदा माया संयोगाच्चाप्यनेकिका॥
यतो वै प्रकृतिर्देवी ततो वै पुरुषस्तदा।
उभौ च मिलितौ तत्र विचारे तत्परौ मुने॥

शिवपुराण, ज्ञान-संहिता (बंगवासी) २, अध्याय॥

प्रकृति को यहाँ नारायण और नारायणी कहा गया है।[१] महेश्वर इस प्रकृति और प्रकृतिलीन भोक्ता पुरुष के ऊपर हैं।[२] शिवपुराण के अन्तर्गत वायवीय संहिता में विष्णु और लक्ष्मी की नाईं शिव-शक्ति के वर्णन में भी कहा गया है, कि शिव विषयी है, शक्ति विषय है; शिव भोक्ता है, शक्ति भोग्या है, शिव प्रष्टा है, शक्ति प्रष्टव्य है; शिव द्रष्टा है, शक्ति द्रष्टव्य है; शिव आस्वादक है, शक्ति आस्वाद्य है, शिव मन्ता है, शक्ति मन्तव्य हैं।[३] वैष्णव मतानुसार जिस तरह क्षर और अक्षर को पुरुषोत्तम विष्णु का दो रूप कहा गया है, और पुरुषोत्तम को क्षराक्षर से ऊपर कहा गया है, शिवपुराण में भी इसी की पुनरावृत्ति दिखाई पड़ती है।[४]

ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण में लक्ष्मी बहुतेरे स्थलों पर दुर्गतिनाशिनी दुर्गा हैं। विष्णुपुराण में इन्द्र ने समुद्रोत्थिता पद्म-संभवा लक्ष्मीदेवी का सर्वभूतों की जननी, जगद्धात्री कहकर स्तवन किया है। उन्होंने और भी कहा है— 'तुम्हीं सिद्धि हो, तुम स्वाहा और स्वधा हो, तुम सन्ध्या, रात्रि, प्रभा, भूति, मेधा, श्रद्धा, सरस्वती हो। तुम यज्ञविद्या, महाविद्या, गुह्यविद्या और विमुक्तिफलदायिनी आत्मविद्या हो। तुम्हीं आन्वीक्षिकी (तर्कविद्या), त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति हो। हे देवि, तुम्हारे ही सौम्यासौम्य रूप से

---

(१) शिव-पुराण—२।२६; ७७।६

(२) स एव प्रकृतौ लीनो भोक्ता यः प्रकृते मतः ॥
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परं स महेश्वरः।
तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥

वही—वायवीय संहिता, पूर्वभाग, २८।२—३३

(३) वही—वायवीय संहिता, उत्तरभाग, ५।५६—६१

(४) क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
उभे ते परमेशस्य रूपं तस्य वशे यतः ॥
तयोः परः शिवः शान्तः क्षराक्षरपरः स्मृतः।
समष्टिव्यष्टिरूपञ्च समष्टिव्यष्टिकारणम् ॥

वही—वायवीय संहिता, उत्तरभाग

संसार भरा हुआ है।[१] लक्ष्मी का यह वर्णन और इस प्रकार के और भी अनेक वर्णनों से हम मार्कण्डेय-पुराणोक्त चण्डी के वर्णन का भलीभाँति मिलान कर सकते हैं। पद्म-पुराण के उत्तरखंड में लक्ष्मी का जो स्तव या स्वरूप-वर्णन पाते हैं, उसके अन्दर भी लक्ष्मी का मायारूप, प्रकृतिरूप,

---

(१) विष्णुपुराण, १।६।११६-११९

तुलनीय— त्वं भूतिः सन्नतिः कीर्तिः क्षान्तिर्द्यौः पृथिवी धृतिः ।
लज्जा पुष्टिरुषा या च काचिदन्या त्वमेव सा ।।
ये त्वामार्येति दुर्गेति वेदगर्भाऽम्बिकेति च ।
भद्रेति भद्रकालीति क्षेम्या क्षेमंकरीति च ।।
प्रातश्चैवापराह्णे च स्तोष्यन्त्यानम्रमूर्तयः ।
तेषां हि प्रार्थितं सर्वं मत्प्रसादाद् भविष्यति ।।
सुरामांसोपहारैस्तु भक्ष्यभोज्यैश्च पूजिताः ।
नृणामशेषकामांस्त्वं प्रसन्ना सम्प्रदास्यसि ।।

वही—५।१।८१-८४

और भीः— ब्रह्मश्रीश्च तपःश्रीश्च यज्ञश्रीः कीर्तिसंज्ञिता ।
धनश्रीश्च यशःश्रीश्च विद्या प्रज्ञा सरस्वती ।।
भुक्तिश्रीश्चाथ मुक्तिश्च स्मृतिर्लज्जा धृतिः क्षमा ।
सिद्धिस्तुष्टिस्तथा पुष्टिः शान्तिरापस्तथा मही ।।
अहं शक्तिरथौषध्यः श्रुतिः शुद्धिर्विभावरी ।
द्यौर्ज्योत्स्ना आशिषः स्वस्तिर्व्याप्ति र्माया उषा शिवा ।।
यत्किंचिद् विद्यते लोके लक्ष्म्या व्याप्तं चराचरम् ।
ब्राह्मणेष्वथ धीरेषु क्षमावत्स्वथ साधुषु ।।
विद्यायुक्तेषु चान्येषु भुक्तिमुक्त्यनुसारिषु ।
यद्यद्रम्यं सुन्दरं वा तत्तल्लक्ष्मीविजृम्भितम् ।।
किमत्र वहुनोक्तेन सर्वं लक्ष्मीमयं जगत् ।। इत्यादि ।।

ब्रह्मपुराण, १३७।३२-३६

सर्वव्यापिनी जगज्जननी शक्तिरूप सब मिलजुलकर एक हो गये हैं।[1] तंत्रादि में श्रीविद्याख्या पराशक्ति ललितादेवी के नाम से विख्यात हैं।[2] इस श्रीविद्या को 'ललिता' कहने का तात्पर्य यह है कि वे ही

---

(१) नित्यं सम्भोगमीश्वर्या श्रिया भूम्या च संवृतम् ।
नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी ।।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथा लक्ष्मीः शुभानने ।
ईशाना सर्वजगतो विष्णुपत्नी सदा शिवा ।।
सर्वतः पाणिपादान्ता सर्वतोऽक्षिशिरोमुखी ।
नारायणी जगन्माता समस्त जगदाश्रया ।।
यदपाङ्गाश्रितं सर्वं जगत् स्थावरजंगमम् ।
जगत्स्थितिलयौ यस्या उन्मीलननिमीलनात् ।।
सर्वस्याद्या महालक्ष्मी स्त्रिगुणा परमेश्वरी ।
लक्ष्यालक्ष्यस्वरूपा सा व्याप्य कृत्स्नं व्यवस्थिता ।।
शून्यं तदखिलं विश्वं विलोक्य परमेश्वरी ।
शून्ये तदखिलं स्वेन पूरयामास तेजसा ।।
सा लक्ष्मीर्धरणी चैव नीला देवीति विश्रुता ।
आधारभूता जगतः पृथिवीरूपमाश्रिता ।।
तोयादिरसरूपेण सैव नीलावपुर्भवेत् ।
लक्ष्मीरूपत्वमापन्ना धनवाग्रूपिणी हि सा ।।

:o: :o: :o:

लक्ष्मीः श्रीः कमला विद्या माता विष्णुप्रिया सती ।
पद्मालया पद्महस्ता पद्माक्षी लोकसुन्दरी ।।
भूतानामीश्वरी नित्या सद्या सर्वगता शुभा ।
विष्णुपत्नी महादेवी क्षीरोदतनया रमा ।।
अनन्ता लोकमाता भूर्नीला सर्वसुखप्रदा ।
रुक्मिणी च तथा सीता सर्वदेववती शुभा ।।
सती सरस्वती गौरी शान्तिः स्वाहा स्वधा रतिः ।
नारायणी वरारोहा विष्णोर्नित्यानपायिनी ।।

पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, २२७।१२–२०, २४–२७

(२) 'श्रीदेवी ललिताम्बिका'—ललितात्रिशती, ब्रह्माण्डपुराण ।

त्रिलोक में कान्तिरूपिणी हैं।[१] ब्रह्माण्ड-पुराण के अन्तर्गत 'ललिता-त्रिशती' में देखते हैं कि यह ललिता देवी एक ओर हैं—

ककाररूपा कल्याणी कल्याणगुणशालिनी ।
कल्याणशैलनिलया कमनीया कलावती ।।

दूसरी ओर वे हैं—

कमलाक्षी कल्मषघ्नी करुणामृतसागरा ।
कदम्बकाननवासा कदम्बकुसुमप्रिया ।।

इस देवी के वर्णन में कहा गया है कि वे 'लाक्षारससवर्णा' भी हैं। वेद के श्रीसूक्त के अन्दर लक्ष्मी शब्द की व्याख्या में भी सायणाचार्य ने निरुक्त का उल्लेख किया है— 'लक्ष्मीर्लाक्षालक्षणात्' कहकर। पद्मपुराण में कहा गया है कि कृष्ण खुद ही ललिता देवी हैं—जो देवी राधिका कहकर गायी जाती हैं। कृष्ण स्वयं योषित्-स्वरूप हैं, वे पुंरूपा कृष्ण-विग्रहा ललिता-देवी हैं; इन दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।[२] किसी-किसी पुराण में इस विष्णु-लक्ष्मी, ब्रह्म-माया, पुरुष-प्रकृति, शिव-दुर्गा के साथ राम-सीता भी मिल गए हैं।[३] यह लक्ष्मी विश्व-जननी के तौर पर त्रिगुणात्मिका प्रकृति के रूप में ही वर्णित नहीं हुई हैं, योनि-रूपा कहकर भी इनका बहुतेरे स्थलों पर वर्णन किया गया है। लक्ष्मी के इस प्रकार के समीकरण से उत्पन्न मिश्ररूप का वर्णन पुराणों में परिश्रम

---

(१) ब्रह्माण्डपुराण के अन्तर्गत 'ललितात्रिशती' पर शंकराचार्य के नाम से जो भाष्य प्रचलित है (देखो—'ललितात्रिशती-भाष्यम्'—श्रीवाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम्) उसमें 'ललिता' नाम की व्याख्या में कहा गया है 'ललित' त्रिषु सुन्दरम्'।

(२) अहं च ललितादेवी राधिका या च गीयते ।
अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मकः ।।
सत्यं योषित्-स्वरूपोऽहं योषिच्चाहं सनातनी ।।
अहं च ललिता देवी पुं-रूपा कृष्ण-विग्रहा ।
आवयोरन्तरं नास्ति सत्यं सत्यं हि नारद ।।

पातालखण्ड, ४४।४५।४६

(३) पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, २४३।३१–३७

से ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं; ये पुराणों में बड़ी आसानी से मिल जाते हैं।[1]

भारतीय तंत्रमत की एक बुनियादी बात यह है कि, जो कुछ भी भगवत्तत्त्व है वह सब कुछ हमारे शरीर के अन्दर है; इसलिए शरीरस्थ भिन्न-भिन्न चक्रों या भिन्न-भिन्न पद्मों में शिवधाम और शक्तिधाम का वर्णन किया जाता है। हम किसी-किसी पुराण में और वैष्णव संहिता में भगवद्धाम मथुरा, गोकुल, वृन्दावन आदि तथा इसी प्रकार के दूसरे वर्णन पाते हैं। साधारणतः माथुर-मंडल को अथवा गोकुल को सहस्रपत्रकमलाकार

---

(१) तुलनीय—बृहन्नारदीय-पुराण (बंगवासी):—

तस्य शक्तिः परा विष्णो र्जगत्कार्यपरिश्रया ।
भावाभावस्वरूपा सा विद्याविद्येति गीयते ॥
यदा विश्वं महाविष्णोर्भिन्नत्वेन प्रतीयते ।
तदा ह्यविद्या संसिद्धा तदा दुःखस्य साधनी ॥
ज्ञातृज्ञेयाद्युपाधिस्तु यदा नश्यति सत्तमाः ।
सर्वैकभावनाबुद्धिः सा विद्येत्यभिधीयते ॥
एवं माया महाविष्णोर्भिन्ना संसारदायिनी ।
अभेदबुद्ध्या दृष्टा चेत् संसारक्षयकारिणी ॥
विष्णुशक्तिसमुद्भूतमेतत् सर्वं चराचरम् ।
यस्याभिन्नमिदं सर्वं यच्चेदं यच्च नेंगते ॥
उपाधिभिर्यथाकाशो भिन्नत्वेन प्रतीयते ।
अविद्योपाधिभेदेन तथेदमखिलं जगत् ॥
यथा हरिर्जगद्व्यापी तस्य शक्तिस्तथा मुने ।
दाहशक्तिर्यथाङ्गारे स्वाश्रयः व्याप्य तिष्ठति ॥
उमेति केचिदाहुस्तां शक्तिं लक्ष्मीति चापरे ।
भारतीत्यपरे चैनां गिरिजेत्यम्बिकेति च ॥
दुर्गेति भद्रकालीति चण्डी माहेश्वरीति च ।
कौमारी वैष्णवी चेति वाराह्यैन्द्रीति चापरे ॥
ब्राह्मीति विद्याविद्येति मायेति च तथापरे ।
प्रकृतिश्च परा चेति वदन्ति परमर्षयः ॥
सेयं शक्तिः परा विष्णोर्जगत्सर्गादिकारिणी ।
व्यक्ताव्यक्तस्वरूपेण जगद्व्याप्य व्यवस्थिता ॥ ३।६–१६

धाम कहा जाता है; इसके बीच का जो कर्णिकार है, वही वृन्दावन धाम है।[1] इस सहस्रपत्रकमल को ही मस्तकस्थित सहस्रार पद्म कह कर वर्णन किया गया है।[2] तंत्र-मत के अनुसार यह सहस्रदल सहस्रार पद्म ही चरमतत्त्व की निवासभूमि है। गौड़ीय वैष्णवों, विशेष रूप से प्रामाणिक ग्रंथ—ब्रह्म-संहिता में, इस धाम तत्त्व का अवलम्बन करके विष्णु और उनकी शक्ति रमा देवी का जो वर्णन है, वह बिलकुल तंत्रानुरूप है। वहाँ कहा गया है कि सहस्रपत्रकमल ही गोकुल कहा जाने वाला महत्पद है; उस पद्म का कर्णिकार (गर्भकोष) उनका (परमकृष्ण का) आत्मधाम (वृन्दावन) है। वह धाम भी कृष्ण के अनन्तांश के एक अंश से पैदा हुआ है। यह कर्णिकार ही, 'महद्यंत्र' है; यह षट्कोण, वज्रकीलक है; यह 'षडङ्ग-षट्पदी स्थान' है। यहाँ पुरुष और प्रकृति दोनों ही हैं।[3] यहाँ देख

---

(१) स्वस्थानमधिकं नाम ध्येयं माथुरमण्डलम् ।
निगूढं विविधं स्थानं पुर्यभ्यंतरसंस्थितम् ।।
सहस्रपत्रकमलाकारं माथुरमण्डलम् ।
विष्णुचक्रपरिमाणं धाम वैष्णवमद्भुतम् ।।
सहस्रपत्रकमलं गोकुलाख्यं महत्पदम् ।।
कर्णिका तन्महद्धाम गोविन्दस्थानमुत्तमम् ।
तत्रोपरि स्वर्णपीठे मणिमण्डपमण्डितम् ।। इत्यादि

पद्मपुराण, पाताल खण्ड, (केदारनाथ भक्तिविनोद-सम्पादित) ३८ अध्याय

इस अध्याय में देह के अभ्यन्तर में केवल मथुरा—गोकुल का ही वर्णन नहीं है, देहस्थ किस कमल का कौन दल कृष्ण की गोकुलस्थ किस लीला की भूमि है इसका भी विशद वर्णन है।

(२) मथुरामण्डलमेतद्भूप सहस्रारपंकजं विद्धि ।
श्रीवृन्दावनभुवनं परमन्तत्कर्णिकारं च ।।
हंसास्तत्र महान्तो भक्ताः संसारसागरोत्तीर्णाः ।
तत्तत्त्वमगम्यं योगिभिरपि जन्मकोणिभिः ।। १९१-१९२

चित्रचम्पू, महामहोपाध्याय वाणेश्वर विद्यालंकार भट्टाचार्य विरचित।

(३) सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम् ।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांश-सम्भवम् ।।
कर्णिकारं महद् यत्रं षट्कोणं वज्रकीलकम् ।
षडक्ष-षट्पदी-स्थानं प्रकृत्या पुरुषेण च ।। २, ३

सकते हैं कि यह षट्कोण यंत्र ही तंत्रोक्त शक्ति-यंत्र है—यही देवी का पीठ या आसन है। यह महद्यंत्र ही षडक्षरी या द्वादशाक्षरी या अष्टा-दशाक्षरी मंत्र का स्थान है।[१] यहीं श्रीपुरुषोत्तम देवता प्रकृति-पुरुष के बीजतत्त्व के तौर पर या अधिष्ठातृ-देवता के तौर पर विराजमान रहते हैं। इस प्रकार के जो ज्योतिर्मय सदानन्द परात्पर देव हैं, वे आत्माराम हैं, अपने स्वरूप के अन्दर ही उनकी सारी आनन्दानुभूति होती है। यह आनन्दा-नुभूति बिलकुल अन्यनिरपेक्ष है। इसीलिए इस परम देवता का कभी भी प्रकृति के साथ या माया के साथ समागम नहीं होता है, लेकिन बिलकुल समागम कभी नहीं होता, यह नहीं कहा जा सकता है; जब वे सृष्टिकाम हो जाते हैं तब वह कालातीत कालाधीश पुरुष 'काल' को छोड़ देते हैं और उसी काल का ही आश्रय करके आत्ममाया या आत्मशक्ति रमा देवी के साथ रमण करते हैं। यह जो द्योतमाना प्रकाशरूपी रमा देवी हैं, यही विश्व की नियति हैं, वे विष्णुप्रिया हैं, सदा ही उनके वश में रहती हैं। ज्योतिरूप सनातन भगवान् शंभु ही उस परम देवता के लिङ्ग-स्वरूप हैं, और वह पराशक्ति ही योनि-स्वरूपा हैं, काम ही हरि का महत् बीज है। इस लिङ्ग-योनि से ही अखिल भूतगण पैदा हुए हैं।[२]

उपर्युक्त वर्णन को पढ़ने से दिखाई पड़ता है कि, क्या विचार की दृष्टि से, क्या भाषा की दृष्टि से—किसी भी दृष्टि से शैव-शाक्त तंत्रोक्तशक्तिवाद और वैष्णव-शास्त्रोक्त शक्तिवाद में कोई खास पार्थक्य करना संभव नहीं मालूम होता; समजातीय भाव और विचार ही मानो भिन्न-भिन्न वातावरण में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट हुए हैं।

---

(१) अष्टादशाक्षरी मन्त्र—क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन-व लभाय स्वाहा।'—इसके छः अंग हैं– यथा —(१) कृष्णाय (२) गोवि-न्दाय (३) गोपीजन (४) वल्लभाय (५) स्वा (६) हा।

(२) एवं ज्योतिर्मयो देवः सदानन्दः परात्परः।
आत्मारामस्य तस्यास्ति प्रकृत्या न समागमः॥
मायया रममाणस्य न वियोगस्तया सह।
आत्मना रमया रेमे त्यक्तकालं सिसृक्षया॥
नियतिः सा रमा देवी तत्प्रिया तद्वशं तदा।
तल्लिगं भगवान् शम्भुर्ज्योतीरूपः सनातनः।
या योनिः सा परा शक्तिः कामो बीजं महद्धरेः॥
लिंगयोन्यात्मिका जाता इमा माहेश्वरी-प्रजाः॥

पुराणोक्त विष्णुशक्ति लक्ष्मी के बारे में एक बात और भी देखी जा सकती है। पुराणादि में जहाँ-जहाँ विष्णु के कृष्ण-अवतार ने प्रधानता पाई है, वहाँ कृष्ण की महिषी रूक्मिणी ने ही विष्णु की महिषी लक्ष्मी के स्थान पर अधिकार किया है। रुक्मिणी को ही साधारणतः लक्ष्मी का अवतार कहकर वर्णन किया जाता है। इस प्रसंग में यह भी देखा जा सकता है कि अनेक पुराणों में रुक्मिणी के स्वयंवर और स्वेच्छा से कृष्ण को वरण करने की कथा वर्णित हुई है। लगता है पौराणिक युग में लक्ष्मी के भी स्वयंवर की धारणा प्रचलित थी। श्रीधर दास के 'सदुक्तिकर्णामृत' में इस लक्ष्मी-स्वयंवर के चार श्लोक संगृहीत हैं। वास्तव में यह लक्ष्मी का स्वयंवर और कुछ नहीं है—समुद्र से निकल कर लक्ष्मी ने स्वेच्छा से विष्णु का ही वरण किया था। इसीसे लगता है लक्ष्मी-स्वयंवर की बात गढ़ ली गई है और लक्ष्मी-स्वयंवर ने ही रुक्मिणी-स्वयंवर की धारणा और उपाख्यान को प्रभावित किया है। कृष्ण-लीला का प्रारंभ खिल-हरिवंश में दिखाई पड़ता है। इस खिल-हरिवंश में रुक्मिणी का साफ-साफ लक्ष्मी के तौर पर वर्णन न पाने पर भी हम देखते हैं कि उनका साक्षात् लक्ष्मी की भाँति वर्णन किया गया है।[१] यह साक्षात्-लक्ष्मीरूपी रुक्मिणी ही कृष्ण की प्रधान महिषी होने पर भी हमें खिल-हरिवंश में और विष्णु पुराणादि में कृष्ण की सात अन्य महिषियों के नाम मिलते हैं। 'हरिवंश' के अनुसार इन सात महिषियों के नाम हैं—कालिन्दी, मित्रवृन्दा, नाग्नजिती, जाम्बवती, रोहिणी, लक्ष्मणा और सत्यभामा। रुक्मिणी को लेकर कृष्ण की आठ पत्नियाँ थीं। विष्णुपुराण में भी प्रधान महिषी के तौर पर रुक्मिणी का, तथा कालिन्दी, मित्रवृन्दा, नाग्नाजिती, आदि सातों पत्नियों के नाम मिलते हैं। किसी-किसी पुराण में विष्णु की सोलह या सोलह हजार पत्नियों का भी उल्लेख मिलता है। कृष्ण की पत्नियों का विवेचन

---

१. तां ददर्श तदा कृष्णो लक्ष्मीं साक्षादिव स्थिताम्।
रूपेणाग्र्येण सम्पन्नां देवतायतनान्तिके ।।
वह्नेरिव शिखां दीप्तां मायां भूमिगतामिव।
पृथिवीमिव गम्भीरामुत्थितां पृथिवीतलात् ।। ५९। ३५-३६

तुलनीय—श्रीकृष्ण रूक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर। गोपालतापनी, पूर्वभाग, ४६।...शक्त्या समंहितः।

...रूक्मिण्या सहितो विभुः।। वही—उत्तरभाग, ३६। कृष्णात्मिका जगत्कर्त्री मूलप्रकृती रूक्मिणी। वही—उत्तरभाग, ५६।

किया जाय तो हम देखते हैं कि गीता में श्रीकृष्ण ने अपनी अष्टधा प्रकृति की बात कही है। शक्ति के अष्टधा भाग को लेकर ही शिव की अष्ट-मूर्त्ति की धारणा उत्पन्न हुई थी। लगता है, शक्ति या प्रकृति के अष्टधा भाग को लेकर ही कृष्ण की आठ महिषियोंके उपाख्यान आदि गढ़े गये हैं। दूसरी ओर हम देखते हैं कि शक्ति को सर्वत्र षोडश-कलात्मिका कहा गया है। उपनिषद् के युग से ही इस षोडस-कलातत्त्व का प्रचार चला आ रहा है। लगता है कि इन सोलह कलाओं ने ही कृष्ण की सोलह पत्नियों का रूप लिया है। चन्द्र सोलह कलाओं का है; तंत्रादि में या योगशास्त्र में सूर्य को जहाँ पुरुष या शिव का प्रतीक माना गया है चन्द्र को वहाँ शक्ति का प्रतीक माना गया है। श्रीसूक्त में वर्णित लक्ष्मी या श्री भी 'चन्द्रा' है; पुराणादि में भी लक्ष्मी के इस 'चन्द्रा' होने का उल्लेख है। यह षोडश-कलात्मिका 'चन्द्रा' लक्ष्मी ही संभवतः पुराणों में सोलह पत्नियों के रूप में दिखाई पड़ी है। कृष्ण की सोलह पत्नियों की जड़ में इन सोलह कलाओं की बात स्कन्द-पुराण के प्रभास-खंड में शिव-गौरी-संवाद में साफ हो गया है। वहाँ कहा गया है कि, पुराने जमाने में कृष्ण जब यादवों के साथ प्रभास के तीर पर आये थे तो उनके साथ सोलह हजार गोपियाँ भी आयी थीं। इनमें सोलह प्रधान गोपियों को गिना कर कहा गया है कि कृष्ण चन्द्र-स्वरूप हैं—ये सोलह गोपियाँ सोलह कला-रूपी सोलह शक्तियाँ हैं। चन्द्र जिस तरह प्रतिपदा आदि तिथियों का अवलम्बन करके संचरण करते हैं, उसी तरह कृष्ण यथाक्रम से इन गोपियों के साथ विहार करते हैं। प्रति-कलात्मिका प्रतिगोपी से ही हजार गोपियों का उद्भव हुआ। इस प्रकार कुल गोपियों की संख्या सोलह हजार हुई।[१] जीव गोस्वामी ने अपने 'श्रीकृष्ण-सन्दर्भ' में कहा है कि, लक्ष्मी ही श्रीभगवान् की षोडश-कलात्मिकास्वरूप शक्ति हैं—उस लक्ष्मीरूपी एक स्वरूप-शक्ति से ही सोलह कृष्णवल्लभा गोपियों का उद्भव हुआ है। दूसरी ओर सांख्यदर्शन की दृष्टि से देखते हैं कि प्रकृति ही सोलह विकार है। लगता है सांख्य में कहे गये प्रकृति के सोलह विकार ने भी कृष्ण की सोलह पत्नियों के उद्भव में सहायता की है। पुराणकारों ने प्रकृति के इस सोलह विकारों की बात बहुतेरे प्रसंगों में कही है, अतएव प्रकृति के इन सोलह विकार की

---

(१) **तस्यैताः शक्तयो देवी षोड़शैव प्रकीर्तिताः।**
चन्द्ररूपी मतः कृष्णः कलारूपास्तु ताः स्मृताः।
सम्पूर्णमण्डला तासां मालिनी षोड़शी कला।
प्रतिपत्तिथिमारभ्य संचरत्यासु चन्द्रमाः।।इत्यादि।

बात पुराण युग में ही प्रसिद्ध थी। सांख्य के अनुसार आठ प्रकृतियों और सोलह विकारों की बात हमें मिलती है।[१] इन आठ प्रकृतियों और सोलह विकारों का प्रभाव कृष्ण की महिषियों की आठ और सोलह संख्याओं पर होना संभव है।

---

(१) अपरे च आथर्वणिकाः "अष्टौ प्रकृतयः षोड़शविकाराः" (गर्भोः) इत्यभिधीयते। रामानुजाचार्य का श्रीभाष्य, ४पा, ७ सू।

छठा अध्याय

श्री तथा माध्व सम्प्रदायों में व्याख्यात विष्णुशक्ति श्री

आचार्य रामानुज द्वारा प्रचारित विशिष्टाद्वैत मत से ही वैष्णव धर्म दार्शनिक आधार पर मजबूती से प्रतिष्ठित हुआ। इसके पहले वैष्णव धर्म की नाना बातें नाना प्रकार से नानाशास्त्रों में बिखरी हुई थीं। लेकिन यह कितने ही स्थलों पर वायवाकार या तरलाकार में था। रामानुजाचार्य ने अपने पूर्ववर्त्ती काल में प्रचारित करीब-करीब सभी प्रसिद्ध वैष्णव मतों को ही ग्रहण किया है। उन्होंने इन सब को उपादान के तौर पर व्यवहार करके अपनी लोकोत्तर प्रतिभा से उसे एक दृढ़ और सुस्पष्ट मत में रूपायित किया। किसी-किसी पंडित का खयाल है कि, भारतवर्ष के धर्म के इतिहास में पहले पहल वैष्णव मत का जागरण बौद्ध धर्म की प्रबल नास्तिकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। बाद वाले युग में हम देखते हैं कि, आचार्य शंकर के अद्वैतावाद ने भारत में एक उथल-पुथल मचा दी थी। इस उथल-पुथल ने भारतवर्ष के भक्तिवाद की नींव हिला दी थी। उसे समझने की क्षमता भिन्न-भिन्न पुराण-तंत्र-संहिताओं में नहीं थी। शंकर की छुरे जैसी पैनी तर्क-बुद्धि का सामना करने के लिए उसी तरह की बलिष्ठ प्रतिभा की आवश्यकता थी। उसी प्रयोजन से रामानुजाचार्य का आविर्भाव हुआ। आचार्य रामानुज के बाद से दार्शनिक वैष्णव मत नाना प्रकार से निर्मित होने लगा; इन सभी मतों के मुख्य विरोधी आचार्य शंकर थे। वेदान्त के अद्वैतवाद के खंडन पर ही मध्व, निम्बार्क, बल्लभाचार्य आदि बाद के सभी प्रसिद्ध वैष्णवाचार्यों का दार्शनिक मत प्रतिष्ठित हुआ।

विष्णुप्रिया लक्ष्मी या श्री का रामानुज द्वारा प्रतिष्ठित वैष्णव सम्प्रदाय में एक विशेष स्थान है, शायद इसीलिए रामानुज द्वारा प्रतिष्ठित वैष्णव-सम्प्रदाय श्री-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के लोग लक्ष्मी-नारायण या श्री और भू-शक्ति युक्त अथवा श्री और 'तच्छायासंकाशा' भू और नीला देवी के साथ (लोकाचार्य के तत्त्वत्रय देखिये) विष्णु की

उपासना किया करते हैं।[१] श्री राम-सीता की उपासना भी इनके अन्दर बहुत प्रचलित है, लक्ष्मी-नारायण या लक्ष्मी-विष्णु सम्बन्धी किसी श्लोक का भाष्य करते हुए भाष्यकारों ने सीता-राम और उनके रामायण में जैसा वर्णित है, उसी तरह की घटनाओं का उल्लेख हमेशा किया है। हम इस प्रसंग में कह सकते हैं कि, रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर जो प्रसिद्ध भाष्य लिखा है, वह भी श्री-भाष्य के नाम से ही विख्यात है। लेकिन इस श्री-भाष्य के अन्दर भी लक्ष्मी या श्री का वैसा उल्लेख या उनके बारे में वैसा कोई विवेचन नहीं है। श्रीभाष्य में रामानुजाचार्य का माया-सम्बन्धी विवेचन सुप्रसिद्ध है। रामानुज ने माया को कभी मिथ्या नहीं माना है, माया की असत्यता लेकर शंकर से उनका प्रधान विरोध है। रामानुज के मतानुसार माया ब्रह्माश्रिता है, इसीलिए माया ब्रह्मशक्ति ही है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति इसी माया का ही रूप है, इसी प्रकृति से ही सारी सृष्टि हुई है। इन विषयों में रामानुज का मत गीता के पुरुषोत्तम का ही सोलहो आने परिपोषक है। क्षर-अक्षर, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति-पुरुष एक ही ब्रह्म के अन्दर विधृत है। उन्हीं से सब कुछ होता है। लेकिन वे किसी में भी नहीं हैं। गीता में और विष्णु-पुराणादि ग्रंथों में जैसे सृष्टि-प्रकरण में प्रकृति को स्वीकार किया गया है, लेकिन प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं की गई है, रामानुजाचार्य का मत भी इसीके अनुरूप है। सृष्टि का मामला प्रकृति के द्वारा साधित होता है सही में; लेकिन पुरुषोत्तम ही महेश्वर हैं, मायी हैं—वे ही मायाशक्ति प्रकृति के अधीश्वर हैं। इस प्रसंग में रामानुजाचार्य ने श्वेताश्वतर-उपनिषद् की प्रसिद्ध श्रुतियों,[२] गीता और विष्णु-पुराण के मतों को प्रधानतः अनुसरण और उद्धृत किया है। इस सृष्टिकार्य में लगी मायाशक्ति या प्रकृति से रामानुजाचार्य ने लक्ष्मी या श्री को किसी भी तरह नहीं जोड़ा है।

रामानुज-सम्प्रदाय में लक्ष्मी या श्री का जो एक विशेष स्थान और कार्य निर्दिष्ट है इसीलिए लगता है रामानुज-सम्प्रदाय श्री-सम्प्रदाय के नाम से परिचित है। यह बात सच है कि रामानुज-सम्प्रदाय द्वारा लिखी

(१) इस सम्प्रयाद के लोग छाती और बाहों पर गोपी चन्दन-मृत्तिका से शंख चक्र गदा पद्म का प्रतिरूप चिन्ह धारण करते हैं और इन शंखादि के बीच में लाल रेखा अंकित करते हैं; यह रेखा भी लक्ष्मी का प्रतीक मानी जाती है। देखिये—भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय अक्षय कुमार दत्त, प्रथम खंड।

(२) इस ग्रन्थ का १२ पृष्ठ देखिये।

शास्त्रराशि में लक्ष्मी का स्थान बहुत उल्लेखयोग्य नहीं है। लक्ष्मी के बारे में दार्शनिक विवेचन भी बहुत थोड़ा सा है। लेकिन इस सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त में श्री या लक्ष्मी का स्थान गौण होने पर भी इनके धर्ममत के अन्दर श्री एक मुख्य स्थान अधिकार किये हुए हैं। प्राचीन और अपेक्षाकृत नवीन श्री-सम्प्रदाय के आचार्यों की रचनाओं की विवेचना करने पर लगता है कि श्री या लक्ष्मी ईश्वर कोटि और जीव कोटि दोनों में मानों एक स्नेह प्रीतिमय सेतु बनाये हुए हैं। लक्ष्मी मंगलमयी हैं और करुणा-मयी हैं। उन्हें 'करुणाग्रानतमुखी' कहा गया है। अष्टोत्तर सहस्रनामों में भी कहा गया है 'करुणां वेदमातरम्'[१] इसीलिए ईश्वर कोटि में रहकर भी इस करुणामयी देवी की दृष्टि सदा दुःख-ताप क्लिष्ट अपनी संतानों के प्रति—संसार के बंधे हुए जीवों के प्रति रहती है। इसीलिए वे अपनी करुणा और प्रेम-स्नेह के द्वारा जीव को सर्वदा भगवन्मुखी करने की चेष्टा कर रही हैं—अपनी ब्रह्म-विद्यास्वरूपता के द्वारा जीवों के सभी अज्ञान-तम—सभी मायाच्छन्नता को दूर करने की चेष्टा कर रही हैं। दूसरी ओर वे विष्णु-स्वरूपभूता उनकी प्रियतमा प्रधान महिषी होने के कारण जीवों की ओर से परमेश्वर पर गहरा प्रभाव डाल रही हैं,[२] उनकी कृपा-दृष्टि प्रपन्नार्त जीवों की ओर खिंच रही है। मुक्त-जीव के तौर पर नित्यकाल ब्रह्मानन्द का आस्वादन करना ही श्रीवैष्णव-जनों का साध्य है—और इस साध्य के लिए प्रपत्ति या अनन्यशरणता ही प्रधान साधन है। इस प्रपत्ति के मुख्य साधन होने के कारण लक्ष्मी का स्थान भी मुख्य हो उठा।

प्रियतमा भगवत्-पत्नी और कल्याणमयी करुणामयी जीवमाता के तौर पर वे भगवान् और जीव, इन दोनों के बीच रहकर जीव को सुबुद्धि दान कर उसे निरंतर भगवन्मुखी कर रही हैं, और भगवान् को जीवमुखीन करके मुक्त हाथ से कृपा-वितरण करने के लिए उद्बुद्ध कर रही हैं। लक्ष्मी के इस प्रकार के वर्णनों के पीछे सदा एक

---

(१) यामुनाचार्य के 'चतुःश्लोकी' के द्वितीय श्लोक का वेकंटनाथ कृत भाष्य देखिए।

(२) देखिए—

तन्त्वां दास इति प्रपन्न इति च स्तोष्याम्यहं निर्भयो।
लोकैकेश्वरि लोकनाथदयिते दान्ते दयां ते विदन्॥
यामुनाचार्य का चतुःश्लोकी, २ श्लोक।

मानवीय दृष्टान्तने प्रभावित किया है, वह दृष्टान्त है, आदर्श गृहिणी का दृष्टान्त। वह स्वामी के लिए प्रेममयी पत्नी है—दूसरी ओर संतान के लिए स्नेहमयी माता हैं। साधारण गार्हस्थ्य जीवन में देखा जाता है कि, पुत्रों और पिता में जो स्नेह का सम्बन्ध होता है, उसमें अन्तर का एक बारीक पर्दा सा पड़ा रहता है, लगता है, मानों पुत्र हमेशा पिता की इच्छा भली-भाँति नहीं समझ पाते हैं, समझ पाने पर भी सभी पुत्र पिता की उस इच्छा का पालन करके उनके बिल्कुल प्रिय-स्नेहपात्र बनने की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं दिखाते, पिता से कन्नी काट कर वे मानो बहिर्मुखी होना चाहते हैं। लेकिन माँ बीच में रहती है। वे प्रेममयी प्रियतमा के तौर पर पति के स्वरूप और इच्छा को भी सबसे अच्छी तरह जानती हैं, और स्नेहमयी संतान वत्सला होने के कारण पुत्रों की चरित्र-प्रवणता, दोष-गुण को भी भलीभाँति जानती हैं। इस दशा में वे स्नेहप्रीति द्वारा सन्तानों में शुभ-बुद्धि उत्पन्न करने की चेष्टा करती हैं, और धीरे-धीरे उन्हें पिता की इच्छा की ओर मोड़ने की कोशिश करती हैं। इसके अलावा वे चेष्टा करती हैं किंचित् उदासीन पिता की सक्रिय स्नेहदृष्टि को संतानों के प्रति आकृष्ट करने की और सहजात प्रवृत्ति के वश गलत रास्तेपर चलने वाले पुत्रों के सारे दोषों को क्षमा करके उन्हें निकट बुलाने की प्रेरणा देने की। लक्ष्मी का कार्य भी इसी प्रकार का है। अविद्यारूपी माया द्वारा मोहित जीवगण भगवत्-स्वरूप और भगवत्-इच्छा भलीभाँति नहीं समझ पाते हैं; जितना समझ पाते हैं, उससे उनकी सहजात प्रवृत्ति उन्हें भगवद्-विपरीत दिशा में खींच ले जाती है। इधर षड्गुणशाली ब्रह्माण्ड के अधीश्वर—लेकिन गुणमय होते हुए भी गुणातीत—ऐसे विष्णु की दृष्टि शायद सर्वदा जीव अभिमुखी नहीं रहती है; बीच की लक्ष्मी दोनों को एक दूसरे की ओर मोड़कर अपने प्रेममयी होने की सार्थकता प्राप्त करती हैं। रामानुजाचार्य के चतुःश्लोकी के भाष्य में बेंकटनाथ ने कहा है, "कर्मार्हफलद पति के (विष्णु के) प्रति श्री देवी के दो कृत्य हैं; एक है निग्रह से वारण, दूसरा है अनुग्रह का सन्धुक्षण।"[१] इसी प्रसंग में श्री विष्णुचित्त का मत भी उद्धृत किया गया है। उन्होंने कहा है कि मातृरूपी श्री के शरण में सभी जाते हैं। माता हित की अपेक्षा पुत्र को जो कुछ प्रिय है, उसकी ओर ही ध्यान रखती है, पिता की दृष्टि दोनों की ओर रहती है, इसीलिए पिता जैसा दण्डधर होता है माता

(१) **अस्ति कर्मार्हफलदे पत्यौ कृत्यद्वयं श्रियः।**
निग्रहाद्वारणं काले सन्धुक्षणमनुग्रहे ॥

वैसी नहीं होती। इसका मतलब यह नहीं कि लक्ष्मी उसका दमन नहीं करती है। सीता की तेजोमयी आग में जलकर ही रावण श्रीराम के कोप में पड़ा था। यह मातृरूपी लक्ष्मीदेवी 'प्रणिपात-प्रसन्ना,' 'क्षिप्रप्रसादिनी देवी', 'सदानुग्रहसम्पन्ना' हैं, वे 'क्षान्तिरूपिणी,' 'क्षमारूपिणी', 'अनुग्रह-परा, अनघा' हैं। वे सदा ही अनिष्ट निवर्तन और इष्ट प्रापण-गर्भ करुणा-निरीक्षण के द्वारा सब कुछ की रक्षा कर रही हैं। इन्द्र-ब्रह्मादि सभी देवताओं का ऐश्वर्य उनके कटाक्ष के अधीन है। पुरुषोत्तम देव जैसे श्रीकान्त हैं, श्री भी उसी तरह 'अरविन्दलोचनमनःकान्ता' हैं, इस प्रकार की परस्पर की अनुकूलता के द्वारा ही सभी मामलों में दोनों में सामरस्य रहता है; इसीलिए श्री के प्रसाद के अलावा किसी को श्रेयोलाभ नहीं होता,[१] केवल ऐहिक श्रेय नहीं, इनकी कृपा के विना मोक्ष भी संभव नहीं हो पाता है। लक्ष्मी की इस अनन्त कृपामयी मातृमूर्ति के सम्बन्ध में लोकाचार्य ने अपने श्रीवचनभूषण नामक ग्रन्थ में और वरवर मुनि ने इस ग्रंथ के विस्तृत भाष्य में बड़े सुन्दर ढंग से विवेचन किया है। विष्णु और लक्ष्मी का अवतार राम-सीता का अवलम्बन करके और वाल्मीकि-रामायण में वर्णित उपाख्यानों का अवलम्बन करके लोका-चार्य ने इस विषय में विस्तृत विवेचन किया है।

वैष्णव जनों में लक्ष्मी के सम्बन्ध में इस दृष्टि का आभास हमें पुराणादि में ही मिलता है।[२] पद्मपुराण के स्वर्गखण्ड में हम देखते हैं कि लक्ष्मी ही मध्यस्थ होकर सभी दोषों के आकर हिरण्यकशिपु पर भी विष्णु की कृपा बरसाने का काम कर रही हैं।[३] ब्रह्मपुराण में हम देखते हैं कि, जगत्-स्रष्टा जगन्नाथ, सर्वलोक-विधाता अव्यय वासुदेव का प्रणाम करके पद्मजा लक्ष्मी देवी सभी लोकों की हितकामना से प्रश्न पूछ रही हैं। यह जो मर्त्यलोक रूपी महाश्चर्य कर्मभूमि है—यह जो लोभ, मोहग्रस्त, काम-क्रोध महार्णव है—यह जो विस्तृत संसार-सागर है—इससे जीवगण कैसे

---

(१) चतुःश्लोकी, तृतीय श्लोक।

(२) वेंकटनाथ ने यामुनाचार्य के 'चतुःश्लोकी' के तृतीय श्लोक के भाष्य में विभिन्न पंचरात्र संहिता और पुराणादि से इस मत का प्रतिपादन करने वाले बहुतेरे श्लोक ढूढ़ निकाले हैं।

(३) २३८।१२४--३० (बंगवासी)

छुटकारा पायेंगे, यही प्रश्नों का विषय है ।[१] इस प्रसंग में हम देख सकते कि देवी-चरित्र की यह विशेषता वैष्णव शास्त्रों में वर्णित लक्ष्मी देवी की ही विशेषता नहीं है, इसे भी हम भारतवर्ष के शास्त्रों में वर्णित देवी-चरित्र की ही विशेषता कह कर उल्लेख कर सकते हैं। शैव-शाक्त आगमों में अधिकांश शिव-पार्वती के प्रश्नोत्तर के रूप में लिखे गये हैं; हम सभी जगह देखते हैं कि जीवों के दुख से विगलित-हृदया देवी जीवों की हित कामना के लिए, जीवों की मुक्ति का उपाय निर्धारित करने के लिए परमेश्वर शिव से सारे तत्त्व और साधन पंथाओं के बारे में प्रश्न कर रही हैं; देवी के प्रति गहरे प्रेम के कारण ही महेश्वर शिव देवी के सामने जीवमुक्ति के सारे तत्त्व और पंथाओं के बारे में उपदेश दे रहे हैं। मध्ययुग के कुछ कुछ बंगला ग्रन्थों में भी इस प्राचीन धारा के चिह्न दिखायी पड़ते हैं। बहुतेरे बौद्ध तन्त्र भी इसी तरह से लिखे गये हैं। वहाँ भी करुणाविगलित भगवती—प्रज्ञा ही जीवहित कामना के लिये सारे प्रश्न कर रही हैं, भगवान् बज्रेश्वर-हेवज्र या हेरुक इन प्रश्नों के उत्तर में सारे तत्त्वों और साधनों की व्याख्या की है।[२] अतएव जीवों की मंगल कामना के लिए करुणा-विगलित देवी की यह जो सन्तानवत्सला मातृमूर्ति है, यह भी भारतवर्ष की ही साधारण मातृमूर्ति है। विशेष सम्प्रदाय में आकर इसने एक विशेष मूर्ति धारण की है।

श्रीसम्प्रदाय के आचार्यों ने पंचरात्र शास्त्र और मुख्यतः पुराणों का अवलम्बन करके ही लक्ष्मी के इस विशेष रूप को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। श्रीसम्प्रदाय में श्री या लक्ष्मी के विषय में जिन ग्रन्थों में विवेचन है उनमें प्राचीन मतावलम्बी के तौर पर रम्ययामातृ मुनि का

---

(१) तत्र स्थितं जगन्नाथं जगत्-स्रष्टारमव्ययम् ।
सर्वलोकविधातारं वासुदेवाख्यमव्ययम् ॥
प्रणम्य शिरसा देवी लोकानां हितकाम्यया ।
पप्रच्छेमं महाप्रश्नं पद्मजा तमनुत्तमम् ॥
श्रीरुवाच
ब्रूहि त्वं सर्वलोकेश संशयं मे हृदि स्थितम् ।
मर्त्यलोके महाश्चर्ये कर्मभूमौ सुदुर्लभे ॥
लोभमोहग्रहग्रस्ते कामक्रोधमहार्णवे ।
येन मुच्येत देवेश अस्मात् संसारसागरात् ॥४५।१६–१६

(२) वर्त्तमान ग्रन्थ के लेखकके An Introduction To Tantric Buddhism और Obscure Religious Cults इन दोनों ग्रंथों को देखिए ।

'शास्त्रदीप' और यामुनाचार्य के 'चतुःश्लोकी' और 'श्रीस्तोत्ररत्न' का उल्लेख किया जा सकता है। यामुनाचार्य के दोनों ग्रन्थों और रामानुजाचार्य के सुप्रसिद्ध 'गंद्यत्रय' का भाष्य लिखा है 'कवितार्किक-सिंह' श्री वेंकट नाथ, सभी भाष्यों का नाम 'रहस्यरक्षा' है। इन रहस्यरक्षा नामक तीनों ग्रन्थों में ही श्रीवैष्णवों का श्रीतत्त्व सबसे अच्छी तरह विवेचित हुआ है। लोकाचार्य के 'श्रीवचन-भूषण' ग्रन्थ के सम्बन्ध में भी बहुत विवेचन है। श्री के सम्बन्ध में श्रीवैष्णवों के सभी विवेचनों में हम देखते हैं कि विष्णु-कैंकर्य को साध्य रखकर लक्ष्मी प्राप्ति को साधन के तौर पर ग्रहण किया गया है। यामुनाचार्य के चतुःश्लोकी के प्रथम श्लोक 'कान्तस्ते पुरुषोत्तमः' आदि श्लोकों की व्याख्या करते हुए वेंकटनाथ ने लिखा है[1] कि, लक्ष्मी केवल विष्णु की सहधर्मिणी नहीं हैं, 'सर्वप्रकार अभिमतानुरूपा' धर्मपत्नी हैं। यहाँ इस 'कान्त' शब्द के अन्दर ही लक्ष्मी का विष्णु के सम्बन्ध में सभी प्रकार की अनुरूपता का भाव द्योतित हुआ है; 'ते' शब्द के अन्दर लक्ष्मी का सर्वमंगला के रूप में प्रसिद्ध का परिचय है, और पुरुषोत्तम-कान्ता होने के कारण विष्णुप्रिया के तौर पर लक्ष्मी का श्रेष्ठत्व भी दिखाया गया है। विष्णु की नाईं लक्ष्मी की फणिपतिशय्या और गरुड़ वाहन हैं। यह श्री ही वेद की आत्मा (अथवा वेद ही श्री की आत्मा) होने के कारण यह देवी 'वेदात्मा' हैं,[2] त्रिगुणरूप तिरस्कारिणी के द्वारा 'भगवत्-स्वरूप-तिरोधानकारी' होने के कारण ये 'यवनिका' हैं; ये ही प्रकृतिरूपिणी माया हैं। जीव-परामात्मादि विषयों में विपरीत-बुद्धि सृष्टि करने के कारण वे 'जगन्मोहिनी' हैं; और यही देवी मुक्ति-प्रदा श्री हैं। कहा गया है कि "यह देवी खुद सेवा करती हैं (विष्णु की) और सेवित होती हैं (देव नर सभी के द्वारा), सब कुछ सुनती हैं, सब कुछ को मिश्रित करती हैं; अखिल दोषों को नष्ट करती हैं, और गुण के द्वारा संसार को बदलती हैं; अखिल संसार जिनका नित्य आश्रय करता है और जो परमपद को प्राप्त कराती हैं—वे ही श्रीदेवी हैं[3]।"

(१) आर, वेंकटेश्वर एण्ड कम्पनी (मद्रास) से प्रकाशित।

(२) 'वहेयं यज्ञं प्रविशेयं वेदान्' इति सौपर्ण-श्रुतिविवक्षितं वेदाभिमानिदेवताधिष्ठातृत्वम् इत्यादि। भाष्य।

(३) श्रयन्तीं श्रीयमाणां च शृण्वतीं श्रृणतीमपि।
शृणाति निखिलं दोषं श्रृणोति च गुणैर्जगत्॥
श्रीयते चखिलैर्नित्यं श्रयते च परं पदम्॥
वेंकटनाथ के माष्य में धृत।

परमात्मा रूप अमृत की आधारभूता होने के कारण इस देवी को 'अकलंकाऽमृतधारा' कहते हैं। क्योंकि भगवान् पुरुषोत्तम इस देवी के आश्रय हैं, और उनकी (पुरुषोत्तम की) मूर्ति भी तदात्मिका है।[१] इसलिये पुरुषोत्तम 'श्रीनिवास' और 'श्रीधर' हैं। यह देवी निर्दोषमंगल गुणों का आकर होने के कारण भगवती हैं। ब्रह्मादि देवतागण भी इस देवी की महिमा का कीर्तन नहीं कर पाते हैं, परिमितज्ञानशक्ति वाला मनुष्य फिर उनकी बात कैसे करेगा?[२]

लक्ष्मी के बारे में कोई-कोई कहते हैं कि, ब्रह्म की जो जगदुत्पादिका शक्ति है वही प्रकृति के नाम से प्रसिद्ध है, यह मूल-प्रकृति ईशानी ही श्री आदि नाम-सहस्र के द्वारा कीर्तित होती हैं, और प्रकृति-पुरुष के अलावा कोई तीसरा सत्य न होने के कारण लक्ष्मी और नारायण ही यह प्रकृति-पुरुष हैं। कोई कहते हैं कि सत्तादियुक्त भगवान् ही श्री हैं, कोई कहते हैं कि, दैत्यादि मोहनादि के लिये भगवान् ही कभी-कभी खुद ही कान्ता-विग्रह ग्रहण करते हैं, वही श्री हैं। लेकिन श्रीवैष्णवगण इनमें से किसी भी मत को नहीं मानते हैं; प्रसिद्ध पंचरात्रमत और पुराणमत से एकमत होकर वे भी समझते हैं कि नारायण प्रकृति-पुरुषात्मक हैं, लेकिन दोनों से ऊपर अवस्थित पुरुष हैं। चन्द्र की ज्योत्स्ना की नाईं लक्ष्मी और नारायण धर्मधर्मी के तौर पर अवस्थित हैं। किसी-किसी के मतानुसार अंकुरोपादानांश की भाँति विश्वोपादान-स्वरूप 'ब्रह्म' के कार्योपयुक्त-स्वरूपैकदेश ही स्वभावतः अथवा परिणति शक्ति द्वारा या उपाधिभेद के द्वारा जो भिन्नाहन्ता-आश्रय ग्रहण करते हैं, वही श्री के तौर पर परिगणित होता है; ऐसा मत भी समीचीन नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के रूप-परिणामादि वेदान्त में ही निरस्त हैं, 'यह श्री विष्णु की अनपायिनी शक्ति हैं', 'असिताक्ष देववर त्रिलोक के सब कुछ को ग्रहण करके जैसे अवस्थान करते हैं, यह वरदा लक्ष्मी भी उसी तरह अवस्थान करती हैं', 'इन दोनों से श्रेष्ठ और

(१) यतोऽहमाश्रयश्चास्या मूर्त्तिर्मम तदात्मिका।
वही भाष्यधृत सात्वत-संहिता।

(२) कान्तस्ते पुरुषोत्तमः फणिपतिश्शय्याऽसनं वाहनं
वेदात्मा विहगेश्वरो यवनिका माया जगन्मोहिनी।
ब्रह्मेशादिसुरव्रजस्सदयितस्त्वद्दासदासीगणः
श्रीरित्येव च नाम ते भगवति ब्रूमः कथं त्वां वयम्॥
चतुःश्लोकी, वेंकट कृत भाष्ये में धृत।

कुछ नहीं है', 'ये दोनों एक तत्त्व की नाईं उदित हैं'—इन सारे पुराण वचनों के द्वारा भी लक्ष्मी और विष्णु का भेद माना गया है। दूसरे मत के अनुसार कहा जा सकता है कि, निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म-स्वरूप की तिरोधानकरी मिथ्याभूता माया ही कल्पित रूप विशेष के द्वारा उपश्लिष्ट होकर ब्रह्मप्रतिच्छदवती के रूप में लक्ष्मी कही जाती हैं। यह मत भी इसलिए ठीक नहीं है कि इस तरह से ब्रह्म-स्वरूप का कभी तिरोधान ही नहीं हो सकता है।

शास्त्रों से हम जानते हैं कि, प्रलय की दशा में एकमात्र ब्रह्म अवस्थान कर रहे थे; वैष्णवगण कहेंगे कि, इस प्रलय की दशा में भी लक्ष्मी उसी एक पुरुषोत्तम के साथ अवस्थान कर रही थीं; क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है कि, 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्', वे स्वधा के द्वारा (सहित) अकेले अवस्थान कर रहे थे। पुराणादि के मतानुसार स्वधा लक्ष्मी हैं, क्योंकि पुराण में लक्ष्मी के बारे में कहा गया है कि, 'स्वधा त्वं लोक-पावनी'। महाभारत में (?) लक्ष्मी ने खुद कहा है—'अहं स्वाहा स्वधा चैव'।[१] लेकिन तब समस्या उठ खड़ी होती है कि, इस 'स्वधा' पर ही अगर प्रलय की दशा में ब्रह्म का प्राणत्व निर्भर करता है तो स्वाधीन सर्वसत्ताक ब्रह्म का प्राणनत्व स्वधा-रूपिणी लक्ष्मी के अधीन हो जाता है। वास्तव में यह लक्ष्मी या स्वधा ब्रह्मेतर कोई वस्तु नहीं है; 'स्वस्मिन् धीयते'—स्वधा शब्द की इस व्युत्पत्ति को मान लेने से स्वधा-रूपिणी लक्ष्मी का तात्पर्य होता है ब्रह्म की ही स्वकीय विश्वधारण सामर्थ्य। महाभारत में जहाँ कहा गया है—'हे द्विजोत्तम, मैं अपने बाद के चराचर सर्वभूत की सृष्टि करके विद्या के साथ अकेला विहार करूँगा;[२] अथवा जहाँ कहा गया है, 'मैं ही मेधा श्रद्धा सरस्वती हूँ,' 'मैं ही श्रद्धा और मेधा हूँ,' 'श्रद्धा के द्वारा ही देव देवत्व भोग करते हैं'—इन स्थलों पर विद्या, मेधा, श्रद्धा, सरस्वती आदि कोई भी ब्रह्म को अपने अधीन नहीं करती हैं, परन्तु इनके योग से वे महिमान्वित हो उठते हैं, जैसे महिमान्वित होते हैं सूर्यदेव अपनी प्रभा से, अथवा जैसे किसी पुरुष को द्योतमानत्व की प्राप्ति होती है अभिरूप आभरण के योग से। परदेवता की विहरणादि-रूपी जो 'देवन'–क्रिया है वह सभी प्रकार से तदनुरूपा 'सर्वातिशायिनी प्रीति'–रूपिणी स्ववल्लभा के साथ ही परमोत्कर्ष प्राप्त होती है।

---

(१) चतुःश्लोकी के वेंकटनाथ कृत भाष्य में धृत।
(२) वही।

लक्ष्मी के स्वरूप के निर्धारण के प्रसंग में वेंकटनाथ ने अपने भाष्य में एक ध्यान देने योग्य प्रश्न उठाया है। रामानुज-सम्प्रदाय के वैष्णव तीन कोटि को स्वीकार करते हैं—ब्रह्म-कोटि, जीव-कोटि (चित्) और जड़-कोटि (अचित्); अब प्रश्न यह होता है कि लक्ष्मी की सत्ता इन तीन कोटियों में किस कोटि के अन्तर्गत होगी? इस विषय में रम्ययामातृ मुनि के 'तत्त्वदीप' में जो प्राचीन मत मिलता है उसमें देखा जाता है कि लक्ष्मी जीव-कोटिभुता हैं और इसलिए अणु-स्वभावा हैं।[१] लेकिन परवर्ती काल के वैष्णवगण लक्ष्मी के इस अणुस्वभावत्व को स्वीकार नहीं करते हैं; विष्णु की नाईं लक्ष्मी भी विभु-स्वभावा हैं। लक्ष्मी चेतनशीला हैं। इसलिए उनके अचिदन्यत्व को स्वीकार करना होगा; विभुत्व के कारण जीवान्यत्व को स्वीकार करना पड़ता है, और पारतंत्र्य के कारण उनके ईश्वरान्यत्व को मानना पड़ेगा। वस्तुतः 'पतिपुत्र-व्यावृत्त-पत्नी-न्याय' द्वारा लक्ष्मी की ऊपर लिखी तीन कोटियों के अलावा एक कोट्यन्तर को भी स्वीकार करना होगा। वहाँ लक्ष्मी की सत्ता जिस तरह भगवदधीना है, भगवान् का वैभव भी उसी तरह रत्नप्रभान्याय से या पुष्प-परिमलन्याय से लक्ष्मी के आयत्त है।

रामानुजाचार्य के गद्यत्रय ग्रंथ में देखते हैं कि नारायण की शरणागति प्राप्त करने के लिए उन्होंने शुरू में ही अनन्यशरण होकर 'अशरण्य-शरण्या' लक्ष्मी की शरण ली है। इस 'गद्यत्रय' के भाष्य में वेंकटनाथ ने कहा है कि शुरू में ही लक्ष्मी की शरणापत्ति का कारण यह है, "इस लक्ष्मी का आश्रय करके ही अचिर ही और सुख से गुणोदधि को पार कर सकते हैं।"[२] लक्ष्मी ही यज्ञविद्या, महाविद्या, गुह्यविद्या और आत्मविद्या हैं और वही विमुक्तिफलदायिनी हैं;[३] ज्ञान और मुक्ति प्रदान करने में श्री ही अनुग्रहैक-स्वभावा हैं। और विष्णु से भी लक्ष्मी अनन्या हैं लक्ष्मी से भी विष्णु अनन्य हैं,[४] अतएव एक के आश्रय से ही दूसरे का आश्रय

---

(१) A History of Indian Philosophy—S. N. Das Gupta, Vol. III, p. 89.

(२) वेंकटनाथ के भाष्य में धृत सात्वत-संहिता।

(३) विष्णु-पुराण।

(४) 'अनन्या राघवेणाऽहम्' 'अनन्या ही मया सीता।'

तुलनीय—श्रीवचणभूषण, लोकाचार्य-प्रणीत, वरवर मुनिकृत व्याख्या, पुरी संस्करण १९२६, ४८ पृष्ठ।

और भी तुलनीय—अस्या देव्या मनस्तस्मिंस्तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम्। तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति। वेंकटभाष्यधृत।

प्राप्त होता है। परिपूर्ण सामरस्य के कारण यह सूक्ष्ममिथुन 'परस्पर-विचिह्लित' है, और मूल में अन्योन्यमिश्रत्व के कारण ये अन्योन्यप्रति-पादक हैं।[1] प्रभा और प्रभावान् का अन्योन्याश्रय जिस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष-युक्त नहीं होता, लक्ष्मी और विष्णु का अन्योन्याश्रयत्व भी उसी प्रकार दोषयुक्त नहीं है। रामानुजाचार्य ने जिस लक्ष्मी की शरणागति ली है वह लक्ष्मी कैसी हैं? वे रूप, गुण, विभव, ऐश्वर्य, शीलादि सभी क्षेत्रों में बिल्कुल विष्णु के अनुरूप हैं, विष्णुयोग्या हैं, इसलिए विष्णुप्रिया हैं, विष्णु की नित्यानुकूला हैं।[2] ये षडैश्वर्यशालिनी हैं, इसलिए भगवती हैं; ये नित्या, अनपायिनी, निरवद्या, देवदेवदिव्यमहिषी हैं और अखिल जगन्माता हैं।

लोकाचार्य के श्रीवचनभूषण और वरवरमुनिकृत उसकी व्याख्या में देखते हैं कि, सीता-रूपी लक्ष्मी ने जो रावण द्वारा अत्याचार सहकर कारागार वरण किया था, उसके अन्दर भी तापक्लिष्ट बँधे जीवों के प्रति उनकी सहानुभूति ही प्रकट हुई है।[3] लक्ष्मी के इस स्नेह-प्रीति-जनित कृपा-वैभव को 'पुरुषकार' वैभव कहा जाता है; और नारायण के इस प्रकार के वैभव को 'उपाय' वैभव कहते हैं। शास्त्र में कहा गया है कि संसार के गिरे हुए जीवों की भगवत्-प्राप्ति के लिए लक्ष्मी ही महर्षियों द्वारा पुरुषकारत्व के रूप में निर्दिष्ट हुई हैं। भगवान् लक्ष्मीपति ने स्वयं भी उसकी प्राप्ति के उपाय के तौर पर लक्ष्मी को ही स्वीकार किया है।[4] नारायण की दूसरी दिव्यमहिषियाँ और सूरि आदि का भी लक्ष्मी-सम्बन्ध के द्वारा ही पुरुषकारत्व हैं। जीव से ईश्वर और लक्ष्मी का समान सम्बन्ध होने पर भी जीव ईश्वर का आश्रय-ग्रहण न करके क्यों पहले लक्ष्मी का ही आश्रय ग्रहण करता है, इस प्रश्न के उत्तर में

---

(१) तदेतत् सूक्ष्ममिथुनं परस्परविचिह्लितम्।
आदावन्योन्यमिश्रत्वादन्योन्यप्रतिपादकम्॥
'गद्यत्रय' का वेंकटभाष्य में धृत।

(२) तुलनीय—
गुणेन रूपेण विलासचेष्टितैः
सदा तवैवोचितया तव श्रिया॥
यामुनाचार्यकृत 'स्तोत्ररत्न' ३८।

(३) श्रीवचनभूषण, पंचम वचन।

(४) सप्तम वचन की वरवर मुनिकृत व्याख्या में उद्धृत श्लोक देखिए।

पूर्वोक्त अनन्त क्षमाशीला लक्ष्मी के मातृत्व और ईश्वर के हितकामी दण्डधारी कठोर पितृत्व का ही उल्लेख किया गया है। ईश्वर निग्रहानुग्रह दोनों ही के कर्त्ता हैं, लेकिन लक्ष्मी अनुग्रहैक-स्वभावा हैं, इसीलिए ईश्वर-कृपा से लक्ष्मी-कृपा श्रेष्ठ है। सीता के रूप में मनुष्याकार में लक्ष्मीदेवी का जो प्रथम आविर्भाव है वह केवल अपनी कृपा प्रकट करने के लिए है।[1] लक्ष्मी की कृपा जीव के प्रति अनुग्रह करने के लिए भी है, और ईश्वर को प्रेम के वश में करने के लिए भी है। संश्लेषदशा में ईश्वर को वशीभूत करती हैं, और विश्लेष दशा में जीव को वशीभूत करती हैं।[2] स्नेह और प्रेम के उपदेश द्वारा ही वे दोनों को वश में करती हैं। और उपदेश से काम न बनने पर चेतन जीव को वे कृपा के द्वारा और ईश्वर को सौंदर्य के द्वारा वशीभूत करती हैं।[3]

पहले ही कहा है कि लक्ष्मी के बारे में श्रीवैष्णवों का विवेचन पंचरात्र और पुराण के मतों पर ही प्रतिष्ठित है। श्रीवैष्णवों ने इसके साथ थोड़ी-सी अपनी दार्शनिक दृष्टि जोड़ दी है, थोड़ा-सा धर्मविश्वास जोड़कर विष्णु-शक्ति के कृपामय रूप को प्रधानता दी है। लेकिन इससे भी लक्षणीय एक सत्य हम श्रीवैष्णवों के विवेचन में देखते हैं, वह है लीलावाद। हमने पंचरात्र, काश्मीर-शैवधर्म, पुराणादि में भी इस लीलावाद का उल्लेख देखा है, लेकिन हमने पहले यह भी देखा है कि, यह लीला वही सृष्टि-लीला है, जो विश्व-सृष्टि के रूप में अपनी विचित्र अभिव्यक्ति करती है और उसे फिर बीजरूप में अपने ही अन्दर निःशेष संहरण करती है, यही लीला का तात्पर्य है; लेकिन स्वरूपभूता शक्ति से किसी लीला का आभास हमें अब तक नहीं मिला है। हाँ, लक्ष्मी या कमला के 'रमा' रूप को हम बहुत पहले से ही पाते हैं। उन्हें विष्णुप्रिया, विष्णुवल्लभा के रूप में भी पाया है; लेकिन इन स्थलों पर भी लक्ष्मी का अवलम्बन करके लीला का कोई स्पष्ट वर्णन हमें कहीं नहीं मिलता है। हाँ, पद्मपुराण के उत्तर-खण्ड में एक स्थल पर इस स्वरूपलीला का एक अस्पष्ट संकेत है। वहाँ कहा गया है कि परम व्योमरूपी जो विष्णु का स्वधाम है, वही विष्णु का 'भोगार्थ' है, और अखिल जगत् लीला के लिए है। इस भोग और लीला के द्वारा ही विष्णु की विभूतिद्वय की संस्थिति है। भोग में ही उनकी

१—नवम वचन।

२—त्रयोदश वचन।

३—षोड़श वचन॥

नित्यस्थिति है, तब वे अपने जगद्व्यापाररूपी लीला का संहरण कर लेते हैं; यह भोग और लीला दोनों ही उनकी शक्तिमत्ता के कारण विधृत हैं। यहाँ स्वधाम में नित्य स्वरूप-लीला ही उनका भोग है और विश्व-सृष्टि ही उनकी बहिर्लीला है।[1] इस लक्ष्मी का अवलम्बन करके लीला की धारणा श्रीसम्प्रदाय के अन्दर और अधिक निखर उठी हैं। यामुनाचार्य ने अपने 'श्रीस्तोत्ररत्न' में कहा है—

अपूर्वनानारसभावनिर्भर-प्रबुद्धया मुग्धविदग्धलीलया ।
क्षणाणुवत्क्षिप्तपरादिकालया प्रहर्षयंतं महिषीं महाभुजम् ॥
॥ ४४ ॥

अपूर्व नाना रसों और भावों द्वारा गंभीर रूप से प्रबुद्ध जो लीला है—जो लीला केवल मुग्धलीला नहीं है, विदग्ध लीला भी है—जो लीला नित्यलीला है—परादि काल (अर्थात् ब्रह्मा का आयुष्काल) जहाँ क्षण के अणुमात्र की तरह परित्यक्त होता है—उसी लीला द्वारा ही महाभुज पुरुषोत्तम-देवता अपनी प्रियतमा को हर्षयुक्त कर रहे हैं। इसी तरह के वर्णन परवर्ती काल के रसनिर्भर स्वरूपलीला का आभास देते हैं।

श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनक इन चार नामों से प्रसिद्ध सम्प्रदायों में मध्वाचार्य द्वारा प्रचारित मत ही ब्रह्म-सम्प्रदाय का मत माना जाता है। मध्वाचार्य रामानुजाचार्य के कुछ बाद के हैं। इस माध्व-सम्प्रदाय ने भी श्री-सम्प्रदाय की भाँति लक्ष्मीवाद को एक तरह से मान लिया है और लक्ष्मी-नारायण को उपास्य के तौर पर स्वीकार किया है। इस मत के अनुसार ब्रह्म की 'अघटित-घटन-पटीयसी' अचिन्त्यशक्ति है, परमात्मा में यही शक्ति लक्ष्मी के नाम से प्रसिद्ध है और ब्रह्मादि देवता से निरवधिका हैं।[2] शक्ति चार प्रकार की होती है—अचिंत्यशक्ति, आधेयशक्ति, सहजशक्ति और पदशक्ति; इनमें अचिंत्य शक्ति ही 'परमेश्वर में सम्पूर्णा' है। परमात्मा में अचिंत्यशक्ति द्वारा घटनेवाला कोई कार्य नहीं रह सकता है ऐसा नहीं समझना चाहिए; क्योंकि श्रुति में ही है कि वे आसीन रह कर भी दूर गमन करते हैं, अणु होकर भी महत्

---

(१) भोगार्थं परमं व्योम लीलार्थमखिलं जगत् ।
भोगेन क्रीड़या विष्णोर्विभूतिद्वयसंस्थितिः ॥
भोगे नित्यस्थितिस्तस्य लीलां संहरते कदा ।
भोगो लीला उभौ तस्य धार्यंते शक्तिमत्तया ॥ २२७।९–१०

(२) मध्वसिद्धान्तसार—पद्मनाभकृत (बम्बई निर्णयसागर प्रेस से पोथी के आकार में छापी गई है); २३ (ख) पृष्ठ ।

हैं—इस प्रकार सभी विरोधाभास (विरुद्धधर्म) उनमें संभव हैं। अचिंत्य-शक्ति के द्वारा ही यह संभव होता है। यह रमा या लक्ष्मी ही अचिंत्यशक्ति है। लेकिन रमा या लक्ष्मी ही ब्रह्म की सारी अचिंत्यशक्ति की प्रतिमूर्ति नहीं हैं, परमात्मशक्ति की अपेक्षा अनन्तांश न्यूना है लक्ष्मी-शक्ति और लक्ष्मीशक्ति की अपेक्षा कोटिगुण न्यूना है ब्रह्मादि-शक्ति।[१] अग्नि, वायु, पृथ्वी आदि के अभिमानी देवगण इस अचिंत्यशक्ति के ही अणु-परमाणु अंशमात्र हैं।[२] लक्ष्मी और विष्णु बिल्कुल एक न होने पर भी विष्णु जिस तरह नित्यमुक्त हैं, उस परमात्मा विष्णु की भाँति तद्‌भार्या नानारूपा लक्ष्मी भी नित्यमुक्ता हैं।[३] अनादि काल में भगवत्-सम्बन्ध के कारण ही लक्ष्मी की यह नित्यमुक्तता है।[४] ये दोनों ही अनादि और नित्यमुक्त हैं, दोनों ही अमृत और नित्य हैं, सर्वगत हैं। संसार की सब कुछ की 'ईशाना' जो विष्णु-पत्नी श्री हैं, वे उपासिता होने पर मुक्तिदा होती हैं। ये चपला, अम्बिका ही हैं, यह अव्यक्ता शक्ति सृष्टि के साथ अभिन्नरूपा होकर अष्ट-मूर्त्ति में विराजती हैं; वे ही चिद्रूपा, अनन्ता, अनादि-निधना परा है।[५]

यहाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि परमात्मा जब नित्यमुक्त हैं तो उनके परस्पर-संभोग के द्वारा सुख की अभिव्यक्ति की कोई आवश्यकता न होने के कारण उनका यह पति-भार्या-रूपता भी अयुक्त है। उन्हें तो स्व-रमण में ही आनन्द मिलता है। इसके उत्तर में कहा गया है कि वे 'स्व-रमण' होने पर भी अनुग्रह के द्वारा स्त्रीरूपा अपने ही अन्दर प्रवेश करके रूपान्तर के द्वारा नूतन रति प्राप्त करते हैं। पुरुष-स्त्री—पति-भार्या के रूप में जो आयोन्यतः रति है, वह वास्तव में अपने ही अन्दर है, अन्यतः कुछ भी नहीं है; अतएव उन्होंने जब रमा के साथ रमण किया है, तब भी वे आत्मरूप में ही वर्त्तमान थे, स्त्री के रूप में नहीं। सुखात्मा विष्णु का दूसरे के साथ रमण नहीं है, दूसरे के साथ रति नहीं है; अतएव रमा के साथ जो रमण है, वहाँ रमा ने केवल

(१) मध्वसिद्धान्तसार, १४ (क) पृष्ठ।

(२) वही, १४ (क); इस प्रसंग में (ख) पृष्ठ भी देखिए।

(३) परमात्मवन्नित्यमुक्ता तद्भार्या नानारूपा। ७१ सूत्र।

(४) अनादिकाले भगवत्सम्बन्धित्वाद् युज्यते नित्यमुक्तत्वं तस्याः। ७१ सूत्र की विवृति।

(५) वही, २७ (क) पृष्ठ।

रतिपात्रता प्राप्त की है। विष्णु की कभी दूसरे के साथ रति नहीं है; इसलिए रमा को भी कभी रतिदातृत्व नहीं है।[1] परमात्मा की भाँति लक्ष्मी भी नानारूपा हैं। श्री, भू, दुर्गा, अम्भृणी, ह्री, महालक्ष्मी, दक्षिणा, सीता, जयन्ती, सत्या, रुक्मिणी आदि के भेद से वे बहु-आकारा हैं। इनमें 'दक्षिणा' रूप की ही श्रेष्ठता है, क्योंकि, इस दक्षिणा में ही परमात्मसंभोग की प्रथम सुख की अभिव्यक्ति होती है। आदि सुखाभिव्यक्ति का स्थान होने के कारण ही दक्षिणा की विशिष्टता है।[2] परमात्मा की भाँति लक्ष्मी भी जड़देहरहिता हैं।[3] ब्रह्मा-रुद्रादि सभी शरीर की रक्षा करते हैं, इसलिए क्षर हैं; अक्षरदेहत्व के कारण लक्ष्मी अक्षर हैं, उनका चिद्देहकाय है। इसलिए लक्ष्मी भी अप्राकृता हैं। परमात्मा की भाँति लक्ष्मी भी सर्वशब्दवाच्या हैं।[4] प्रकृति सम्बन्धी विवेचन में हम देखते हैं कि, प्रकृति के दो रूप हैं, एक जड़ परिवर्त्तनशील है, और दूसरा नित्य और मुक्त-स्वरूप है। यह नित्य मुक्त-स्वरूप ही (शुद्धसत्त्व) अप्राकृत तत्त्व का तात्पर्य है। जैसे प्रकृति का एक नित्य मुक्त लक्ष्म्यात्मक स्वरूप है, त्रिगुण और पंचभूत के भी उसी तरह विशुद्ध नित्यमुक्त एवं लक्ष्म्यात्मक स्वरूप हैं। यह लक्ष्म्यात्मक त्रिगुण और पंचभूत के द्वारा ही वैकुण्ठधाम और उसमें स्थित जो कुछ है, उन सब की सृष्टि हुई है। विशुद्ध सत्त्व, रज और तम के द्वारा ही देवता और मुक्त पुरुषगण का सृष्टि-स्थिति-विनाश साधित होता है। व्योम-आकाशादि का जैसे एक अनिन्त्य रूप है, उसी तरह एक लक्ष्म्यात्मक (केवल लक्ष्म्यात्मक नहीं, यह 'ईश-लक्ष्म्यात्मक' है) रूप है। वायु का भी नित्य-प्राणादिरूप लक्ष्म्यात्मक स्वरूप है। सलिल का भी इसी प्रकार लक्ष्म्यात्मक रूप है। प्रकृति और परम व्योम, इन दोनों में विरजा नदी की कथा और मद्यसरोवरादि की कथा पुराणादि

---

(१) तदुक्तमैतरेयभाष्ये

एवमन्योन्यतो विष्णु रतः स्वस्मिन् नवान्यतः।
रमया रममाणोऽपि तस्थे नैव स्त्रियात्मना ।।
रमते नान्यतः क्वापि रतिर्विष्णोः सुखात्मनः।
रमया रमणं तस्माद्रमाया रतिपात्रता ।।
नैवास्या रतिदातृत्वं विष्णो र्नह्यन्यतो रतिः ।।

वही, २७ (ख) पृष्ठ।

(२) वही, २३(ख)-२४(क)।

(३) वही, सूत्र ७२।

(४) वही, सूत्र ७३।

में मिलती है। ये सभी लक्ष्म्यात्मक हैं। दूसरी ओर छान्दोग्यभाष्य के मतानुसार लक्ष्मी मुक्त जीवों के लिए कामरूपा होने के कारण उनका उदकात्मकत्व ही युक्तियुक्त है।[1] फिर भगवल्लोक वैकुण्ठादि में भी पृथ्वी है (नहीं तो वहाँ पुरी, गृहद्वारादि कैसे संभव होते ?); वह पृथ्वी भी मुक्तस्वभावा और लक्ष्म्यात्मिका है। ईश्वर और लक्ष्मी में नित्य मधुर रस का अवस्थान है।[2] इस ईश-लक्ष्मी का भी ज्ञान है, वह सदा ही प्रत्यक्ष है, कभी अनुमित या शाब्द नहीं है। यूँ देखते हैं कि, प्राकृत सृष्टि के अन्दर जो कुछ है वह सब नित्यशुद्धमुक्त के रूप में वैकुण्ठ में ईश-लक्ष्मी के अन्दर है।

चतुर्वैष्णव-सम्प्रदाय में रूद्र और सनक सम्प्रदाय में हम लक्ष्मी की जगह श्रीराधिका का आविर्भाव देखते हैं। गौड़ीय वैष्णवधर्म में इस राधातत्त्व का सम्यक् विकास हुआ है। अब हम इस राधातत्त्व का ही अनुसरण करेंगे।

(१) मुक्तानां कामरूपादुदकात्मकत्वं युक्तम्। वही, ५० (ख) पृष्ठ।
(२) ईशलक्ष्म्यो मधुररसः, वही, २१५ सूत्र।

सप्तम अध्याय

श्रीराधा का आविर्भाव

श्रीराधा के विषय में विचार शुरू करने पर हम इसके दो पक्ष देखते हैं। एक है तत्त्व का पक्ष, और दूसरा है इतिहास का पक्ष। धर्ममत के साथ कुछ तत्त्वाश्रित तौर से श्रीराधा का सम्मिश्रण हम बारहवीं सदी से देखते हैं; श्रीराधा की परिपूर्णता वृन्दावनवासी गौड़ीय वैष्णवों के ध्यान और मनन में दिखाई पड़ती है। लेकिन काव्य आदि में श्रीराधा का उल्लेख बहुत पहले से ही मिलता है।

पुराणादि के अन्दर आजकल नाना प्रकार से श्रीराधा का उल्लेख मिल रहा है; लेकिन हम अपने वाद के विवेचन में सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे कि किसी विशेष दार्शनिक मत या तत्त्वमत का अवलम्बन करके राधावाद की उत्पत्ति नहीं हुई है; राधावाद मुख्यतः पुराणमूलक भी नहीं है। हमारा विश्वास है कि, पुराणों में राधा के जितने उल्लेख आज कल दिखाई पड़ रहे हैं उनमें से अधिकांश अर्वाचीन काल में जोड़े गये हैं; इसके बारे में तथ्य और तर्क की विस्तृत अवतारणा हम यथा-स्थान करेंगे। राधा के बारे में हमारे सामने जितने प्राचीन तथ्य हैं उससे लगता है कि साहित्य का अवलम्बन करके ही राधा का आविर्भाव और क्रमप्रसार हुआ है; साहित्य आदि के उज्ज्वल रस के माध्यम से राधा का धर्ममत में प्रवेश हुआ है। धर्म मत में एक बार प्रवेश करने के बाद राधा का तत्त्वरूप थोड़ा-थोड़ा करके विकसित होने लगा; इस तत्त्व के विकास में राधा सचमुच ही 'कमलिनी' हैं; अर्थात् बारहवीं सदी के पहले तक विष्णुशक्ति के बारे में जो कुछ विश्वास, चिन्ता और मत है, उस उर्वर भूमि पर मानों अनन्त विचित्र मधुर राधा का बीज रोपा गया था, उस बीज ने पुरानी भूमि से भोजन संग्रह करके अपने नये धर्म नित्य सौन्दर्य और माधुर्य में अभिव्यक्ति लगा कर गौड़ीय वैष्णव धर्म में पूर्ण विकास लाभ किया। इस राधावाद के विवेचन में इसलिये हम पहले साहित्य आदि में राधा के प्राचीन उद्गम का अनुसन्धान करेंगे; इसके बाद मुख्यतः वृन्दावन के गोस्वामियों के मत का अवलम्बन करके राधातत्त्व किस प्रकार से कहाँ तक पूर्वालोचित शक्ति तत्त्व पर ग्रथित है और इस विषय में गौड़ीय गोस्वामियों और वैष्णव कवियों ने कहाँ

किस तरह कितने अभिनवत्व का संचार किया है इसका विवेचन करेंगे।

(क) ज्योतिष-तत्त्व के रूप में राधा-कृष्ण की व्याख्या

किसी किसी पंडित का ख्याल है कि राधा-कृष्ण तत्त्व में मूलतः कोई धर्मतत्त्व नहीं था, यह मूलतः एक ज्योतिषतत्त्व है। विष्णु सूर्य हैं; वेद में सूर्य के अर्थ में विष्णु शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध है। यह सूर्य-रूपी विष्णु ही सबेरे दोपहर और शाम इन त्रिपादों में परिक्रमण करते हैं। इसी से त्रिपात् वामन अवतार और स्वर्ग, मर्त्य, पाताल इन तीनों लोकों में उनके पदक्षेप की कल्पना उत्पन्न हुई होगी। कृष्ण इसी विष्णु के अवतार हैं, अर्थात् सूर्य के रश्मि स्थानीय या प्रतिबिम्ब हैं। श्री योगेशचन्द्र राय ने एक निबन्ध में[1] दिखाने की चेष्टा की है कि पुराणादि में गर्गमुनि का जो वर्णन मिलता है, उससे यह भलीभाँति समझ में आ जाता है कि वास्तव में वे एक ज्योतिष विशेषज्ञ थे, इसी लिये आदित्यके अवतार कृष्ण का वे पहले आविष्कार कर सके थे; उन्होंने कृष्ण के नामकरण से लेकर सारी शिक्षा-दीक्षा का भार लिया। कृष्ण सूर्य का प्रतिबिम्ब है, गोपी तारका।[2] व्रज के कृष्ण के जन्म से लेकर जितनी अलौकिक लीलायें हैं, वे सभी सूर्य के प्रतिबिम्ब और तारों को लेकर हैं। कृष्ण की रासलीला की ज्योतिषिक व्याख्या करते हुए योगेशचन्द्र ने लिखा है—"राधानाम पुराना था और विशाखा का नामान्तर था। कृष्ण-यजुर्वेद में विशाखा, अनुराधा आदि नक्षत्रों का नाम है। राधा के बाद अनुराधा का नाम है। अतएव विशाखा नाम राधा है। अथर्ववेद में 'राधो विशाखे,' यह स्पष्ट कथन है। विशाखा नाम का कारण यही है। इस नक्षत्र में शारद विषुव होना था और वर्ष दो शाखाओं में बँट जाता था। यह ईसा पूर्व २५०० सौ की बात है। शायद इसके पहले नक्षत्र का नाम राधा था। राधा का अर्थ है सिद्धि। यह नाम क्यों पड़ा था, यह नहीं बताया जा सकता। कालक्रम में राधा और विशाखा एक हो गये हैं। महाभारत में कर्ण की धातृ-माता का नाम राधा है, और कर्ण-राधेय के नाम से संबोधित होते थे।"

"कार्तिकी पूर्णिमा में सूर्य विशाखा की ओर, विशाखा में रहता है, राधा से सूर्य का मिलन होता है, लेकिन अदृश्य मिलन होता है। युगपत्

---

(१) भारतवर्ष पत्रिका, माघ १३४० बंगाब्द।

(२) गो शब्द का एक अर्थ है 'रश्मि', अतएव सूर्य ही गोप और तारका 'गोपी' है।

तारा और सूर्य दृष्टिगोचर नहीं हो सकते हैं। प्राचीन काल के लोग समझते थे कि सूर्य की रोशनी से ही तारा का तारापन है, चन्द्र की चन्द्रिका है। गो रश्मि है, गोप कृष्ण है, गो-पी तारा है। कवि ने कृष्ण-रवि को रास-मध्यस्थ और गोपी-तारा को मंडलाकार में सजाया है। चन्द्र पुंलिग नहीं होता तो वह इसी नाम से राधा की प्रति-नायिका बन सकता था। कारण यह है कि पूर्णिमा में चन्द्र रवि की विपरीत दिशा में रहता है। प्रतिनायिका के लिए आजकल बंगीय कवि को चन्द्रावली नाम गढ़ना पड़ा था। अमावस की रात को चन्द्र-सूर्य का मिलन होता है, कृष्ण गुप्तरूप से चन्द्रावली के कुंज में जाते हैं। योगेशचन्द्र ने इस विषय में और भी दिखाया है कि राधा वृषभानु की (अपभ्रंश में बृखभानु, बृकभानु) कन्या हैं। वृषभानु वृष-राशिस्थ भानु, रश्मि है। कृत्तिका वृष राशि में है। राधा की जननी का नाम कृत्तिका होना चाहिए था, पद्मपुराण में 'कीर्तिदा' नाम है। राधा के पति का नाम आयन (बाद में आयान) घोष है। 'अयने भवः आयनः'; अयन में, उत्तरायण के दिनों में जन्म होने के कारण आयन नाम पड़ा है। तब उत्तरायण फलशून्य नपुंसक हुआ। इस तरह नाना दिशाओं से विचार करके योगेशचन्द्र ने तै किया है कि कुछ ज्योतिषतत्त्व ही कविकल्पना का आश्रय ग्रहण कर रूपक धर्मी हो गए हैं। परवर्ती काल के लोगों ने पौराणिक युग के इस ज्योतिष तत्त्व को भुला कर रूपक को ही सत्य मान लिया है और इसी प्रकार रूपकाश्रय से बहुपल्लवित राधा-कृष्ण लीला उपाख्यान का उद्भव हुआ है। योगेशचन्द्र के विचार में हम पुराणादि में व्रज के जिस कृष्ण का उल्लेख पाते हैं उनका काल ई० पू० तीसरी सदी और राधा का काल ईसा की तीसरी सदी है।

राधा के बारे में आचार्य योगेशचन्द्र का मत ध्यान देने योग्य तो है ही। वैदिक युग के विष्णु का सूर्य के साथ सम्बन्ध अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परवर्तीकाल में हम देखते हैं कि राधा की सखियों में 'विशाखा' मुख्य हैं। इसके अलावा सखियों में अनुराधा (ललिता), ज्येष्ठा, चित्रा, भद्रा आदि नाम हमें मिलते हैं। व्रज की देवियों में एक का नाम तारका है (भविष्योत्तर, और स्कान्दसंहिता के मतानुसार, जीव-गोस्वामी के श्रीकृष्णसन्दर्भ में उल्लिखित), चन्द्रावली का (चन्द्र ?) का दूसरा नाम सोमभा मिलता है, चन्द्र से सोमभा नाम का सम्बन्ध भी लक्षणीय है। राधा और उनकी सखियों के अलावा हम देखते हैं कि कृष्ण के परिवार की कई स्त्रियों का नामकरण भी कई प्रसिद्ध नक्षत्रों के नाम के

अनुसार किया गया है, जैसे वासुदेव की पत्नी रोहिणी, बलदेव की पत्नी रेवती, कृष्ण की बहन चित्रा (सुभद्रा) आदि। इन्हें देखने से लगता है कि पौराणिक युग में वर्णित कृष्णलीला के मूल में भी उपर्युक्त विविध प्रकार के ज्योतिष तत्त्वों का काफी प्रभाव होना सम्भव है; लेकिन इस विषय में और भी अनेक स्पष्ट तथ्यों के न मिलने से गोपियों और राधा को लेकर कृष्ण-प्रेम के जो समृद्ध उपाख्यान मिलते हैं, उन सबको इने-गिने ज्योतिष तत्त्व के रूपक आश्रयी रूपमात्र हैं, इस बात को पूरी तरह अभी नहीं मान लिया जा सकता। लेकिन श्रीरूपगोस्वामी के नाटक आदि पढ़ने से वह बात साफ समझ में आ जाती है कि राधा का जो तारकारूप है उससे उनका घनिष्ठ परिचय था। उनके कविजनोचित सालंकार वर्णन के अन्दर इसके बहुतेरे परिचय मिलते हैं। ललितमाधव (प्रथम अंक) में हम देखते हैं कि, राधा का दूसरा नाम तारा है—'तारा नाम लोओत्तरा कण्णआ'। दूसरी जगह राधा को लेकर एक सुन्दर श्लेष देखते हैं—

दनुजदमनवक्षःपुष्करे चारुतारा।
जयति जगदपूर्वा कापि राधाभिधाना।

"दनुजदमन श्री कृष्ण के वक्षरूपी आकाश में जो राधा नामक एक जगदपूर्वा चारुतारा है—उसी की जय।" विदग्धमाधव नाटक में सूत्र-धार-श्लोक में देखते हैं—

सो ऽयं वसन्तसमयः समियाय यस्मिन्
पूर्णं तमीश्वरमुपोढ़नवानुरागम्।
गूढ़ग्रहा रुचिरया सह राधयासौ
रंगाय संगमयिता निशि पौर्णमासी॥

वैशाख पूर्णिमा में राधा या विशाखा नक्षत्र के साथ पूर्णिमा का आविर्भाव देखते हैं[1]; दूसरी ओर कृष्णमिलन के लिए देवी पूर्णमासी के साथ राधिका का आविर्भाव। इस तरह के दृष्टान्त रूपगोस्वामी की रचना में अनेक मिलते हैं।[2] इसके अलावा इन नाटकों में एक और चीज दिखाई

---

(१) प्रति वैशाखपूर्णिमायां प्रायो विशाखानक्षत्रस्य संम्भवात्। विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका।

(२) तुलनीय—वृन्दे राधामनुरुध्य मानेन विधुनैव मधुरीकृतेयं माधवीया पौर्णमासी। —दानकेलीकौमुदी।

और भी:—

ललिता—मह व्वाहरेहि वुन्दे पहेलिअं दिव्वपाहेलि विण्णाणे।
पिअसहि किमहिक्स्वाए लक्खिज्जइ माहवो भुअणे॥
वृन्दा—सहि राधाभिख्यया।
कृष्ण—युक्तमिदं यद्वैशाखपर्यायौ माधवराधौ।—विदग्धमाधव, सप्तम अंक।

पड़ती है, वह यह है कि राधा बहुतेरे स्थलों में सूर्य की उपासिका हैं। श्रद्धेय योगेशचन्द्र ने 'चन्द्रावली' के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा है उस से रूप गोस्वामी के नीचे लिखे दो श्लोकों का मिलान किया जा सकता है—

पद्मा। हला सच्चं भणासि। तथाहि—

बिज्जोदन्ती राहा पेक्खिज्जई ताव तारआलीहिं।
गअणे तमालसामे ण जाब चन्दाअली पफ़ुरइ ॥

ललिता। (विहस्य संस्कृतेन)

सहचरि वृषभानुजायाः प्रादुर्भावे वरत्विषोपगते।
चन्द्रावलीशतान्यपि भवन्ति निर्धूतकान्तीनि ॥[1]

(ख) विविध पुराणादि में राधा का उल्लेख

विविध पुराणों में विविध प्रसंगों में हमें राधा का उल्लेख मिलता है, लेकिन इसके अन्दर विशेष रूप से लक्षणीय बात यह है कि जिस पुराण में श्रीकृष्ण की व्रज लीला का सबसे विस्तृत और मधुर वर्णन है और जिस पुराण में राधातत्त्व और कृष्णरसतत्त्व की स्थापना में गोड़ीय-वैष्णवों ने प्रधान अवलम्बन बनाया है, उस भागवत-पुराण में राधा का स्पष्ट कोई उल्लेख नहीं है। लेकिन फिर भी गौड़ीय गोस्वामियों ने भागवत में ही राधा का आविष्कार किया है। भागवत के दसवें स्कन्ध में रास-लीला के वर्णन में हम देखते हैं कि रासमण्डल में कृष्ण अपनी एक प्रियतमा गोपी को लेकर गायब हो गये हैं और दूसरी गोपियों की आड़ में उन्होंने उस प्रियतमा गोपी को लेकर विविध प्रकार की क्रीड़ा की थी। कृष्ण को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते विरहातुरा गोपियों ने वृन्दावन के एक वन में श्रीकृष्ण के ध्वजवज्रांकुश आदि युक्त पदचिह्न के साथ एक और व्रजमाला का पदचिह्न देखा और इस परम सौभाग्यवती कृष्ण की प्रियतमा को लक्ष्य करके कहा था—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥ (१०।३०।२४)

"इसके द्वारा (इस रमणी द्वारा) निश्चय ही भगवान् ईश्वर हरि आराधित हुए हैं, इसलिये गोविन्द हमें छोड़कर प्रसन्न होकर इसे इस निराली जगह ले आये हैं।" इस "अनयाराधितः' शब्द के अन्दर ही राधा का पता

---

(१) विदग्धमाधव, सप्तम अंक।

चला ।[१] सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी का अनुसरण करके कृष्णदास कविराज महाशय ने भी चरितामृत में कहा है—

कृष्णवांछापूर्ति रूप करे आराधने ।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने ।। आदि, ४

राध् धातु यहाँ 'परिचरण' या 'सेवन' के अर्थ में ली गई है । हम नें पहले देखा है कि, परिचरण या सेवन के अर्थ में श्रि धातु से ही श्री शब्द की भी व्याख्या करने की चेष्टा की गई है । लेकिन यह बात जरूर है कि भागवतकार ने यहाँ कृष्णप्रियतमा एक प्रधाना गोपी का उल्लेख किया और इशारे से उसके राधा नाम का आभास दिया । लेकिन इस प्रसंग में साफ-साफ राधा नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया इस बात में भी शंका हो सकती है और यह संशय स्वाभाविक है कि कृष्णप्रिया प्रधाना गोपी के राधा नाम से भागवतकार शायद परिचित नहीं थे ।[२] लेकिन राधा नाम का व्यवहार भागवतकार करे या न करे, गोपियों में एक गोपी कृष्ण की प्रियतमा थी यह सत्य भागवत के रास वर्णन में बहुत स्पष्ट हो उठा है । कृष्ण की गोपियों के साथ वृन्दावन लीला की अव-

---

(१) यहाँ 'अनया आराधितः' या 'अनया राधितः' इन दोनों प्रकार के पाठों को स्वीकार किया जा सकता है; दोनों पाठों का अर्थ एक है; श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक की टीका में कुछ भी नहीं लिखा है, लेकिन सनातन गोस्वामी ने अपनी वैष्णवतोषणी टीका में कहा है—

"अनयैव आराधितः आराध्य वशीकृतः न त्वस्माभिः । राधयति आराधयतीति राधेति नामकारणंच दर्शितं ।"

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने कहा है—"नूनं हरिरयं राधितः । राधां इतः प्राप्तः" इत्यादि ।।

(२) लेकिन इस विषय में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी टीका में कहा है कि गोपियों ने पगचिह्न से ही इस कृष्ण-प्रिया विशेष गोपी को वृषभानुनन्दिनी के रूप में पहचान लिया था । लेकिन पहचान कर भी जैसे नहीं पहचाना है इसके अभिनय के बहाने मानो राधा के सुहृद्गण ने उनका नाम छिपा लिया था । और नामनिरुक्ति के द्वारा राधा के सौभाग्य को ही व्यंजित करके उन्होंने 'अनयाराधितः' आदि कहा है ।

—पदत्चिह्नैरेव तां श्रीवृषटभानुनन्दिनीं परिचित्यान्तराश्वस्ता वहुविध-गोपीजनसंघट्टे तत्र बहिरपरिचयमिवाभिनयन्त्यस्तस्याः सुहृदस्तन्नामनिरुक्ति-द्वारा तस्याः सौभाग्यं सहर्षमाहुरनयैव ।

तारणा पहले पहल खिल-हरिवंश में मिलती है; इस हरिवंश के विष्णुपर्व के बीसवें अध्याय में संक्षेप में गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की रास लीला का वर्णन है, वहाँ किसी प्रियतमा प्रधाना गोपी का उल्लेख या आभास नहीं है। लेकिन प्राचीन पुराणों में अन्यतम विष्णुपुराण में विषयवस्तु और वर्णन की दृष्टि से भगवत पुराण के अनुरूप-रास वर्णन है और यहाँ भी उसी प्रियतमा 'कृतपुण्या मदालसा' गोपी का उल्लेख मिलता है। यहाँ 'अनयाराधितः' आदि श्लोक की जगह निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

अत्रोपविश्य सा तेन कापि पुष्पैरलंकृता।
अन्यजन्मनि सर्वात्मा विष्णुरभ्यर्चितो यया।

"यहाँ बैठकर कोई रमणी उस कृष्णद्वारा पुष्पों से अलंकृता हुई है, जिस रमणी के द्वारा दूसरे जन्म में सर्वात्मा विष्णु अभ्यर्चित हुए हैं।" यहाँ 'राधित' या 'आराधित' शब्द की जगह 'अभ्यर्चित' शब्द मिल रहा है। दूसरे पुराणों में रास का इस प्रकार का वर्णन और कृष्णप्रिया किसी गोपी विशेष का उल्लेख नहीं मिलता।

पद्मपुराण में एकाधिक स्थल पर राधा का नाम है। रूप गोस्वामी ने अपने उज्ज्वल-नीलमणि ग्रन्थ में और कृष्णदास कविराज ने अपने चैतन्य-चरितामृत में पद्मपुराण से राधा नाम का उल्लेख उद्धृत किया है।[१] लेकिन पद्मपुराण से गोस्वामियों ने एक-आध श्लोक उद्धृत किये हैं, और आजकल प्रचलित पद्मपुराण में विभिन्न स्थलों पर राधा नाम की एक प्रकार से बहुतायत है; इसीसे हमारी शंका और भी जटिल हो जाती है। फिर देखते हैं कि, जयन्ती-व्रत माहात्म्य-ख्यापन के प्रसंग में एक बार राधाष्टमी का उल्लेख मिलता है। इसके बाद चालीसवें सर्ग में राधाष्टमी व्रत का माहात्म्य बतलाया गया है। इस राधाष्टमी में प्रेमानुराग कुछ भी नहीं है, इस व्रत को करने से गोहत्या, ब्राह्मण-हत्या, स्त्री-हरण आदि पापों से बड़ी आसानी से छुटकारा पाया जा सकता है और अनन्त सुख प्राप्त किया जा सकता है, यही कहा गया है। लीलावती नामक एक वेश्या राधाष्टमी व्रत करके किस प्रकार विष्णुपुर गो-लोक निवास की अधिकारिणी बनी थी, इसका भी वर्णन है। इस वर्णन से

---

(१) इन्होंने पद्मपुराण से निम्नलिखित श्लोक ढूंढ़ निकाला है;—

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यान्तवल्लभा॥

इस बात का भी पता चलता है कि विष्णु जब भू-भार-हरण के लिये कृष्ण के रूप में अवतरित हुए तब राधा भी विष्णु के आदेश से भू-भार हरण के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण हुईं। भादों महीने की शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि को वृषभानु की यज्ञभूमि में दिन को राधिका पैदा हुई थीं। कार्तिक महीने में राधा दामोदर की अर्चना और कार्तिक महीने के अन्तिम महीने के अन्तिम पाँचवें दिन विष्णु-पंचक व्रत में राधा के साथ श्रीहरि की पूजा का उल्लेख मिलता है। पद्मपुराण के उत्तर खंड में विष्णुधाम गोलोक के वर्णन के प्रयोग में कहा गया है कि इस गोलोक में ही गोकुल है, और गोकुल में हरि द्वारा अधिकृत प्रोद्भासित भास्वर भवन विद्यमान हैं, इस भवन में नन्द गृहेश्वरी राधा द्वारा आधारिता होकर समुदिता होती हैं। पद्मपुराण के पाताल-खण्ड में राधा के कितने ही प्रकार से अनेको अन्य उल्लेख मिलते हैं। इस खंड के अड़तीसवें अध्याय में सहस्रपत्रकमल गोकुलाख्य महद्धाम और उस कमल के किस दल में कृष्ण की कौन-सी लीलाभूमि है, इसके विशद वर्णन के बाद कहा गया है—उस कृष्ण की प्रिया आद्या प्रकृति राधिका ही कृष्णवल्लभा हैं। उस राधा की कला के करोड़ों अंश का एक अंश हैं दुर्गा आदि त्रिगुणात्मिका देवियाँ; इस राधिका के पदरज के स्पर्श से ही करोड़ विष्णु जन्मते हैं। इस राधा के साथ गोविन्द सोने के सिंहासन पर समा-सीन हैं। ललिता आदि सखियाँ प्रकृति का अंश हैं, राधिका मूल प्रकृति है। आठ प्रकृतियाँ आठ सखियाँ हैं, और प्रधान कृष्णवल्लभा राधिका हैं। इसके बाद वाले अध्याय में देखते हैं कि एक दिन वृन्दावन में बाल-कृष्ण को देखकर नारद ने उन्हें साक्षात् भगवान् का अवतार समझ लिया और सोचा कि लक्ष्मी देवी अवश्य ही किसी गोप के घर अवतीर्ण हैं। ढूंढ़ते-ढूंढ़ते भानु नामक गोपवर्ष के घर में सुलक्षणा गौरी कन्या को देखकर वे समझ गये कि ये ही-कृष्ण वल्लभा लक्ष्मी की अवतार हैं, ये माहेश्वरी, रमा, आद्याशक्ति, मूल प्रकृति, इच्छा-ज्ञान-क्रिया-शक्ति हैं। दूसरी जगह देखते हैं कि, कृष्ण नारद से अपने को पुंरूपी राधा देवी कहकर परिचय दे रहे हैं।

पद्मपुराण में एक स्थल पर यह राधा "गोपियों के बीच तप्त स्वर्णप्रभा हैं, दिशाओं को अपनी प्रभा से चकाचौंध करके द्योतमाना हैं, ये प्रधानरूपा भगवती हैं—जिनसे यह सब कुछ व्याप्त है। ये सृष्टि-स्थिति-अन्तरूपा, विद्याविद्या, त्रयी, परा, स्वरूपा, शक्तिरूपा, मायारूपा, चिन्मयी हैं। ये ही ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि के देह-धारण का कारण हैं। ये वही वृन्दावनेश्वरी राधा

हैं—सब की धारणाधाररूपा होने के कारण राधा हैं। यह राधा—वृन्दावनेश्वर ही पुरुष-प्रकृति हैं।[1]

राधा के सम्बन्ध में पद्मपुराण के इन उल्लेखों और वर्णनों को देखने से लगता है, कि यह राधा के किसी प्राचीन रूप का परिचय नहीं है। राधा की उत्पत्ति वृन्दावन की प्रेमलीला में हुई है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, लेकिन पद्मपुराणान्तर्गत इन उल्लेखों पर विचार करने पर लगता है कि राधावाद के काफी प्रचार और प्रसिद्धि का अवलम्बन करके ही ये सारे वर्णन गढ़ उठे हैं। पद्मपुराण का रचनाकाल निश्चित करना कठिन है, और अनुमान कर लिया जाय कि छठीं शताब्दी का या यहाँ तक कि आठवीं शताब्दी के आसपास इसकी रचना हुई थी तो भी उस समय कम से कम वैष्णव-धर्म के मतानुसार राधा का इतना प्रसार और प्रसिद्धि हुई थी ऐसा नहीं लगता। अतएव राधा के बारे में ये सारे उल्लेख परवर्ती काल में जोड़े गए हैं इस शंका को तर्कहीन नहीं कहा जा सकता। कौन-सा अंश किस समय प्रक्षिप्त हुआ इसे बताना कठिन है। लेकिन रूपगोस्वामी ने जिस श्लोक का उद्धार किया है उसे कम से कम सोलहवीं सदी के पहले ही पद्मपुराण में स्थान मिल गया था इस बात को मानना पड़ेगा।

जिन कारणों से पद्मपुराण में वर्णित उपर्युक्त वर्णनों की शुद्धता और प्राचीनता के विषय में शंका होती है वे 'नारद-पंचरात्र' ग्रंथ के राधा-वर्णन के साथ मिलकर और भी बड़ी शंका पैदा करते हैं। हम इस ग्रंथ को मुद्रित आकार में जिस प्रकार पाते हैं[2] उस रूप में इसे किसी भी

---

(१) तासां तु मध्ये या देवी तप्तचामीकरप्रभा।
द्योतमाना दिशः सर्वाः कुर्वती विद्युदुज्ज्वलाः।
प्रधानं या भगवती यया सर्वमिदं ततम्॥
सृष्टिस्थित्यन्तरूपा या विद्याविद्या त्रयी परा।
स्वरूपा शक्तिरूपा च मायारूपा च चिन्मयी॥
ब्रह्माविष्णुशिवादीनां देहकारणकारणम्।
चराचरं जगत् सर्वं यन्मायापरिरम्भितम्॥
वृन्दावनेश्वरी नाम्ना राधा धात्रानुकारणात्।
तामालिंग्य वसन्तं तं मुदा वृन्दावनेश्वरम्।

... ...

पुरुष-प्रकृती चाद्यौ राधा-वृन्दावनेश्वरौ॥

(२) एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता से रेवरेण्ड कृष्णमोहन वन्द्योपाध्याय द्वारा सम्पादित।

प्रकार एक प्राचीन पाञ्चरात्र-ग्रंथ नहीं मान सकते, इसीलिए पाञ्चरात्र पर विचार करते समय हमने इस ग्रंथ का कोई उल्लेख नहीं किया। इस ग्रंथ के नमस्कार श्लोक में हम देखते हैं—

लक्ष्मीः सरस्वती दुर्गा सावित्री राधिका परा ।।[1] १।२

'राधा' शब्द के तात्पर्य के सम्बन्ध में कहा गया है—

राशब्दोच्चारणाद् भक्तो भक्तिं मुक्तिञ्च राति सः ।
धाशब्दोच्चारणेनैव धावत्येव हरेः पदम् ।। २।३।३८

अर्थात् 'रा' शब्द के उच्चारण से ही भक्त होता है, और वह भक्ति और मुक्ति को प्राप्त होता है, और 'धा' के उच्चारण के द्वारा हरि के पद की ओर धावित होता है।" राधा शब्द की इस प्रकार की व्युत्पत्ति और तात्पर्य परवर्ती काल में भी कुछ कुछ मिलता है, प्राचीन काल में भी था या नहीं इसके बारे में हमें संदेह है। साधारणतः देखा जाता है कि, कोई वाद धर्म की कोटि में आकर बहुत दिनों तक भक्ति और विश्वास के द्वारा परिपुष्ट होने के पश्चात् ही इस प्रकार की शब्द-व्युत्पत्ति गढ़ी जाने लगती है। अन्यान्य स्थलों पर राधिका की जो लम्बी प्रशस्तियाँ मिलती हैं उसमें यूं दिखाई पड़ता है कि, राधिका पराशक्ति हैं, वे ही भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न धर्म-लक्षणों में भिन्न-भिन्न देवी के रूप में आविर्भूत होती हैं, मार्कण्डेय चण्डी में कहा गया 'द्वितीया का ममापरा' देवी और इस परा-शक्ति राधिका को अभिन्न माना जा सकता है।[2]

---

(१) तुलनीय—षड़क्षरी महाविद्या कथिता सर्वसिद्धिदा ।
प्रणवाद्या महामाया राधा लक्ष्मीः सरस्वती ।। २।३।७२

(२) प्राणाधिष्ठात्री या देवी राधारूपा च सा मुने ।
रसनाधिष्ठात्री या देवी स्वयमेव सरस्वती ।।
बुद्ध्यधिष्ठात्री या देवी दुर्गा दुर्गतिनाशिनी ।
अधुना या हिमगिरेः कन्या नाम्ना च पार्वती ।।
सर्वेषामाये देवानां तेजःसु समधिष्ठिता ।
संहन्त्री सर्वदैत्यानां देववैरी विमर्दिनी ।।
स्थानयात्री च तेषांच धात्री त्रिजगतामपि ।
क्षुत्पिपासा दया निद्रा तुष्टिः पुष्टिः क्षमा तथा ।।
लज्जा भ्रान्तिश्च सर्वेषामधिदेवी प्रकीर्तिता ।
मनोऽधिष्ठात्री देवी सा सावित्री विप्रजातिषु ।।
राधा वामांशसम्भूता महालक्ष्मीः प्रकीर्तिता ।।
ऐश्वर्याधिष्ठात्री देवीश्वरस्येव हि नारद ।
तदंशा सिन्धुकन्या च क्षीरोदमथनोद्भवा ।।
मर्त्यलक्ष्मीश्च सा देवी पत्नी क्षीरोदशायिनः ।
तदंशा स्वर्गलक्ष्मीश्च शक्रादीनां गृहे गृहे ।।
स्वयं देवी महालक्ष्मीः पत्नी वैकूण्ठशायिनः ।

पुराणादि में हम लक्ष्मी का जो विमिश्र वर्णन देख आए हैं, नारद-पंचरात्र में राधा के वर्णन में वह मिश्रता और भी जटिल हो गई है।[१] इन वर्णनों को पढ़कर लगता है कि वह इस प्रेमोपाख्यान-संभूता गोपी राधिका को भारतवर्ष की सर्वस्वरूपा शक्तिमूर्त्ति के साथ एक कर देने की कुछ परवर्ती काल की अनिपुण चेष्टा मात्र है।

मत्स्य-पुराण के श्लोकार्ध में भी राधा का उल्लेख मिलता है, वहाँ कहा गया है कि रुक्मिणी द्वारावती में हैं, और राधा हैं वृन्दावन के वन में।[२]

---

(१) श्रीकृष्णोरसि या राधा यद्वामांशेन सम्भवा।
महालक्ष्मीश्च वैकूण्ठे सा च नारायणोरसि॥
सरस्वती सा च देवी विदूषां जननी परा।
क्षीरोदसिन्धुकन्या सा विष्णूरसि च मायया॥
सावित्री ब्रह्मणो लोके ब्रह्मवक्षःस्थलस्थिता।
पुरा सुरांणां तेजःसु आविर्भूत्वा यथा हरेः॥
स्वयं मूर्तिमती भत्वा जघान दैत्यसंघकान्॥
ददौ राज्यं महेन्द्राय कृत्वा निष्कंटकं पदम्॥
कालेन सा भगवती विष्णुमाया सनातनी।
वभूव दक्षकन्या च परं कृष्णाज्ञया मुने॥
त्वक्त्वा देहं पितुर्यज्ञे ममैव निन्दया मुने।
पितृणां मानसी कन्या मेना कन्या वभूव सा॥
आविर्भूता पर्वते सा तेनेयं पार्वती सती।
सर्वशक्तिस्वरूपा सा दुर्गा दुर्गतिनाशिनी॥
बुद्धिस्वरूपा परमा कृष्णस्य परमात्मनः।
संम्पद्रूपेन्द्रगेहे सा स्वर्गलक्ष्मीस्वरूपिणी॥
मत्य लक्ष्मी राजगेहे गृहलक्ष्मी गृहे गृहे।
पृथक् पृथक् च सर्वत्र ग्रामेषू ग्राम देवता॥
जले सत्य (शैत्य ?) स्वरूपा सा गन्धरूपा च भूमिषु।
शब्दरूपा च नभसि शोभारूपा निशाकरे॥
प्रभारूपा भास्करे सा नृपेन्द्रेषु च सर्वतः।
वह्नौ सा दाहिका शक्तिः सर्व शक्तिश्च जन्तुषु॥
सृष्टिकाले च सा देवी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
माता भवेन्महोविष्णोः स एव च महान् विराट्॥

इत्यादि २।६।१४-२५

(२) रुक्मिणी द्वारावत्यां तु राधा वृन्दावने वने। आनन्दाश्रम सं०, १३।३८

इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि, सारे मत्स्यपुराण में कहीं भी विष्णु के कृष्णावतार में व्रजलीला का वर्णन नहीं है। यहाँ तक कि हमने पहले ही दिखाया है कि विष्णु-शक्ति लक्ष्मी का वर्णन भी मत्स्य-पुराण में बहुत कम है, जहाँ लक्ष्मी का उल्लेख है वहाँ भी भारतवर्ष की और भी अनेकों शक्तिदेवियों के साथ एक शक्तिदेवी के रूप में है, वहाँ भी विष्णु से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध कम है। इस हालत में अचानक श्लोकार्ध में राधा का उल्लेख हम प्रामाणिक मानने में असमर्थ हैं। हम यह भी देखते हैं कि पद्मपुराण के सृष्टि-खण्ड में यह श्लोक मिल रहा है। वहाँ विष्णु के द्वारा सर्वव्यापिनी सावित्री के स्तव में कहा गया है कि शक्ति-रूपा यह सावित्री भारतवर्ष की तावत् तीर्थ-भूमियों में भिन्न-भिन्न देवीमूर्ति धारण करके अवस्थान कर रही हैं, और उसी प्रसंग में कहा गया है कि वे द्वारका में रुक्मिणी, वृन्दावन में राधा हैं। वृन्दावन की राधा यहाँ पुराण-तंत्रादि में वर्णित बहुतेरे देव-देवियों में एक देवी हैं।[१] इस प्रकार वायु-पुराण,[२] वराह-पुराण,[३] नारदीय-पुराण[४] आदि-पुराण[५] प्रभृति पुराणों

(१) सावित्री पुष्कर में सावित्री, वाराणसी में विशालाक्षी, नैमिष में लिंगधारिणी, प्रयाग में ललिता देवी, गन्धमादन में कामुका, मानस में कुमुदा, अम्बर में विश्वकाया, गोमन्त में गोमती, मन्दर में कामचारिणी, चैत्ररथ वन में मदोत्कटा, हस्तिनापुर में जयन्ती, कान्यकुब्ज में गौरी, मलयाचल में रम्भा, एकाम्म्र कानन में कीर्तिमती, विल्लेश्वर में विल्वा, कर्णिक में पुरुहस्ता, केदार में मार्गदायिका, हिमालय में नन्दा, गोकर्ण में भद्रकालिका, स्थाणीश्वर में भवानी, विल्वक में विल्वपत्रिका, श्रीशैल में माधवी देवी, भद्रेश्वर में भद्रा, बराहगिरि में जया, कमलालय में कमला, रुद्रकोटि में रुद्राणी, कालंजर में काली, महालिंग में कपिला, करकोट में मंगलेश्वरी हैं; इसी प्रकार और भी बीस जगहों में बीस देवियों का उल्लेख करके सावित्री देवी को द्वारवती में रुक्मिणी और वृन्दावन में राधा कहा गया है। (बंगवासी) १७।१८२—१९६।

(२) राधा-विलास-रसिकं कृष्णाख्यं पुरुषं परम्।
श्रुतवानस्मि देवेभ्यः यतस्तद्गोचरोऽभवत्॥
आनन्दाश्रम सं १०४।५२

(३) तत्र राधा समाश्लिष्य कृष्णमक्लिष्टकारणम्।
खनाम्ना विदितं कुन्डं कृतं तीर्थमदूरतः॥
राधाकुन्डमिति ख्यातं सर्वपापहरं शुभम्।
(बंगवासी) १६४।३३-३४

(४) (बंगवासी) १।४३-४४

(५) रूपगोस्वामी के 'लघुभागवतामृत' से उद्धृत श्लोकः—
त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या तत्र वृन्दावनं पुरी।
तत्रापि गोपिकाः पार्थ तत्र राधाभिधा मम॥

में एकार्ध श्लोकों में राधा का उल्लेख मिलता है, इस तरह के एक-आध श्लोकों के आधार पर कुछ कहना कठिन है, इनमें कौन-सा ठीक है और और कौन-सा प्रक्षिप्त है इसे निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता है।

राधा का अवलम्बन करके ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण में कृष्णलीला बाकायदा भड़कीली हो उठी है। लेकिन दुःख की बात है कि, आजकल प्रचलित ब्रह्मवैवर्त-पुराण के बारे में ही हमारा संशय और अविश्वास सबसे अधिक है। बहुतेरे पंडितों ने आजकल प्रचलित ब्रह्मवैवर्त-पुराण की प्रामाणिकता के बारे में संदेह प्रकट किया है।[१] संदेह का पहला कारण यह है कि मत्स्य-पुराण के दो श्लोकों में ब्रह्मवैवर्त-पुराण का जो परिचय है उससे आजकल प्रचलित ब्रह्मवैवर्त-पुराण से आकार या प्रकार किसी भी दृष्टि से मेल नहीं है। दूसरी बात यह है कि सारे ब्रह्मवैवर्त में राधा-कृष्ण की प्रेमलीला की भरमार है, लेकिन वैष्णव गोस्वामियों ने इस पुराण की राधालीला का कोई उल्लेख क्यों नहीं किया? ब्रह्मवैवर्त-पुराणकार में एक और अभिनवत्व है। उन्होंने बड़े धूमधाम से राधाकृष्ण का ब्याह भी कराया है। स्वयं ब्रह्मा इस ब्याह में कन्यादान-कर्त्ता हैं।[२] राधा का अवलम्बन करके इस प्रकार के बहुतेरे प्रकार के उपाख्यान और वर्णन बहुधा ऐसे लौकिक निम्नस्तर पर उतर आए हैं कि प्राचीन पुराणकारों के लिए भी यह हमेशा शोभन या स्वाभाविक नहीं लगा।

ब्रह्मवैवर्तकार ने मानो कुछ उपाख्यानों का बहुत ज्यादा बढ़ा चढ़ाकर वर्णन किया है। यह आतिशय्य भी बहुधा संशय का कारण होता है। एक दृष्टान्त दे रहा हूँ। जयदेव के 'गीतगोविन्द' काव्य के पहले श्लोक को पढ़ने से भली-भांति मालूम हो जाता है कि कवि ने राधाकृष्ण लीला के एक विशेष उपाख्यान को लक्ष्य करके ही इस श्लोक को रचा है। इस श्लोक में वर्णित उपाख्यान का कुछ विस्तृत प्राचीन रूप पाने की हमें इच्छा होती है; लेकिन ब्रह्मवैवर्त-पुराण में इस उपाख्यान का जैसा वर्णन दिया गया है उसे पढ़ने से लगता है कि परवर्ती काल के किसी व्यक्ति ने हमारी आकांक्षा की बात समझकर मानो बहुत कुछ स्थूल ढंग से उस आकांक्षा की निवृत्ति की चेष्टा की है। हम नारद-पंचरात्र में 'राधा'

---

(१) बंकिमचन्द्र ने कहा है—'इसकी रचनाप्रणाली आजकल के भट्टाचार्यों जैसी है। इसमें षष्ठी, मनसा की कथा भी है'। (कृष्णचरित्र)

(२) ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्ण-जन्मखंड, १५ अध्याय (बंगवासी)।

शब्द की पुराणकार-प्रदत्त जो स्वकपोलकल्पित व्युत्पत्ति हम देख आए हैं, ब्रह्मवैवर्त-पुराण में भी राधा शब्द की व्युत्पत्ति वाला वही श्लोक दिखाई पड़ता है।[१] इन कारणों से ब्रह्मवैवर्त-पुराण में राधा उपाख्यान का प्राचुर्य और राधा माहात्म्य-ख्यापन के सारे आतिशय्यों के बावजूद ब्रह्म-वैवर्त-पुराणवर्णित राधा के तथ्य या तत्त्व किसी का भी अवलम्बन करने का विशेष उत्साह हमारे अन्दर नहीं दिखाई पड़ता है।

हम देखते हैं कि गौड़ीय वैष्णवों ने प्रसिद्ध पुराणों में केवल पद्मपुराण और मत्स्य-पुराण[२] में राधा का उल्लेख माना है। दूसरे पुराणों में शायद तब तक राधा का प्रवेश नहीं हुआ था। इसीलिए रूपगोस्वामी, जीव-गोस्वामी और कविराज गोस्वामी ने भिन्न-भिन्न श्रुतियों, स्मृतियों, तन्त्रों और उपपुराणों से राधा की प्राचीनता का प्रमाण जुटाने की चेष्टा की है। रूप गोस्वामी ने अपने उज्वलनीलमणि के राधा प्रकरण में कहा है कि "गोपालोत्तर तापनी में राधा गान्धर्वी नाम से विश्रुता हैं। ऋक्परिशिष्ट में राधा माधव के साथ उदित हैं।"[३] तन्त्र की कथा का उल्लेख करके रूप गोस्वामी ने कहा है,—"ह्लादिनी जो महाशक्ति है—जो सर्वशक्ति वरीयसी है—वही राधा तत्सार भावरूपा हैं, तन्त्र में यह बात ही प्रतिष्ठित है।"[४] जीवगोस्वामी और कृष्णदास कविराज ने 'वृहद् गौतमीय तन्त्र' से भी राधा के बारे में एक श्लोक ढूँढ़ निकाला है।[५] जीवगोस्वामी ने

(१) राशब्दोच्चारणाद्भक्तो इत्यादि।—ब्रह्मवैवर्त्त, प्रकृतिखण्ड, ४८।४० (बंगवासी)

(२) राधा वृन्दावने वने इति मत्स्यपुराणात्। जीवगोस्वामी कृत, 'ब्रह्मसंहिता' की टीका।

(३) गोपालोत्तरतापन्यां यद् गान्धर्वीति विश्रुता।
राधेत्यृक्परिशिष्टे च माधवेन सहोदिता॥

जीवगोस्वामी और विश्वनाथ चक्रवर्ती की उज्ज्वलनीलमणि की टीका में और जीव गोस्वामी ने 'ब्रह्मसंहिता' की टीका में 'ऋक्परिशिष्ट' के इस श्लोकार्ध को उद्धृत किया है—'राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका'।

(४) उज्ज्वलनीलमणि, राधाप्रकरण।

(५) देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥

जीवगोस्वामी की 'लघुभागवतामृत', 'ब्रह्मसंहिता' की टीका और कृष्णदास कविराज के 'चैतन्य-चरितामृत', आदि, ४था परिच्छेद देखिये।

'ब्रह्मसंहिता' की टीका में 'सम्मोहन तन्त्र' से भी राधा के सम्बन्ध में एक श्लोक ढूंढ़ निकाला है।[१] बंगवासी संस्करण के देवीभागवत में बहुतेरे स्थलों में राधा का उल्लेख मिलता है। 'महाभागवत' उपपुराण में भी राधा का उल्लेख दिखाई पड़ता है।[२] इसके अलावा 'राधा तंत्र' जैसे जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनका कोई विशेष उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं।

(ग) प्राचीन साहित्य में राधा का उल्लेख

पुराणों-उपपुराणों में, श्रुतियों-स्मृतियों तन्त्रादि में राधा के जो उल्लेख हैं उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता बिलकुल उड़ा देने की हमें हिम्मत न होने पर भी इन तथ्यों-प्रमाणों के आधार पर किसी विशेष ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पहुँचने में भी हम असमर्थ हैं। कृष्ण की प्रेम-कहानी से ही राधा का उद्भव हुआ है—इस मौलिक सत्य को मान लेने पर भागवत पुराण में जहाँ रास-वर्णन के उपलक्ष में प्रधान गोपी का उल्लेख है वहां राधा का उल्लेख मिलने पर हम उसे बड़ी आसानी से प्रामाणिक मान ले सकते थे। जिन दूसरी श्रुतियों-स्मृतियों-तन्त्रों में राधा का उल्लेख किया गया है उन ग्रन्थों के रचनाकाल के बारे में निश्चित रूप स कुछ नहीं कहा जा सकता है।

सारी बातों पर विचार करने पर हमें लगता है कि वैष्णव धर्म, दर्शन और साहित्य में राधा का आविर्भाव और क्रमविकास मूलतः भारतवर्ष के साहित्य का अवलम्बन करके हुआ है। लगता है, व्रज के चरवाहे कृष्ण की गोपियों के साथ प्रेमलीला पहले आभीर जाति में कुछ चरवाहों के गीतों के तौर पर बिखरी हुई थी। चपल आभीर वधुओं[३]

---

(१) यन्नाम्ना नाम्नि दुर्गाहं गणैर्गुणवती ह्यहम्।
यद्वैभवान्महालक्ष्मी राधा नित्या पराद्वया॥

(२) यहाँ विष्णुलक्ष्मी, कृष्ण-राधा, ब्रह्मा-सरस्वती, शिव-गौरी इन सब को अभिन्न मानकर वर्णन किया गया है।

कदाचिद् विष्णुरूपा च वामे च कमलालया।
राधया सहिताकस्मात् कदाचित् कृष्णरूपिणी॥
वामांगाधिगता वाणी कदाचिद्ब्रह्मरूपिणी।
कदाचिच्छिवरूपा च गौरी वामांकसंस्थिता॥ इत्यादि॥

(३) तुलनीय—बारहवीं शताब्दी में संगृहीत सदुक्तिकर्णामृत में 'वर्धमान' कवि का पद;—वत्स त्वं नवयौवनोऽसि चपलाः प्रायेण गोपस्त्रियः इत्यादि। सदुक्तिकर्णामृत, कृष्णयौवनम्, ३

और नौजवानी में अनिन्द्य सुन्दर गोप युवक कृष्ण की विचित्र प्रेमलीला के उपाख्यानों ने गोप जाति में अनेक गानों की प्रेरणा उत्पन्न की थी। लोकगीत के माध्यम से ही ये भारत के भिन्न भिन्न अंचलों में फैल रहे थे। भारत के भिन्न-भिन्न अंचलों में काफी प्रसिद्ध हो जाने के बाद वृन्दावन की कृष्ण-लीला धीरे-धीरे पुराणों में स्थान पाकर कवि-कल्पना में और भी पल्लवित होने लगी। कृष्ण की इस विचित्र गोपी-लीला की कहानी के अन्दर एक खास गोपी राधा से कृष्ण की विशेष प्रेमलीला की कुछ कुछ कहानियां फल्गु की धारा की नाईं भारतवर्ष के प्राचीन प्रेम-साहित्य के अन्दर से प्रवाहित होती प्रतीत होती हैं। विष्णु-पुराण और भागवत के रास वर्णन के अन्दर ही उसके प्रमाण मिल रहे हैं। और इधर-उधर बिखरे कुछ प्रमाण मिल रहें हैं प्राचीन भारत के कुछ प्रेम-गीत-संकलनों में—कुछ कुछ लिपियों में—कुछ कुछ दूसरे साहित्यों में।

कृष्ण की प्रियतमा प्रधान गोपी के सम्बन्ध में हम दाक्षिणात्य प्राचीन वैष्णव सम्प्रदाय आलवार गण के गानों को स्मरण कर सकते हैं। इनका आविर्भाव कब हुआ था इस विषय में नाना प्रकार के मतभेद हैं;[१] यूं माना जाता है कि रागमार्ग पर भजन करने वाले ये वैष्णवगण ईसा की पाँचवीं सदी से नवीं सदी के अन्दर भिन्न-भिन्न समयों में आविर्भूत हुए थे। ये लोग अपने को नायिका और विष्णु या कृष्ण को नायक मानकर रागमार्ग पर भजन करते थे। उनके इन भजन-संगीतों में चार हजार संगीत 'दिव्य-प्रबन्धम्' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यहाँ उन्होंने दिव्य भावावेश में आविष्ट होकर विष्णु का जो वर्णन किया है, उसके अन्दर विष्णु के कृष्ण अवतार में वृन्दावन लीला का नाना प्रकार से उल्लेख है। दूसरी बहुतेरी लीलाओं में गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेम-लीला का भी नाना प्रकार से उल्लेख है। इन गानों में भी बहुतेरे स्थलों पर कृष्ण की प्रियतमा एक प्रधान गोपी का उल्लेख मिलता है, लेकिन यहाँ भी 'राधा' का उल्लेख कहीं नहीं मिल रहा है। इस प्रधान कृष्ण की प्रियतमा गोपी का नाम तामिल गानों में 'नाप्पिन्नाइ' मिलता है। 'नाप्पिन्नाइ' एक फूल का

---

१. **इस विषय में गोविन्दाचार्य कृत** The Divine Wisdom of the Dravida Saints, The Holy Lives of the Azhvars **इन दोनों ग्रंथों, गोपीनाथ राव कृत** Sir Subrahmanya Ayyar Lectures (1923) **और एस० के० आयंगर कृत** Early History of Vaisnavism in South India **आदि ग्रंथों को देखिये।**

नाम है। इस नाप्पिन्नाइ गोपी का कृष्ण की निकट आत्मीया कहकर भी वर्णन किया गया है, और कृष्ण की प्रियतमा वही गोपी लक्ष्मी का अवतार है, ऐसी बात भी उल्लिखित है। जैसे—

Daughter of Nandagopal, who is like
A lusty elephant, who fleeth not,
With shoulders strong : Nappinnai, thou with hair
Diffusing fragrance open thou the door !
Come see how everywhere the cocks are crowing,
And in the *mathavi* bower the Kuil sweet
Repeats its song.—Thou with a bell in hand,
Come, gaily open, with the lotus hands
And tinkling bangles fair, that we may sing
Thy cousin's name ! Ah, Elorembavay !

Thou who art strange to make them brave in fight,
Going before the three and thirty gods ;
Awake from out thy sleep ! Thou who art just,
Thou who art mighty, thou, O faultless one,
O Lady Nappinnai, with tender breasts
Like unto little cups, with lips of red
And slender waist, Lakshmi, awake from sleep !
Proffer thy bridegroom fans and mirrors now,
And let us bathe ! Ah, Elorembavay ![1]

नाप्पिन्नाइ राधा की नाईं ही गजगामिनी हैं, गौरी हैं—सौन्दर्य की प्रतिमा हैं। सारे वर्णन को देखने से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यह नाप्पिन्नाइ ही गोपियों में प्रधान और कृष्ण की प्रियतमा हैं। पुराणों में वर्णित कृष्ण की वृन्दावन-लीला को लेते समय इस प्रियतमा विशेष गोपिका की कल्पना को भी भक्त कवियों ने लिया होगा। लेकिन इस पौराणिक कल्पना को उन्होंने स्थानीय उपाख्यानों से मिलाकर थोड़ा बहुत बदल लिया था। इस कृष्णप्रिया नाप्पिन्नाइ के प्रसंगों में देखते हैं कि, दक्षिण-देश की एक प्रसिद्ध सामाजिक प्रथा भी साथ ही ली गई है। तामिल भाषियों में प्राचीन काल में एक प्रथा थी इसका अवलम्बन करके जो अनुष्ठान

१. J. S. M. Hooper **कृत** Hymns of the Alvars **ग्रंथ में कवि अंडाल की कविता देखिए।**

होता है उसे 'वृष-वशीकरण' कहते हैं। पहले कुमारी कन्याए अपनी इच्छा से वीर युवकों को पति के रूप में चुनती थीं। इस वीरता की परीक्षा के लिए एक प्रथा थी। एक घेरे के अन्दर कुछ बलवान् साँड़ों को बन्द कर दिया जाता था। फिर बाजे बजाकर तथा दूसरे उपायों से उन्हें भड़काया जाता था; इसके बाद उन क्षिप्त साड़ों को बाहर आन दिया जाता था। रास्ते में वे वीर युवक रहते थे। उनका काम था अपन बाहुबल से साँड़ों को वश में लाना। जो इस काम को करते और वीर समझे जाते थे उन्हीं के गले में कुमारियाँ जयमाल डालकर अपने लिए वर चुन लेती थीं।[1] इन गानों में बहुतेरे स्थलों पर मिलता है कि बलवान् भुजाओं के बलपर श्रीकृष्ण ने वृष को वश में करके गोपबाला नाप्पिन्नाइ को प्रिया के तौर पर प्राप्त किया है। परवर्ती साहित्य की राधा ही तामिल साहित्य में नाप्पिन्नाइ बन गई है, इस प्रकार का मत अश्रद्धेय नहीं प्रतीत होता है।

इस प्रसंग में यह लक्ष्य किया जा सकता है कि दक्षिण देश में 'कुर-बइकूट्टु' नामक एक प्रकार के नृत्य का प्रचलन था, इसमें रास-नृत्य की तरह ही स्त्रियाँ एक दूसरे का हाथ पकड़कर नाचती हैं। कहा जाता है कि कृष्ण ने एकबार अपने अग्रज बलराम और प्रेयसी नाप्पिन्नाइ को लेकर यह नाच नाचा था।

हम प्राचीन साहित्य में राधा का पहला उल्लेख हाल के प्राकृत गानों के संकलन-ग्रंथ 'गाह-सतसई' में पाते हैं। हाल सातवाहन ईसा की पहली सदी में प्रतिष्ठानपुर में राज करते थे। हाल ने उस समय प्रचलित प्राकृत कवियों की प्रेम-कविताओं का बहुत धन खर्च करके इस ग्रंथ में संकलन किया था। इस मधुररसात्मक गाथाओं में व्यवहृत भाषा पर विचार करके, यह रचना ईसा की पहली सदी की है या नहीं, इस विषय में पंडितों ने संदेह प्रकट किया है; किसी-किसी ने इन गाथाओं को ई० २०० से ४५० के बीच की रचना बताई है। इसके रचनाकाल को किसी ने भी छठीं सदी के बाद नहीं माना है। ईसा सातवीं सदी के कवि बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में कई प्राचीन ग्रंथकारों का नामोल्लेख किया है; वहाँ सातवाहन के बारे में कहा गया है कि, "लोग जैसे विशुद्धजातीय रत्नों के द्वारा कोश (धन-कोश) निर्माण करते हैं सातवाहन राजा ने भी उसी तरह

(१) आज भी तमिलनाड की किसी-किसी जाति में यह प्रथा प्रचलित है। मद्रास के विवेकानन्द कालेज के अंग्रेजी के अध्यापक श्री ए० श्री निवास राघवन् ने मुझे यह बात बताई है।

सुभाषितों के द्वारा अविनाशी और अग्राम्य कोश का निर्माण किया था।" अतएव लगता है हाल द्वारा संकलित ये गाथाएँ और उसके साथ राधा-कृष्ण की प्रेम-कहानी ईसा की सातवीं सदी के पहले ही काफी प्रसिद्ध हो चुकी थीं।

हाल की 'गाहा-सत्तसई' में कृष्ण की व्रज-लीला के सम्बन्ध में कई पद हैं। केवल एक पद में स्पष्ट रूप से राधा का उल्लेख है।

एक कविता में लिखा है, "आज भी दामोदर बालक है, यशोदा जब ऐसा कह रही थीं, तब कृष्ण के मुखड़े की ओर निहार कर व्रज की वधुएँ ओट में हंस रही थीं।"[१] एक और पद में पाते हैं, "नाच की प्रशंसा के बहाने बगल में आई कोई निपुणा गोपी अपनी जैसी गोपियों के कपोल-प्रतिमागत कृष्ण का चुम्बन कर रही है।"[२] एक और पद में है, "हे कृष्ण, अगर भ्रमण करते हो तो इसी तरह से सौभाग्यगर्वित होकर इस गोष्ठ में भ्रमण करो, महिलाओं के दोष-गुण का विचार करने में अगर समर्थ हो!"[३] एक दूसरे पद में राधा-कृष्ण को ही मधुर रूप में पाते हैं—

मुहमारुएण तं कह्̣ण गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणँ बलवीणं अण्णाणँ वि गोरअं हरसि॥ १।२६

"हे कृष्ण, तुम मुख मारुत के द्वारा राधिका के (मुँह में लगे) गोरज (धूलि) का अपनयन करके इन वल्लभियों तथा दूसरी सभी नारियों के गौरव का हरण कर रहे हो।"

ईसा की आठवीं सदी के पहले ही राधावाद का प्रचलन था इस कथन के प्रमाणस्वरूप पहाड़पुर के मंदिर की दीवाल पर खड़ी युगल मूर्ति का उल्लेख किया जा सकता है। कृष्ण की वृन्दावन-लीला के बहुतेरे दृश्यों के साथ यह युगल मूर्ति मिलती है। पुरुष की मूर्ति कृष्ण की मूर्ति है इस विषय में कोई संदेह की गुँजाइश नहीं, लेकिन नारीमूर्ति राधा की है या रुक्मिणी या सत्यभामा की इसके बारे में किसी-किसी ने संदेह प्रकट किया है।

---

(१) अज्जवि बालो दामोअरोत्ति इअ जम्पिए जसोआए।
कह्णमुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिअं वअबहूहिं॥ २।१२
बम्बई निर्णयसागर संस्करण।

(२) णच्चणसलाहणणिहेण पासपरिसंठिआ णिउणगोवी।
सरिसगोविआणँ चुम्बइ कवोलपड़िमागअं कह्णम्॥ २।१४

(३) जइ भमसि भमसु एमेअ कह्ण सोहग्गगब्बिरो गोट्ठे।
महिलाणं दोसगुणे विचारइउं जइ खमो सि॥ ५।४७

कवि भट्टनारायण कृत (कहा जाता है कि ये बंगाली थे) 'वेणी-संहार' नाटक के नान्दी श्लोक में कालिन्दी के जल में रास के समय केलिकुपिता अश्रुकलुषा राधिका और उनके लिए किए गए कृष्ण के अनुनय का उल्लेख है।[१] आलंकारिक वामन द्वारा रचित अलंकार-ग्रंथ में भट्टनारायण की कविता का उल्लेख किया गया है, अतएव माना जा सकता है कि भट्ट-नारायण ईसा की आठवीं सदी के पहले के कवि थे। इसके बाद ईसा की नवीं सदी में आनन्दवर्धन कृत 'ध्वन्यालोक' अलंकार ग्रंथ में राधा-कृष्ण के बारे में एक प्राचीन श्लोक का उद्धरण पाते हैं—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दराजतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनविधिच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः।।

प्रवासी कृष्ण वृन्दावन से आए सखा से पूछ रहे हैं—"हे भद्र, उन गोपवधुओं के विलास-सुहृत् और राधा के गुप्त साक्षी कालिन्दीतटवर्ती लतागृह कुशल से तो है न! स्मरशय्याकल्पनविधि के लिए तोड़ने की आवश्यकता न रहने के कारण लगता है, अब वे पल्लव सूखकर विवर्ण होते जा रहे हैं।"[२]

अज्ञात लेखक द्वारा लिखित राधा-विरह का एक और पद ध्वन्यालोक में उद्धृत किया गया है। मधुरिपु कृष्ण के द्वारका चले जाने के बाद उन्हीं कपड़ों को शरीर पर लपेट कर और कालिन्दी-तटकुंज की मंजुल लताओं से लिपट कर सोत्कंठा राधा ने रुँधे हुए गदगद कंठ से विगलित तारस्वर से गाना गाया था कि उससे यमुना के जलचरगण ने भी उत्कंठित होकर कूजन करना शुरू कर दिया था।

याते द्वारवतीं पुरीं मधुरिपौ तद्वस्त्रसंव्यानया
कालिन्दीतटकुंजवंजुललतामालम्ब्य सोत्कण्ठया।
उद्गीतं गुरुवाष्पगद्गदगलतारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभि र्जलचरैरुत्कंठमाकूजितम्।।

---

(१) कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम्।
तत्पादप्रतिमानिवेशित-पदस्योद्भूतरोमोद्गते-
रक्षुण्णो-ऽनुनयं प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु वः।।

(२) कवीन्द्रवचनसमुच्चय में भी यह श्लोक मिलता है, (५०१)।

यह पद ईसा की दसवीं और ग्यारहवीं सदी के प्रसिद्ध आलंकारिक कुन्तक के 'वक्रोक्ति-जीवित' अलंकार ग्रंथ में भी उद्धृत दिखाई पड़ता है ।[1]

'नलचम्पू' रचयिता त्रिविक्रम भट्ट ने सन् ९१५ में राष्ट्रकूट-नृपति तृतीय इन्द्र की नौसरि लिपि की रचना की थी । 'नलचम्पू' में नल-दमयन्ती के वर्णन के प्रसंग में रचे गये कई द्व्यर्थक श्लोकों में कृष्ण और उनके जीवन के बारे में उल्लेख मिलता है । 'नलचम्पू' के एक श्लोक का अर्थ इस प्रकार लगाया जा सकता है—"कला-कौशल में चतुर राधा परम पुरुष मायामय केशिहन्ता के प्रति अनुरक्त हैं ।"[2] विभिन्न काव्यों के टीकाकार वल्लभदेव दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में काश्मीर में वर्त्तमान थे । उन्होंने माघकृत 'शिशुपाल-वध' के ४।३५ श्लोक की टीका में 'लोचक' (ओढ़नी यानी दुपट्टा के किस्म का शिरोवस्त्र) शब्द की व्याख्या करते हुए किसी प्राचीन ग्रंथ से राधा-कृष्ण का नाम युक्त एक श्लोक उद्धृत किया है । इस श्लोक में कृष्ण को न देखकर राधा दुःख प्रकट करती हैं—"निश्चय ही आज किसी अभागिनी ने मेरे कृष्ण का हरण किया है ।" राधा की बात सुनकर किसी सखी ने कहा—"राधा, तुम क्या मधुसूदन की बात कह रही हो ?" राधा ने बात को उलटते हुए कहा, "नहीं, नहीं, अपने प्राणप्रिय ओढ़नी की बात कह रही थी ।"[3] दसवीं शताब्दी के एक और चम्पू लेखक सोमदेव सूरि के 'यशस्तिलक' चम्पू में अमृतमति

---

(१) डा० सुशील कुमार दे द्वारा सम्पादित पद्यावली में उनके द्वारा लिखी गई कवि-परिचिति (अपराजित) देखिए,

यह पद सदुक्तिकर्णामृत में अज्ञात लेखक के नाम में और पद्यावली में अपराजित कवि के नाम में मिलता है । कुछ पाठान्तर के साथ हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में भी उद्धृत है । (डा० नरेन्द्र नाथ लाहा लिखित 'प्राचीन ओ मध्ययुगे भारतीय साहित्ये श्रीराधार उल्लेख' के नामक निबन्ध, 'सुवर्ण-वणिक्-समाचार', वर्ष ३४, अंक ६ देखिये) ।

(२) शिक्षितवैदग्ध्यकलापराधात्मिका परपुरुषे
मायाविनि कृतकेशिवधे रागं बध्नाति ।

यह तथ्य और इस प्रकार के और भी कई तथ्य मुझे अध्यापक दुर्गामोहन भट्टाचार्य से मिले थे । बाद में डा० नरेन्द्रनाथ लाहा के एक निबन्ध में इसका उल्लेख मिला । डा० लाहा का उपर्युक्त निबन्ध देखिए ।

(३) वही ।

नामक नारी अपने आचरण के समर्थन में कहती है, "राधा क्या नारायण के प्रति अनुरागिणी नहीं थीं?"[१]

"कवीन्द्रवचनसमुच्चय" एक सुन्दर संस्कृत-कविता संग्रह है। इसके संकलन-कर्त्ता के नाम का पता नहीं चला है। यह संकलन दसवीं शताब्दी का माना गया है, कवियों के और भी प्राचीनतर होने की संभावना है। इस संकलन में राधाकृष्ण के बारे में चार पद संगृहीत हैं। इनमें राधा का केवल उल्लेख भर ही नहीं है बल्कि जरा ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि, इसके अन्दर भाव, रस और अभिव्यंजना की शैली सभी दिशाओं से परवर्ती काल की वैष्णव कविता की सभी विशेषताएँ निखर उठी हैं। एक पद में राधाकृष्ण उक्तिप्रत्युक्ति के बहाने प्रणयचपल हास्यालाप मिलता है, "द्वारपर कौन है?" 'हरि' (कृष्ण, बन्दर), 'उपवन में जाओ, शाखामृग की यहाँ कौन-सी जरूरत है?" 'हे दयिते, मैं कृष्ण हूँ; 'तब तो और भी डर लग रहा है; बन्दर कैसे (काला) हो हो सकता है?' 'हे मुग्धे, मैं मधुसूदन (मधुकर) हूँ'; 'तो पुष्पित लता के पास जाओ।' प्रिया के द्वारा इस प्रकार निर्वचनीकृत लज्जित हरि हमारी रक्षा करें।"[२] एक दूसरे पद में देखते हैं कि, कृष्ण की तलाश में राधा ने एक दूती को भेजा था, भलीभाँति ढूँढ़ने पर भी कृष्ण नहीं मिले तब वह लौटकर राधा से कह रही है, "सखी, मैंने सारी रात उस धर्त्त को ढूंढ़ा—यहाँ हो सकता है, वहाँ हो सकता है, इस तरह (खोजा), अवश्य ही उसने दूसरी गोपी के साथ अभिसार किया है। मुररिपु को मैंने वट वृक्ष के तले नहीं देखा, गोवर्धनगिरि के नीचे भी नहीं देखा, कालिन्दी के कूल पर भी नहीं देखा, वेतसकुंज में भी नहीं देखा।"[३] एक और श्लोक में है—"गाय के दूध का कलश लेकर गोपियो, घर जाओ, जो गाएँ अभी

---

(१) वही।

(२) कोऽयं द्वारि हरिः प्रयाह्युपवनं शाखामृगेनात्र किं
कृष्णोऽहं दयिते विभेमि सुतरां कृष्णः कथं वानरः।
मुग्धेऽहं मधुसूदनो व्रज लतां तामेव पुष्पासवा—
मित्थं निर्वचनीकृतो दयितया ह्रीणो हरिः पातु वः॥

(३) मयान्विष्टो धूर्तः स सखि निखिलामेव रजनीम्
इह स्यादत्र स्यादिति निपुणमन्यामभिसृतः।
न दृष्टो भाण्डीरे तटभुवि न गोवर्धनगिरे
र्न कालिन्द्याः (कूले) न च निचुलकुञ्जे मुररिपुः॥ हरिव्रज्या, ३४।

भी दुही नहीं गई हैं उनके दुहे जाने पर यह राधा भी तुम लोगों के बाद जायगी। दूसरे अभिप्राय को हृदय में गुप्त रखकर जो इस प्रकार से व्रज को निर्जन कर रहे हैं, वही नन्दपुत्र के रूप में अवतीर्ण देव तुम्हारे सारे अमंगल को हरण करें।"[१] एक और पद में देखते हैं कि कृष्ण गोवर्धनगिरि को कराग्र से धारण किये हुए हैं, उनको देखकर राधा की दृष्टि प्रियगुण के कारण प्रीतिपूर्ण हो उठी है।[२]

एक और पद में राधा का नाम प्रत्यक्ष रूप से न मिलने पर भी उस को पढ़ने से मालूम होता है कि यह राधा ही के लिए कहा गया है। कोई सखी कह रही है—"कुचों के विलेपन को किसने पोंछ दिया है? आँखों के आंजन को किसने पोंछ दिया है? तुम्हारे अधरों के राग को किसने प्रमथित किया? केश की मालाओं को किसने नष्ट किया?" 'सखि, यह अशेषजन-स्रोत के कल्मषनाशी नीलपद्मभास के द्वारा हुआ है।" '(तो) कृष्ण के द्वारा हुआ?' 'नहीं, जमुना के जल से हुआ।' ('समझ गई) कृष्ण के प्रति ही (काले के प्रति) तुम्हारा अनुराग है।"[३]

'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' में कृष्ण की व्रजलीला सम्बन्धी एक सुन्दर पद मिलता है। दिन ढलता जा रहा है, इस समय गायों को फेर कर मन्द-मन्द वेणु बजाते हुए कृष्ण घर लौट रहे हैं। उनके सिर पर गोधूलिधूम्र मोर के पूंछ की चूड़ा है, गले में दिवस म्लान वनमाला है, श्रान्त होने पर भी वह रम्य है—ये कृष्ण हैं 'गोपस्त्रीनयनोत्सवः'।[४]

आनुमानिक ग्यारहवीं सदी के प्रथम भाग में वाक्पति की लिपि में कृष्ण के सम्बन्ध में एक सुन्दर श्लोक मिलता है। इस श्लोक में कृष्ण के लिए राधा का प्रेम ही श्रेष्ठ है, इस तरह की व्यंजना है। वहाँ भी कहा

---

(१) (...) धेनुदुग्धकलशनादाय गोप्यो गृहं
दुग्धे वष्कयिणीकुले पुनरियं राधा शनैर्यास्यति।
इत्यन्यव्यपदेशगुप्तहृदयः कुर्वन् विविक्तं व्रजं
देवः कारणनन्दसूनुरशिवं कृष्णः स मुष्णातु वः॥

(२) वही, ४२; सोन्नोक विरचित; सदुक्तिकर्णामृत और पद्यावली में भी उद्धृत।

(३) ध्वस्तं केन विलेपनं कुचयुगे केनाञ्जनं नेत्रयो
रागः केन तवाधरे प्रमथितः केशेषु केन स्रजः।
तेना(शेषज)नौधकल्मषमुषा नीलाब्जभासा सखि
किं कृष्णेन न यामुनेन पयसा कृष्णानुरागस्तव॥ वही—५१२

(४) वही, २२; कवि का नाम नहीं है।

गया है—"लक्ष्मी के वदनेन्दु द्वारा जिसे सुख नहीं प्राप्त था, जो शेष-नाग के हजार फणों की मधुर साँस से भी आश्वासित नहीं हुआ, राधा-विरहातुर मुररिपु की ऐसी जो कम्पित देह है वह तुम्हारी रक्षा करे।"[१] 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' में उद्धृत राधा का उल्लेख युक्त वैद्योक-लिखित एक श्लोक को ग्यारहवीं सदी में भोजराज ने अपने 'सरस्वती-कंठाभरण' में उद्धृत किया है।[२] जैन ग्रंथकार हेमचन्द्र ने बारहवीं सदी में लिखे अपने 'काव्यानुशासन' ग्रंथ में भी इस श्लोक को उद्धृत किया है। हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में राधा-कृष्ण का प्रेम सम्बन्धी एक और श्लोक उद्धृत किया है। यह श्लोक श्रीधरदास की 'सदुक्तिकर्णामृत' में भी दिखाई पड़ता है।[३] हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र (११००—११७५ ई०) ने गुण-चन्द्र नामक एक और लेखक के साथ मिलकर 'नाट्य-दर्पण' नामक नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी एक ग्रंथ लिखा था। इस ग्रंथ में भेज्जल कवि लिखित 'राधा-विप्रलम्भ' नामक एक नाटक का उल्लेख है। यह भेज्जल कवि और अभिनव गुप्त द्वारा भरत के नाटचशास्त्र की टीका में उल्लिखित भेज्जल कवि अगर एक हैं तो 'राधा—विप्रलम्भ' नाटक को दसवीं सदी के पहले की रचना माना जा सकता है।[४] बारहवीं सदी में रचित शारदा-तनय के 'भाव-प्रकाशन' में 'रामाराधा' नामक राधा सम्बन्धी एक नाटक का नाम मिलता है। उससे आधे श्लोक का उद्धरण 'भाव-प्रकाशन' में मिलता है।[५] कवि कर्णपूर के 'अंलकार-कौस्तुभ' में राधा को लेकर लिखे गए 'कंदर्प-मंजरी' नामक एक नाटक से उद्धरण मिलता है। महाप्रभु

---

(१) यल्लक्ष्मीवदनेन्दुना न सुखितं यन्नार्ऽदितम्वारिधे-
र्वारा यन्न निजेन नाभिसरसीपद्मेन शान्तिगतम्।
यच्छेषाहिफणासहस्रमधुरश्वासैर्न चाऽश्वासितं
तद्राधाविरहातुरं मुररिपोर्व्वेल्लद्वपुः पातु वः॥

The Indian Antiquary, 1877, ५१ पृष्ठ द्रष्टव्य।

(२) कनकनिकषस्वच्छे रा(धा)पयोधरमण्डले इत्यादि। कवीन्द्रवचन-समुच्चय, ४६।
यह श्लोक 'सूक्तिमुक्तावली' और 'सुभाषितरत्नकोश' में भी उद्धृत है।

(३) डा० लाहा का उपर्युक्त निबन्ध द्रष्टव्य।

(४) वही। डा० लाहा का निबन्ध।

(५) किमेषा कौमुदी किंवा लावण्यसरसी सखे।
इत्यादि रामाराधायां संशयः कृष्णभाषिते॥—वही

चतन्यदेव के समसामयिक या परवर्ती काल के कवियों में कन्दर्प-मंजरी नामक नाटक किस ने लिखा है, यह हमें मालूम नहीं। क्या वह नाटक भी चैतन्य के पहले किसी समय लिखा गया था? तेरहवीं सदी के अन्तिम भाग में सर्वय-शिलालिपि में भी हम कृष्ण को 'राधाधव' के तौर पर वर्णित पाते हैं।[१] सदुक्तिकर्णामृत' में धृत नाथोक कवि रचित एक पद में भी कृष्ण को 'राधाधव' कहकर वर्णन किया गया है।[२] तेरहवीं सदी के सागरनन्दी के 'नाटकलक्षणरत्नकोश' में राधा नामक 'वीथि' किस्म के नाटक का उल्लेख है। 'प्राकृतपिंगल' नामक प्राकृतछन्द के ग्रन्थ के एक प्राकृत श्लोक में कृष्ण द्वारा 'राधामुख-मधुपान' करने की बात मिलती है।[३] एक दूसरे श्लोक में राधा का स्पष्ट उल्लेख न मिलने पर भी नौका-विलास लीला में यह राधा की उक्ति ही मालूम पड़ती है। वहाँ कहा गया है—'हे कृष्ण, लो खेओ,—चंचल डगमग की कुगति मुझे मत दो। तुम इस नदी को पार करो, फिर तुम जो चाहते हो लो।"[४] रामशर्मा के 'प्राकृत कल्पतरु' के अपभ्रंशस्तवक में राधा-कृष्ण के बारे में अपभ्रंश की दो कविताएँ दी गई हैं।[५]

बारहवीं सदी में आकर हम राधा के आधार पर पूर्ण विकसित काव्य जयदेव का 'गीतगोविन्द' पाते हैं। लीला-शुक विल्वमंगल ठाकुर रचित 'कृष्णकर्णामृत' ग्रन्थ को भी बारहवीं शताब्दी के आस-पास लिखा माना जा सकता है। बारहवीं शताब्दी के प्रथम भाग में संकलित श्रीधरदास की 'सदुक्तिकर्णमृत' में कृष्ण की व्रजलीला और राधा कृष्ण के प्रेम के सम्बन्ध में कितनी ही कविताएँ संगृहीत हैं। अतएव परवर्ती काल के साहित्य

---

(१) The Indian Antiquary, 1893, ८२ पृष्ठ द्रष्टव्य।

(२) वेणुनादः, ५।

(३) चाणूर विहंडिय निअकुल मंडिअ
राहा मुह महु पाण करे जिमि भमरबरे।
मात्रावृत्त, २०७

(४) अरेरे वाहहि कान्ह णाव
छोड़ि डगमग कुगति ण देहि।
तइ इत्थि णइहि संतार देइ
जो चाहहि सो लेहि ।।मात्रावृत्त, ९

(५) Indian Antiquary पत्रिका (१९२२) ग्रियर्सन के प्रबन्ध 'The Apabhramsa Stabakas of Rama-Sarman' प्रबन्ध द्रष्टव्य।

में राधावाद के विकास की धारा को अच्छी तरह समझने के लिए बारहवीं शताब्दी में मिले राधा कृष्ण सम्बन्धी साहित्य को भली-भांति देखना जरूरी है।

लीला-शुक विल्वमंगल ठाकुर के कृष्णकर्णामृत[1] ग्रंथ का परवर्ती वैष्णवधर्म और साहित्य—विशेष करके गौड़ीय वैष्णव धर्म और साहित्य पर गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। श्रीमान् महाप्रभु चैतन्यदेव अपने दक्षिण भ्रमण के समय दो ग्रंथों को 'महारत्न' तुल्य समझ कर लिखवा लाये थे। वे दोनों ग्रंथ हैं 'ब्रह्म-संहिता' और 'कृष्णकर्णामृत'। दाक्षिणात्य में प्रचलित इस कृष्ण-कर्णामृत ग्रंथ के पाठों के अन्दर कितने ही स्थलों पर राधा का उल्लेख मिलता है। बंगाल में प्रचलित पाठ में दो श्लोकों में राधा का उल्लेख मिलता है।[2] एक श्लोक इस प्रकार है—

> तेजसेऽस्तु नमो धेनुपालिने लोकपालिने।
> राधापयोधरोत्संगशायिने शेषशायिने ॥७६

"उस तेजोरूप को नमस्कार—जो धेनु पालक और लोक पालक है; जो राधा के पयोधरोत्संग पर शयित हैं—जो शेषनाग पर शयित हैं।" दूसरा श्लोक इस प्रकार है—

> यानि त्वच्चरितामृतानि रसनालेह्यानि धन्यात्मनां
> ये वा शैशवचापलव्यतिकरा राधावरोधोन्मुखाः।
> ये वा भावितवेणुगीतगतयो लीला मुखाम्भोरुहे
> धारावाहिकया वहन्तु हृदये तान्येव तान्येव मे। १०६

तुम्हारा जो चरितामृत धन्यात्माओं (सौभाग्यवान् पुण्यात्माओं) की रसना द्वारा लेहनयोग्य है, राधा के अवरोध (राधा को नाना प्रकार से

---

(१) इस ग्रन्थ के दो पाठ मिलते हैं। बंगदेश के पाठ के आधार पर डा० सुशीलकुमार दे ने इसका एक प्रामाणिक सं० ढाका विश्वविद्यालय से प्रकाशित कराया है। बंगदेश के संस्करण में ११२ श्लोक ही मिलते हैं। दाक्षिणत्य में जो पोथी मिलती है उस में तीन 'आश्वास' हैं। पहले आश्वास में १०७, दूसरे में ११० और तीसरे में १०२ श्लोक मिलते हैं। यह श्री वाणीविलास प्रेस से प्रकाशित हुई है। विविध कारणों से बंगाल का पाठ ही प्रामाणिक लगता है। देखिए डा० दे की भूमिका।

(२) जल्हन कवि द्वारा संगृहीत 'सूक्तिमुक्तावली' (बड़ौदा सं०) में 'राधा' नामांकित लीला-शुक का एक पद मिलता है। (नं० १००)

अवरुद्ध करने) के लिये उन्मुख तुम्हारी जो शैशव-चापल-प्रसूत चेष्टाएँ हैं, या तुम्हारे मुख-कमल पर भावशवल वेणु-गीतगति-समूह की लीलाएँ हैं—वे धारावाहिक रूप से मेरे हृदय में बहती रहें"।

इन दो पदों में राधा का स्पष्ट उल्लेख मिलने पर भी लगता है कि इस काव्य के मधुररसाश्रित व्रजलीला सम्बन्धी पद राधा को लक्ष्य करके ही कहे गये हैं; कृष्णदास कविराज ने अपनी टीका में इन सारे स्थलों पर राधा का उल्लेख करके ही पदों की व्याख्या की है। कृष्णकर्णामृत में राधा का यह उल्लेख नाना कारणों से तात्पर्यपूर्ण है। यह बात सच है कि ग्रन्थ के रचनाकाल के बारे में मतभेद है। ईसा की १० वीं सदी से लेकर १५ वीं सदी के प्रथम भाग तक रचनाकाल बताया गया है। अगर हम बहस में न पड़कर कृष्णकर्णामृत का रचना-काल भिन्न दिशाओं से इस ग्रन्थ के सधर्मा ग्रन्थ 'गीतगोविन्द' के रचना काल १२वीं सदी को मान लें तो शायद हम सत्य से बहुत दूर नहीं जाएँगे। इस ग्रन्थ के रचनाकाल के सम्बन्ध में हमें एक विशाल तथ्य यह मिलता है कि श्रीधर दास के 'सदुक्तिकर्णामृत' में 'कृष्ण-कर्णामृत' के पूर्वोद्धृत १०६ संख्यक पद को उद्धृत पाते हैं (१।५८।५); इससे 'कृष्णकर्णामृत' का रचनाकाल कम से कम १२ वीं सदी मान लेने में कोई रुकावट नहीं दिखाई पड़ती। इस ग्रन्थ का रचना-स्थान दक्षिण भारत है इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। किंवदन्ती है कि कवि दाक्षिणात्य की कृष्णवेण्वा नदी के तीर पर रहने वाले थे। महाप्रभु चैतन्यदेव ने भी कृष्णवेण्वा (कृष्णवेण्णा ?) नदी के तीर वाले तीर्थों में वैष्णव ब्राह्मणों में इस ग्रन्थ का बहुल प्रचार देखा था और उन्हीं से आग्रह के साथ इस ग्रन्थ को लिखवा लाये थे।[1] ससे प्रतीत होता है कि ईशा की बारहवीं सदी के

---

(१) तबे महाप्रभु आइला कृष्णबेण्णा तीरे।
नाना तीर्थ देखि ताहा देवता मन्दिरे॥
ब्राह्मण समाज सव वैष्णव चरित।
वैष्णव सकल पड़े कृष्ण-कर्णामृत॥
कर्णामृत शुनि प्रभुव आनन्द हइल।
आग्रह करिया पुंथि लेखाइया लइल॥
कर्णामृत सम वस्तु नाहि त्रिभुवने।
याहा हइते हय शुद्ध कृष्णप्रेम ज्ञाने॥
सौन्दर्य माधुर्य कृष्णलीलार अवधि।
से जाने ये कर्णामृत पड़े निरवधि॥

चैतन्य-चरितामृत, मध्य, ९।

आसपास राधावाद का अवलम्बन करके वैष्णव धर्म दक्षिण में भी काफी फैल गया था। आलवारों की मधुररसाश्रित साधनाओं वगैरह की बात हम पहले ही लिख आये हैं? इसी समय दक्षिण देश में राधावाद के प्रसार का एक ध्यान देने योग्य प्रमाण हमें कृष्णदास कविराज कृत चैतन्य-चरितामृत ग्रन्थ में मिलता है। दक्षिण की इसी गोदावरी नदी के तीर पर ही महाप्रभु ने रामानन्द राय से राधाप्रेम के गूढ़ तत्त्वों को सुना था। बहुत दिनों के प्रचार और प्रसिद्धि के न होने पर रामानन्द राय के लिये राधाप्रेम के गूढ़ तत्त्वों का विस्तारपूर्वक विवेचन करना सम्भव नहीं होता। कृष्णदास कविराज ने इस विवेचन का जो विस्तृत विवरण दिया है वह पूरा का पूरा ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में न लिये जाने पर भी कम से कम राधाप्रेम के सारे तत्त्व राय रामानन्द को मालूम थे इसे स्वीकार करना ही होगा।

कृष्णकर्णामृत से राधा के उल्लेख युक्त जिस दूसरे श्लोक को हम लोगों ने उद्धृत किया है "राधावरोधोन्मुख" शैशव-चापल्यजनित चेष्टाओं के द्वारा परवर्ती काल में विस्तारपूर्वक वर्णित दानलीला, नावलीला आदि कृष्ण की लीलाओं का ही आभास उस में मिल रहा है।[१] पहले जिस श्लोक को उद्धृत किया है उसके अन्दर देखते हैं कि राधा वहाँ लक्ष्मी के साथ एक हो गई हैं। शेषशयन में शयित कृष्ण जिस राधा के पयोधरोत्संग पर शयित हैं वह राधा लक्ष्मी का ही रूपान्तर है इस बात को समझने में दिक्कत नहीं होती। जयदेव के गीतगोविन्द में भी हमें राधा के इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं।[२] देखा जाता है कि जिस लक्ष्मी तत्त्व और राधा तत्त्व के परवर्ती काल में जो स्पष्ट पार्थक्य दिखाई पड़ा है, वह पार्थक्य अभी तक साफ नहीं हो पाया है। अर्थात्

---

(१) कृष्णदास कविराज ने अपनी 'सारंगरंगदा' टीका में लिखी है, "दान-पुष्पाहरण-वर्त्मन्यादौ राधाया योऽवरोध स्तत्रोन्मुखाः।" गोपालभट्ट ने अपनी कृष्णवल्लभा टीका में लिखा है—"राधाया अवरोधोऽवरोधनं ग्रहणरूपं तत्र तदर्थं वोन्मुखाः। यद्वा राधैवावरोधः प्रिया तस्यामुन्मुखाः॥"

(२) त्वामप्राप्य मयि स्वयंवरपरां क्षीरोदनीरोदरे
शंके सुन्दरि कालकूटमणिवन्मूढ़ो मृड़ानीपतिः।
इत्थं पूर्वकथाभिरन्यमनसो निक्षिप्य वक्षो ऽञ्चलं
राधायास्तनकोरकोपरि मिलन्नेत्रो हरिः पातु वः॥१२।२७

वैष्णव-ग्रन्थों में राधा जब पहले पहल गृहीत हुईं तब कुछ दिनों तक प्राचीन लक्ष्मीवाद के साथ मिलकर ही वे प्रकट हुईं। उस वर्णन में लक्ष्मी का वर्णन और राधा का वर्णन बहुतेरे स्थलों पर मिलकर एक हो गया है। ।'कृष्णकर्णामृत' और 'गीतगोविन्द' में लक्ष्मी, कमला, या रमा का वर्णन और राधा का वर्णन अगल-बगल दिखायी पड़ता है, दोनों ही समभाव से कृष्णप्रिया हैं। इस समय की कविताओं में राधा-कृष्ण सीताराम के ही परवर्ती अवतार हैं, इस प्रकार के विश्वास के प्रचलित रहने के प्रमाण भी हैं।[1] लेकिन इस प्रकार से प्राचीन लक्ष्मी उपाख्यान से बहुतेरे स्थलों पर राधा का मिला-जुला वर्णन मिलने पर भी प्रेममयी राधिका का सौन्दर्य-माधुर्य लक्ष्मी के सौन्दर्य-माधुर्य से अधिक है और राधा ही कृष्ण की प्रियतमा हैं, इस प्रकार का एक अन्तःसलिला फल्गुस्त्रोत भी प्रवाहित था। हमने ग्यारहवीं सदी के प्रथम भाग के वाक्पति-लिपि का उल्लेख किया है। उससे साफ-साफ लक्ष्मी की अपेक्षा राधा की श्रेष्ठता ही सिद्ध हुई है। इसके अलावा बारहवीं सदी में संकलित श्रीधरदास की 'सदुक्तिकर्णामृत' में भी कई कवियों की कविताओं में लक्ष्मी प्रेम की अपेक्षा राधा-प्रेम की श्रेष्ठता प्रतिपादित या व्यंजित हुई है। "कृष्ण-स्वप्नायितम्' में हम देखते हैं कि राधा के अकारण रोष को प्रशमित करने के लिये शार्गंधर स्वप्न में जब बोल रहे थे तब कमला ने उसे सुनकर सव्याज शार्गंधर के कंठ से अपन दोनों बाहुओं को शिथिल कर दिया था।[2] दूसरे पद में देखते हैं कि श्री के साथ रमण करते समय भी हरि राधा का स्मरण कर रहे हैं; लेकिन अपनी इच्छा के बावजूद वे राधा से मिल नहीं पा रहे हैं, इसी बात का उन्हें खेद है।[3] एक और

---

(१) एते लक्ष्मण जानकीविरहिणं मां खेदयन्त्यम्बुदा
मर्माणीव च खण्डयन्त्यलममी क्रूराः कदम्बानिलाः ।
इत्थं व्याहृतपूर्वजन्मविरहो यो राधया वीक्षितः
सेर्ष्यं शंकितया स वः सुखयतु स्वप्नायमानो हरिः ।।
शुभान्क-कविकृत सदुक्तिकर्णामृत, कृष्णस्वप्नायितं, ३;
विरिंचि-कविकृत परवर्ती (नम्बर ४) पद भी देखिए ।

(२) सदुक्तिकर्णामृत, कृष्णस्वप्नायितं, ५। कवि का नाम नहीं दिया हुआ है। 'पद्यावली' में उमापति धर के नाम से उद्धृत है। वहाँ 'कमला' की जगह रुक्मिणी पाठ मिलता है।

(३) राधां संस्मरतः श्रियं रमयतः खेदो हरेः पातु वः ।।
वही, उत्कन्ठा, ४। कवि का नाम नहीं है ।

पद में देखते हैं कि शेषशयन में विष्णु जब रमा के साथ शायित हैं, तब भी कृष्ण-अवतार में गोपवधुओं के साथ (अथवा गोपवधू राधा के साथ) हजारों स्मृतियों का जय ज कार किया गया है।[1] जयदेव के समसामयिक उमापति धर के एक पद में देखते हैं कि लक्ष्मी की अवतार रुक्मिणी को लेकर कृष्ण द्वारका में हैं; जिस मन्दिर की रत्नछाया समुद्र के जल में विकीर्ण हो गई है, ऐसे मन्दिर में रुक्मिणी के गहरे आलिंगन से पुलकित मुरारि यमुनातीर के कुंजों में आभीर बालाओं के जो निभृत चरित हैं, उन्हीं के ध्यान में मूर्छित हो गया।[2] जयदेव के समसामयिक शरण कवि का भी एक पद मिलता है। इसमें लिखा है कि द्वारावतीपति दामोदर कालिन्दी के तट वाल शैलोपान्त भूमि के कदम्ब-कुसुम से आमोदित कन्दरा में प्रथम-अभिसार-मधुरा राधा को बातें स्मरण करके तप्त हो रहे हैं।[3] यह बात सच है कि लक्ष्मी आदि के प्रेम की अपेक्षा गोपी-प्रेम श्रेष्ट है, इस सत्य का आभास भागवत् आदि पुराणों में है। अतएव प्रेमधन में श्रीमती राधा का ही सबसे अधिक धनी हैं। परवर्ती काल के इस तत्व की एक पूर्वधारा बड़ी आसानी से देखी जा सकती है।

इस प्रसंग में एक और बात भी लक्षणीय है। हम पहले लिख आये हैं कि प्राचीन वैष्णव शास्त्र में लक्ष्मी का अवलम्बन करके विष्णु की लीला-स्फूर्ति का उतना वर्णन नहीं मिलता। श्रीवैष्णवों में लक्ष्मी के साथ मधुर लीला के आभास का उल्लेख हम लोगों ने पहले किया है। दसवीं से बारहवीं शताब्दी के अन्दर लक्ष्मी के जो उल्लेख मिलते हैं, उनके अन्दर मधुर रस का स्फुरण दिखाई पड़ता है। 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' और 'सदुक्तिकरर्णामृत' में लक्ष्मी के बारे में कुछ कवितायें उद्धृत हैं। वहाँ लक्ष्मी के साथ नारायण की नाना प्रकार की प्रेम-लीला-शृंगार वर्णन या निधुवनान्त लक्ष्मी का वर्णन दिखाई पड़ता है।[4] हम देखते हैं कि

(१) कृष्णावतारकृतगोपवधूसहस्त्रसंगस्मृतिर्जयित इत्यादि, वही ५। कवि का नाम नहीं है।

(२) विश्वं पायान् मसृणयमुनातीरबानीरकुञ्जे-
ष्वाभीरस्त्रीनिभृतचरितध्यानमूर्च्छा मुरारेः ।।
वही, १; पद्यावली में उद्धृत।

(३) वही, २

(४) कवीन्द्रवचनसमुच्चय, २०, ३३, ३७, ३८, ४४; सदुक्तिकर्णामृत में लक्ष्मीशृंगार के श्लोक समूह (कवीन्द्रवचनसमुच्चय के कई श्लोक यहाँ भी उद्धृत किये गये हैं)।

लक्ष्मी दार्शनिक शक्ति रूप छोड़ कर धीरे-धीरे मधुर-रसाश्रिता होती जा रही हैं; और इस मधुर रस के आधार पर ही पूर्ववर्ती लक्ष्मी पूरवर्ती राधा के साथ मिल गई हैं। ऊपर हम लोगों ने जिस पार्थक्य की धारा देखी, उसने प्रबल आकार धारण करके सोलहवीं शताब्दी के गौड़ीय वैष्णव साहित्य में लक्ष्मी और राधा को तत्त्व की दृष्टि से बिलकुल अलग कर दिया और इस तत्त्व-प्रभावित वैष्णव-साहित्य में लक्ष्मी और राधा का मिलन फिर नहीं हुआ, लेकिन लक्ष्मी और राधा का मिलन न होने पर पूर्वमिलन के कारण ही लक्ष्मी अपने जन्म का कुछ-कुछ इतिहास परवर्ती काल की राधा में छोड़ गई हैं। पुराणादि के मतानुसार वृषभानु गोप राधा के पिता और कलावती या कीर्तिदा राधा की माता हैं। लेकिन वड़ चण्डीदास के 'श्रीकृष्णकीर्तन' में हमें राधा का जन्म परिचय इस प्रकार से मिलता है—

ते कारणे पदुमा उदरे ।
उपजिला सागरेर घरे ।।

यहाँ देखते हैं कि 'पदुमा' (पद्मा) राधा की माँ हैं और सागर उनके पिता हैं। लक्ष्मी सागर से उत्पन्न हुई हैं, अतएव यह ठीक है कि सागर ही राधा के पिता हैं; लक्ष्मी का जन्म पद्म से हुआ है, इसलिये 'पदुमा' राधा की माता हैं, यह भी ठीक ही है। 'श्रीकृष्ण-कीर्तन' में बहुतेरे स्थलों पर राधा खुद भी 'पदुमिनी' अर्थात् 'पद्मिनी' हैं; लक्ष्मी भी पद्मा या पद्मिनी हैं। परवर्ती काल के पदावली-साहित्य में भी राधा 'कमला' नहीं भी हो सकती हैं, लेकिन 'कमलिनी' अवश्य हैं।

जयदेव के 'गीतगोविन्द' काव्य में फिर राधा जहाँ-तहाँ नहीं मिलीं, बल्कि सारे काव्य के कृष्ण नायक और राधा ही नायिका हैं, सखियाँ लीला-सहचरी हैं। वैष्णव-धर्म और साहित्य में राधा यहाँ पूरी तरह प्रतिष्ठित हैं। जयदेव के गीतगोविन्द काव्य में ही राधा पूरी तरह प्रतिष्ठित हुई हैं, ऐसा कहना उचित नहीं होगा; जयदेव के युग-साहित्य में राधा की प्रतिष्ठा है। जयदेव के समय वंग देश या वृहत्तरवंग में सचमुच ही साहित्य का एक युग निर्मित हुआ था। जयदेव ने खुद ही अपने काल में उमापति धर, शरण, गोवर्धनाचार्य और धोयी कवि का उल्लेख किया है। सम्भवतः यह कविगोष्ठी बंगाल की सेन-राजसभा को केन्द्र करके ही बनी थी। सेन राजा वैष्णव थे; शायद इसीलिये इस युग के काव्य में वैष्णवमत को ही प्रधानता मिली थी। 'सदुक्तिकर्णामृत' में जयदेव के, उनके पूर्ववर्ती और उनके समसामयिक बहुतेरे कवियों की

यहाँ तक कि राजा लक्ष्मण सेन और उनके पुत्र केशवसेन की लिखी वैष्णव कवितायें संग्रहीत हैं। इसके अन्दर राधा-कृष्ण-लीला सम्बन्धी जयदेव के लिखे ऐसे पद भी मिलते हैं[1] जो 'गीतगोविन्द' में नहीं हैं। इससे मालूम होता है कि राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में जयदेव ने केवल 'गीतगोविन्द' काव्य की ही रचना नहीं की थी, बल्कि राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में दूसरे तरह की –वितायें भी लिखी थीं।[2]

'सुदुक्तिकर्णामृत' में जो वैष्णव-कविताएँ उद्धृत हैं, उनके विविध कवि"ों की शान्त, दास्य, वात्सल्य, और मधुर, प्रायः सभी रसों की कविताएँ मलती हैं। इनमें मधुर रस की कविताओं के साथ वात्सल्य रस की कविताएँ भी भाव और अभिव्यंजना शैली की चमत्कारिता के लिये उल्लेखयोग्य है। कृष्ण की कौमारलीला के दो-एक पदों से परवर्ती काल की गोष्ठ कविता का सादृश्य देखा जा सकता है।[3]

जयदेव के समसामयिक कवि उमापति धर के कौमार-लीला सम्बन्धी पदों में देखते हैं कि कृष्ण कुमार की अवस्था में कालिन्दी के जल में अथवा शैल में या उपशल्य में (गाँव के छोर पर) अथवा बरगद के पेड़

---

(१) सदुक्तिकर्णामृत, गोवर्धनोद्धार, ५।

(२) राधा-कृष्ण-प्रेम की कविताओं के अलावा जयदेवरचित दूसरी कवितायें भी संग्रहग्रन्थों में मिलती हैं। अगर ये दोनों जयदेव एक कवि हों तभी यह बात लागू होती है।

(३) नमूने के लिए दो पद उद्धृत किए जाते हैं:—

वत्स स्थावरकन्दरेषु विचरंश्चारप्रचारे गवां
हिंस्रान् वीक्ष्य पुरः पुराणपुरुषं नारायणं ध्यास्यसि।
इत्युक्तस्य यशोदया मुररिपोरव्याज्जगन्ति स्फुर-
द्बिम्बोष्ठद्वयगाढ़पीड़नवशादव्यक्तभावं स्मितम्॥ (अभिनन्द)

थोड़े भाषान्तर के साथ यह पद कवीन्द्रवचनसमुच्चय में भी उद्धृत है।

मा दूरं व्रज तिष्ठ तिष्ठेति पुरस्ते लूनकर्णो वृकः
पोतानत्ति इति प्रपंचचतुरोदारा यशोदागिरः। इत्यादि।

वात्सल्य रस के दृष्टान्त स्वरूप मयूर कवि के पद को भी (कृष्णस्वप्नायितम् १) देखिए। बाद वाले युग में हिन्दी के कवि सूरदास के वात्सल्य रस के पद में इस श्लोक की छाया देखी जा सकती है।

के नीचे घूमते फिर रहे हैं। उसी प्रकार राधा के पिता के घर के आंगन में भी आ-जा रहे हैं।[1] उमापति धर का हरिक्रीड़ा का एक और मधुर पद मिलता है। कृष्ण जब रास्ते से जा रहे थे तब कोई गोप रमणी भौंहों से, कोई गोपी नयनों से, कोई गोपी जरा मुस्करा कर चाँदनी छिटका कर गुप्त रूप से कृष्ण रूप का सादर स्वागत कर रही थी। राधा ने शायद दूर से ही इसे देख लिया है। इससे गर्वजनित अवहेलन से राधा के मुखमण्डल ने विजयश्री धारण की थी; उधर इस विनय शोभाधारी राधा के चेहरे पर कंसारि कृष्ण का जो दृष्टिपात है, उसके अन्दर भी आतंक और अनुनय आ गया है—

> **भ्रूवल्लीचलनैः कयापि नयनोन्मेषैः कयापि स्मित—**
> **ज्योत्स्नाविच्छुरितैः कयापि निभृतं सम्भावितस्याध्वनि।**
> **गर्वोद्भेदकृतावहेलविनयश्रीभाजि राधानने**
> **सातंकानुनयं जयन्ति पतिताः कंसद्विषो दृष्टयः।।**[2]

इस कवि के एक दूसरे पद में आभीर वधू राधा को लेकर निराले में कृष्ण की विहार की इच्छा देखते हैं; लेकिन गोपकुमारों से भी संग नहीं छुड़ाया जा रहा है; इस हालत में कृष्ण गोपकुमारों का लक्ष्य करके कह रहे हैं कि, तमाम-लतायें सापों से भरी हुई हैं, वृन्दावन भी बन्दरों से भर गया है, यमुना के जल में मगर हैं और पहाड़ की सन्धि में विकराल शेर हैं, गोप बालकों के लिये इन बातों को कहकर और आँखें सिकोड़ कर संकेत से वे मिलिनतृषित आभीर वधू राधा को मना कर रहे हैं।[3] रुक्मिणी आदि के प्रेम से राधा के पुत्र प्रेम की श्रेष्ठता का सिद्ध करने वाले उमापति धर के सुन्दर पद का उल्लेख हमने पहले ही कर आये हैं।[4] इस कवि के एक और पद में कृष्ण के जिस वेणु स्वर से गोष्ठ से गायें लौट आती हैं, जो वेणु स्वर गोप नारियों के चित्त को हरण

---

(१) **कालिन्दीपुलिने मया न न मया शैलोपशल्ये न न**
न्यग्रोधस्य तले मया न न मया राधापितुः प्राङ्गणे।
दृष्टः कृष्ण इति। इत्यादि।

(२) **यह पद 'पद्यावली' में भी उद्धृत है।**

(३) **व्यालाः सन्ति तमालवल्लिषु वृतं वृन्दावनं वानरै—**
रुग्नक्रं यमुनाम्बु घोरवदनव्याघ्रा गिरेः सन्धयः।
इत्थं गोपकुमारकेषु बदतः कृष्णस्य तृष्णोत्तर—
स्मेराभीरवधूनिषेधि नयनस्याकुञ्चनं पातु वः।। हरिक्रीड़ा, ४

(४) **देखिये वर्तमान ग्रन्थ का १२९ पृष्ठ।**

करने में सिद्धमन्त्र स्वरूप हैं, जिस वेणु स्वर से वृन्दावन के रसिक मृगों का मन सानन्द आकृष्ट होता है, उसी वेणु स्वर का जयगान किया गया है।[१]

अभिनन्द कवि के एक पद में नवयौवन पर पहुँचे कृष्ण का राधा के साथ नर्म-क्रीड़ा में लुभाया चित्त—लेकिन यशोदा से डर कर—यमुना के किनारे बिलकुल निर्जन लतागृह में प्रवेश करने का संकेत पाते हैं[२]। लक्ष्मणसेन के नाम से भी हरि-क्रीड़ा का एक सुन्दर पद मिलता है। लक्ष्मणसेन के पुत्र नवकेशवसेन का भी एक पद मिल रहा है[३]; तो लगता है कि ये लक्ष्मणसेन राजा लक्ष्मणसेन ही हैं। पद इस प्रकार है—

कृष्ण त्वद्वनमालया सह कृतं केनापि कुंजान्तरे
गोपीकुन्तलवर्हदाम तदिदं प्राप्तं मया गृह्यताम्।
इत्थं दुग्धमुखेन गोपशिशुनाख्याते त्रपानम्रयो
राधामाधवयोर्जयन्ति वलितस्मेरालसा दृष्टयः ।।

'कृष्ण ! एक दूसरे कुंज में कोई आकर तुम्हारी वनमाला के साथ गोपीकुन्तल के साथ मयूरपुच्छ एक साथ करके रख गया है। मुझे यह मिला है, यह लो। एक दुधमुँहाँ गोपशिशु के ऐसा कहने से राधामाधव की जो वलितस्मरालस और लज्जानम्र जो दृष्टि समूह हैं, उनकी जय हो।" लक्ष्मणसेन का वेणुनाद सम्बन्धी एक और पद मिल रहा है। वहाँ तीर्यक-स्कन्ध कृष्ण अपनी आमीलित दृष्टि गहरी व्याकुलता के साथ राधा पर अड़ा कर वेणु बजा रहे हैं[४]।

लक्षणसेन के पुत्र केशवसेन के लिखे एक पद से जयदेव के गीत-गोविन्द के 'मेघैर्मेदुर'—आदि प्रथम श्लोक का मेल अत्यन्त घनिष्ठ है।

आहूताद्य मयोत्सवे निशि गृहं शून्यं विमुच्यागता
क्षीवः प्रैष्यजनः कथं कुलवधूरेकाकिनी यास्यति।
वत्स त्वं तदिमां नयालयमिति श्रुत्वा यशोदागिरो
राधामाधवयोर्जयन्ति मधुरस्मेरालसा दृष्टयः ।।[५]

---

(१) वेणुनादः, ३; यह पद 'पद्यावली' में भी उद्धृत है।
(२) राधायामनुवद्धनर्मनिभृताकारं यशोदा भया-
दभ्यर्णेऽवतिनिर्जनेषु यमुनारोधोलतावेश्मसु। इत्यादि।
कृष्णयौवनम्, २
(३) श्रीमल्लक्ष्मणसेनदत्तस्य।
(४) वेणुनादः, २; यह पद पद्यावली में भी उद्धृत है।
(५) यह पद पद्यावली में भी उद्धृत है।

'आज रात को इसको उत्सव में बुला लाई हूँ। यह घर सूना रख कर चला आया है, नौकर भी मतवाले हैं; अब यह अकेली कुलवधू कैसे जायगी ? बेटा, तो तुम्हीं इसको इसके घर ले जाओ। यशोदा की यह बातें सुन कर राधा-माधव का जो मधुरस्मेरालस दृष्टि-समूह है—उनकी जय हो।" इस प्रसंग में 'कवीन्द्रवचनसम्मुच्चय' में उधृत पूर्व-लिखित ४१ संख्यक पद की भी तुलना की जा सकती है। रूपदेव के एक पद में हम देखते हैं, 'वृन्दा सखी दूसरी गोप रमणियों से कह रही हैं—यहाँ इस निचुल-निकुंज के बिलकुल अन्दर मुलायम घास की यह विजन शैया किस रमण की है ? इस बात को सुन कर राधा-माधव की जो विचित्र मृदुहास्ययुक्त चितवन हैं वे तुम लोगों की रक्षा करें।"[१] आचार्य गोपक के एक पद में कृष्ण के अभिसार का एक चातुर्यपूर्ण वर्णन मिलता है। गहरी रात को कृष्ण राधा के घर के पास आकर कोयल वगैरह की बोली बोल कर राधा को इशारा कर रहे हैं। इधर इशारा सुनकर राधा भी दरवाजा खोल कर बाहर आ रही हैं। राधा के चंचल शंख वलय और मेखला ध्वनि को सुन कर ही कृष्ण राधा के बाहर आने की बात समझ गये। इधर आहट पाकर वृद्धा (जटिला, कुटिला) कौन है, कौन है, कह कर बार-बार चिल्ला रहे हैं और इससे भी कृष्ण का हृदय व्यथित हो रहा है। ऐसी हालत में ही कृष्ण की वह रात राधा के घर के प्रांगण के कोने में जो केलिविटप है, उसी की गोद में बीती।

> **संकेतीकृतकोकिलादिनिनदं कंसद्विषः कुर्वतो**
> **द्वारोन्मोचनलोलशंखवलयश्रेणिस्वनं शृण्वतः।**
> **केयं केयमिति प्रगल्भजरतीनादेन दुनात्मनो**
> **राधाप्रांगणकोणकेलिविटपिक्रोड़े गता शर्वरी॥**[२]

प्रश्नोत्तर के बहाने राधा-कृष्ण के श्लेषपूर्ण रसालाप और मज़ाक का नमूना 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' की एक कविता में मिलता है। 'सदुक्ति-कर्णामृत' में कई और नमूने मिलते हैं।[३] [एक पद में राधा-कृष्ण से पूछती है, "इस रात को तुम कौन हो ?" कृष्ण ने उत्तर दिया, 'मैं केशव हूँ' (श्लेषार्थ केश है जिसके); "सिर के केशों से क्या गर्व कर

---

(२) हरिक्रीड़ा, १; यह पद पद्यावली में उद्धृत है।

(३) यह पद भी पद्यावली में उद्धृत है।

(१) यह पद 'सदुक्तिकर्णामृत' में भी उद्धृत है।

रहे हो ?" "भद्रे, मैं शौरि हूँ" (श्लेषार्थ—शूर का पुत्र); "यहाँ पिता के गुणों से पुत्र का क्या होगा ?" "हे चन्द्रमुखी, मैं चक्री हूँ"; (श्लेषार्थ कुम्हार); "अच्छी बात है, तो मुझे गागर, हाड़ी, दूध दुहने का मटकी कुछ भी क्यों नहीं दे रहे हो ?" गोप-वधुओं के लज्जाजनक उत्तर से इस प्रकार दुःख पाये हुए हरि तुम्हारी रक्षा करें।[1] इस प्रकार के श्लेषात्मक प्रश्नोत्तर और भी हैं।[2]

शतानन्द कवि के एक पद में देखते हैं कि गोवर्धन को धारण करने में कृष्ण को कष्ट हो रहा है, यह समझ कर राधिका व्यथित होती हैं और उनकी सहायता करने के आग्रह के आतिशय्य में वह शून्य गगन में ही गोवर्धन-धारण करने की नकल करके वृथा ही हाथ हिला रही हैं।[3] अज्ञात नामा एक और कवि के पद में है—कृष्ण गोवर्धन धारण किए हुए हैं, सभी गोपियों के साथ राधा भी उनकी ताक ओर रही है। दूसरी गोपियों ने राधा से कहा, तुम कृष्ण के दृष्टिपथ से बहुत दूर हट जाओ; तुम्हारे प्रति आसक्त-दृष्टि होकर कृष्ण के हाथ कहीं शिथिल न हो जाएँ।' लेंकिन गोपियों के मुँह से राधा को नजरों से दूर हटा देने की बात सोच-कर गिरि धारण के श्रम से कृष्ण मानों जोरों से साँस लेने लगे थे।—

> दूरं दृष्टिपथात्तिरोभव हरेर्गोवर्धनं बिभ्रत-
> स्त्वय्यासक्तदृशः कृशोदरि करः स्रस्तोऽस्य मा भूदिति।
> गोपीनामितिजल्पितं कलयतो राधा-निरोधाश्रयं
> श्वासाः शैलभरश्रमभ्रमकराः कृष्णस्य पुष्णन्तु वः ॥[4]

(१) कस्त्वं भो निशि केशवः शिरसिजैः किं नाम गर्वायसे
भद्रे शौरिरहं गुणैः पितृगतैः पुत्रस्य किं स्यादिह।
चक्री चन्द्रमुखी प्रयच्छसि न मे कुराडीं घटीं दोहिनी-
मित्थं गोपवधूह्रितोत्तरतया दुस्थोः हरिः पातु वः ॥
प्रश्नोत्तरम्, ३; पद 'पद्यावली' में भी उद्धृत है।

(२) एक पद है:—
वासः सम्प्रति केशव क्व भवतो मुग्धेक्षणे नन्विदं
वासं ब्रूहि शठ प्रकामसुभगे त्वद्गात्रसंश्लेषतः।
यामिन्यामुषितः क्व धूर्त वितनुर्मुष्णाति किं यामिनी
शौरिर्गोपवधूं छलैः परिहसन्नेवंविधैः पातु वः ॥

(३) शैलोद्धारसहायतां जिगमिषोरप्राप्तगोवर्धना।
राधायाः सुचिरं जयन्ति गगने वन्ध्याः करभ्रान्तयः ॥
गोवर्द्धनोद्धारः, ३

(४) 'पद्यावली' में यह पद शुभाङ्ग के नाम से उद्धृत है।

'गोपी-सन्देश" के नाम से 'सदुक्तिकर्णामृत' में जो पद उद्धृत हैं वे चमत्कारिता के लिए जिस प्रकार लक्षणीय हैं, उसी प्रकार परवर्ती काल की 'विरह' पदावली से अपने गहरे सम्बन्ध के लिए भी लक्षणीय हैं। कृष्ण वृन्दावन छोड़कर द्वारका चले गये हैं, राधा तथा दूसरी गोपियों ने इनके द्वारा वहाँ नाना प्रकार से विरह-वेदना का निवेदन किया है। एक पद में कहा गया है—"गोवर्धनगिरि की वे कन्दराएँ, जमुना का वह किनारा, वह चेष्टारस, वह भाण्डीर वनस्पति, वे तुम्हारे सहचरगण—तुम्हारे गोष्ठ का वह आँगन—हे द्वारावतीभुजंग (सर्प की भाँति क्रूर), वे क्या कभी भूलकर भी याद नहीं आते? हरि के हृदय में व्रजवधूसंदेशरूपी यह दुःसह शल्य तुम लोगों की रक्षा करें।"[1] एक दूसरे पद में गोपियाँ द्वारका जाने वाले एक राही को बुलाकर कह रही हैं—"हे पथिक, तुम अगर द्वारका जाना तो देवकीनन्दन कृष्ण से नीचे लिखी बात कहना—स्मरमोहमंत्रविवशा गोपियों को तो तुमने त्याग ही दिया है; लेकिन ये जो शून्य दिशाएँ केतकगर्भधूलि समूह के द्वारा मर गयी हैं, इनकी ओर देखकर भी क्या उस कालिन्दी तट भूमि और वहाँ के वृक्षों की बात तुम्हारे मन में नहीं आती है?"—

पान्थ द्वारवतीं प्रयासि यदि हे तद्देवकीनन्दनो
वक्तव्यः स्मरमोहमंत्रविवशा गोप्योऽपि नामोज्झिताः ।।
एताः केतकगर्भधूलिपटलैरालोक्य शून्या दिशः
कालिन्दीतटभूमयोऽपि तरवो नायान्ति चिन्तास्पदम् ।।६२।२[2]

वीरसरस्वती की लिखी अपूर्व विरह की एक कविता है। यहाँ भी गोपियाँ कह रही हैं—"हे मथुरापथिक, मुरारी के द्वार पर तुम गोपी की इस बात को गाकर जरूर सुनाना—फिर उस यमुना के जल में कालिय-गरलानल (कालियगरल की भाँति विरहानल) जल रहा है।"

मथुरापथिक मुरारेरुद्गेयं द्वारि वल्लवीवचनम्।
पुनरपि यमुनासलिले कालियगरलानलो ज्वलति ।।६२।५

---

(१) **ते गोवर्धनकन्दराः स यमुनाकच्छः स चेष्टारसो**
भाण्डीरः स वनस्पतिः सहचरास्ते तच्च गोष्ठांगनम् ।
किं ते द्वारवतीभुजंग हृदयं नायान्ति दोषैरपी-
त्यव्याद्वो हृदि दुःसहं व्रजवधूसन्देशशल्यं हरेः ।।
'पद्यावली' में यह पद नील के नाम से उद्धृत है।

(२) **'पद्यावली' में यह पद गोवर्धनाचार्य के नाम से उद्धृत है।**

आचार्य गोपीक के एक दिवसाभिसार के पद में है—

मध्याह्नद्विगुणार्कदीधितिदलत्संभोगवीथीपथ–
प्रस्थानव्यथितारुणाङ्गुलिदलं राधापदं माधवः ।
मौलौ स्रक्शबले मुहुः समुदितस्वेदे मुहुर्वक्षसि
न्यस्य प्राणयति प्रकम्पविधुरैः श्वासोर्मिवातैर्मुहुः ।।

(सदुक्तिकर्णामृत, ३।६३।४)

पुष्पदलों की भाँति अरुणाङ्गुलि दलों से शोभित जो राधा के कमनीय चरण हैं, वे आज संभोग-वीथी-पथ पर प्रस्थान से व्यथित हैं, क्योंकि वह पथ मध्याह्न के दूने सूर्य-ताप से तप्त है, इसलिए कृष्ण राधाके पगों के ताप को दूर करने के निमित्त बारबार उसे माल्ययुक्त मस्तक पर रख रहे हैं, पसीने से शीतल वक्ष पर रख रहे हैं, प्रकम्पविधुर श्वासोर्मिवात से बारबार उपशमित कर रहे हैं।[1]

हमने 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' से राधा-कृष्ण-प्रेम-लीला सम्बन्धी कुछ कविताएँ पहले उद्धृत की हैं। 'सदुक्तिकर्णामृत' से भी इस तरह की कुछ कविताएँ उद्धृत करके उनका विवेचन किया। इस तरह की कविताओं के बारे में कुछ विशद विवेचन का तात्पर्य यह है कि इसके अन्दर से जयदेव कवि का युग और उनके दो-तीन शताब्दियों के पूर्व के युग की राधा-कृष्ण-लीला सम्बन्धी साहित्य की धारा का पता और परिचय मिलेगा। साधारणतः कवि जयदेव के बारे में हमारे मन में एक विस्मय वर्तमान है कि किस प्रकार उन्होंने उस युग में गीतगोविन्द जैसे राधाकृष्ण लीला से समृद्ध और निपुण काव्य-कलामंडित काव्य रचा था? हमें आशा है कि जयदेव के समसामयिक और पहले के जिन कवियों की कविता के बारे में अब तक विवेचन किया, उसे अच्छी तरह से देखने पर पता चलेगा कि बारहवीं सदी में जयदेव कवि का 'गीतगोविन्द' काव्य क्या लीला रस की दृष्टि से, क्या काव्य की दृष्टि से—किसी भी दृष्टि से आकस्मिक नहीं, बल्कि बिलकुल स्वाभाविक है। जयदेव के युग में और उसके दो-एक शताब्दियों पहले ही राधाकृष्ण प्रेमयुक्त वैष्णव-कविता का कितना प्रसार हुआ था, उसका और अधिक परिचय मिलता है रूपगोस्वामी द्वारा संगृहीत 'पद्यावली' नामक संकलन-ग्रंथ में। इस ग्रंथ में राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में रूप-

---

(१) **माथहिँ तपन तपत पथ बालुक**
आतप दहन विथार ।
नोनिक पुतुलि तनु चरण कमल जनु
दिनहिँ कयल अभिसार ।। इत्यादि, गोविन्ददास ।

गोस्वामी के समसामयिक कवियों, उनके कुछ ही पहले के कवियों, जयदेव के सम सामयिक कवियों और बहुतेरे प्राचीनतर कवियों की कविताएँ संगृहीत की गई हैं। बंगाल में महाप्रभु श्री चैतन्य के आविर्भाव के पहले जयदेव, चण्डीदास ने ही वैष्णव कविता नहीं लिखी थी, और भी कितने ख्यात-अख्यात कवियों ने वैष्णव-कविता लिखी थी, इसके प्रमाण मिलते हैं। 'पद्यावली' के संकलन के अन्दर हम यह भी देख सकते हैं कि केवल बंगाल में लिखी कविताओं का ही संकलन रूपगोस्वामी ने नहीं किया था, दाक्षिणात्य, उत्कल, तिरभुक्ति (तिरहुत) आदि दूसरे इलाकों से भी कविताएँ संग्रहीत हुई हैं। अतएव देखा जाता है कि, तेरहवीं, चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में बंगाल, बिहार, उड़ीसा के एक व्यापक भूभाग में राधा-कृष्ण के प्रेम की कविताएँ रची गई हैं। हम देखते हैं कि जयदेवह के बाद चण्डीदास-विद्यापति का नाम गिनाकर वैष्णव कविता के लिए में सीधे सोलहवीं शताब्दी में आ पहुँचना पड़ता है हमारे अन्दर प्रचलित यह विश्वास बहुत कुछ भ्रान्त है।

इस प्रसंग में और भी कितनी ही बातें ध्यान देने योग्य हैं। आठवीं से बारहवीं शताब्दी के अन्दर देवताओं के विषय में जितनी शृंगाररसात्मक कविताएँ लिखी गई हैं, वे सब राधाकृष्ण को लेकर लिखी गई हैं, ऐसा समझना ठीक नहीं होगा। हमने पहले ही उल्लेख किया कि, लक्ष्मी-नारायण को लेकर भी इस युग में इस प्रकार की शृंगाररसात्मक कविताएँ लिखी गई हैं। हर-गौरी के सम्बन्ध की शृगार रसात्मक कविताएँ राधा कृष्ण सम्बन्धी शृंगाररसात्मक कविताओं से कुछ कम नहीं होतीं। कालिदास से लेकर मैथिल कवि विद्यापति तक हर-गौरी की शृंगार लीला ने भारतीय साहित्य की रससम्पदा में कुछ कम सामग्री नहीं दी है। जयदेव के समकाल में भी हर-गौरी को लेकर बहुतेरी शृंगार-रसात्मक कविताएँ लिखी गयीं हैं। लेकिन लगता है कि शृंगार-रसात्मक कविता में राधा कृष्ण की प्रेमलीला के उपाख्यान की ही धीरे-धीरे प्रधानता होती गई। बारहवीं शताब्दी में मधुर-रसात्मक कविता में राधाकृष्ण की ही प्रधानता प्रतिष्ठित हुई। बारहवीं शताब्दी से प्रेम की कविता के क्षेत्र में राधाकृष्ण की प्रतिष्ठा भी शायद दो कारणों से हुई थी। पहली बात यह है कि सेन राजाओं का पारिवारिक धर्म वैष्णव धर्म था; और बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी के बंगाल तथा बृहत्तर बंगाल की कवि-गोष्ठी में सेन राजाओं का प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता। दूसरी बात है राधाकृष्ण का चरवाही का जीवन प्रेम की कविता के लिए अधिकतर उपयोगी था, साथ ही

लीला की विचित्रता में भी सबसे अधिक समृद्ध था। इस लीला का अवलम्बन करके रची गई कविताओं के माध्यम से कवि गण एक ओर देव-लीला के वर्णन की शान्ति पाते थे और साथ ही उसके माध्यम से मानवीय प्रेम की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रसविचित्र लीला को रूपायित करने का उन्हें पूरा मौका भी मिलता है। इसी प्रकार राधाकृष्ण सम्बन्धी प्रेम कविताओं का क्रम-प्राधान्य प्रतिष्ठित होने लगा। प्रेम की कविताओं में इस प्रकार जब एक बार राधाकृष्ण का प्राधान्य स्थापित हो गया तो फिर प्रेम की कविता लिखने बैठने पर "कानू छाड़ा गीत नाई"। इसीलिए बंगाल में प्राचीन युग से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक गीति-कविता के क्षेत्र में इसी राधा-कृष्ण-कविता का निरन्तर आधिपत्य दिखाई पड़ता है।

(घ) संस्कृत में राधा-प्रेम-गीतिका और पार्थिव प्रेमगीतिका का सम्मिश्रण

छठीं से बारहवीं शताब्दी तक भारतीय साहित्य में[१] राधा ने किस प्रकार आत्मप्रकाश किया है और किस तरह इस साहित्य के भीतर उसका क्रमविकास हुआ है, इस विषय पर विवेचन करने के लिए एक मौलिक विषय पर विचार करना जरूरी है। वैष्णव-कविता के बारे में साधारण तौर से यह समझा जाता है कि वैष्णव-कविता की मूल प्रेरणा धर्म से आती है, धर्म की प्रेरणा ने ही साहित्य-सृजन के अन्दर से रस-विचित्रता और रस-समृद्धि प्राप्त की है। चैतन्ययुग के वैष्णव साहित्य का अवलम्बन करके ही इस तरह की बात हमारे मन में समा गई है। लेकिन यदि हम राधाकृष्ण सम्बन्धी प्राचीन कविताओं और समसामयिक भारत के कवियों द्वारा रचित साधारण पार्थिव प्रेम-कविताओं पर विचार करें तो देखेंगे कि प्राचीन वैष्णव-प्रेम-कविता में धर्म की प्रेरणा बिलकुल ही गौण थी, काव्य-प्रेरणा ही वहाँ मुख्य थी। राधाकृष्ण सम्बन्धी कविताओं में हमें जितने प्राचीन कवियों का उल्लेख मिलता है वे वैष्णव थे, इसलिए राधा-कृष्ण के बारे में वैष्णव कविता लिखी गई थी, इस तरह के निष्कर्ष पर पहुँचन के लिए हमें कोई भी तथ्य नहीं मिलता है, बल्कि हम देखते

---

(१) हम इस काल का उल्लेख किसी प्रामाणिक ऐतिहासिक आधार पर आश्रित होकर नहीं कर रहे हैं। साधारणरूप से एक सम्भाव्य काल के रूप में ही ले रहे हैं। राधा-कृष्ण-प्रेम सम्बन्धी कविताएँ छठीं शताब्दी से शुरू हुई हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता, छठीं शताब्दी के पहले भी इस प्रकार की प्रेम-कविताओं का उल्लेख हमें मिल सकता है।

हैं कि वे कवि थे, नर-नारी प्रेम के सम्बन्ध में उन्होंने विविध कविताओं की रचना की थी। उसी एक ही दृष्टि एक ही प्रेरणा का अवलम्बन करके उन्होंने राधा-कृष्ण को लेकर कविताएँ लिखी थीं। राधाकृष्ण उनके लिए प्रेम-कविता के आलम्बन-विभाव मात्र थे, इससे अधिक कुछ कुछ भी नहीं। लगता है कि छठीं शताब्दी के अन्दर ही राधाकृष्ण का उपाख्यान प्रेमगीत और तुकबन्दियों के रूप में आभीर-जाति की छोटी परिधि का अतिक्रमण करके विशाल भारत के भिन्न-भिन्न अंचलों में फैल गया था।

रसज्ञ कवियों ने उस नवलब्ध विषय-वस्तु को ही अपने काव्य-सृजन के अंदर थोड़ा-बहुत स्थान दिया है। लेकिन देवता सम्बन्धी होने से सहज संस्कार के कारण राधाकृष्ण के प्रति कहीं-कहीं पर (वह भी सर्वत्र नहीं) उनके अन्दर सम्भ्रम दिखाई पड़ता है। प्राचीनतर कवियों की बात छोड़ ही देता हूँ। वैष्णव-कविता के समृद्ध युग-बारहवीं शताब्दी के काव्य-कविता पर विचार करने से दिखाई पड़ेगा कि इस प्रेम के किसी भी कवि ने केवल वैष्णव-कविता की ही रचना नहीं की है। गीत गोविन्द के प्रसिद्ध कवि जयदेव ने केवल राधाकृष्ण सम्बन्धी कविताएँ ही नहीं लिखी थीं, उन्होंने अन्यान्य विविध विषयों की, पार्थिव प्रेम की कविताएँ भी लिखी थीं। उनकी ये रचनाएँ 'सदुक्तिकर्णामृत' में उद्धृत हैं।[1] उमापति धर, गोवर्धनाचार्य, शरण, धोयी—यहाँ तक कि लक्ष्मण सेन की लिखी राधा-कृष्ण-प्रेम सम्बन्धी वैष्णव-कवितायें भी भिन्न-भिन्न संग्रह ग्रंथों में मिलती हैं और मानवीय बहु प्रकीर्ण प्रेम कवितायें भी नाना ग्रंथों में मिलती हैं। अतएव हम देखते हैं कि ये उस समय प्रसिद्ध कवि थे, काव्य के विषयवस्तु के रूप में राधाकृष्ण को इन्होंने स्वीकार किया था। इस समय के कवियों में केवल लीला-शुक विल्वमंगल ठाकुर रचित 'कृष्ण-कर्णामृत' को पढ़ने से लगता है कि, यहाँ एक प्रबल धर्मानुराग स्पष्ट है। इस ग्रंथ के रचयिता कोई भी क्यों न हों, इसके बारे में यही लगता है कि वह तन मन से वैष्णव थे। अपनी वैष्णव दृष्टि से लीला-प्रसार और लीला-आस्वादन के लिए ही उन्होंने इस काव्य की रचना की थी। लेकिन गौड़ीय वैष्णवों के परमश्रद्धास्पद श्री जयदेव कवि के सम्बन्ध में इस विषय में हमारा विश्वास निश्चित नहीं है। 'कृष्ण-कर्णामृत' ग्रंथ में शुरू से आखिर तक एक अध्यात्म आकांक्षा जिस तरह प्रबल रूप में देखी जाती है, जयदेव के गीतगोविन्द

---

(१) यह तभी लागू होती है जब एकाधिक जयदेव के होने का तर्क पेश नहीं किया जाता।

काव्य में सभी जगह इस अध्यात्मका स्वर ऊँचाई पर पहुँचा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। काव्य के आरम्भ में उनके काव्य की फलश्रुति क्या है इस विषय में एक श्लोक जयदेव ने दिया है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥ १।३

"यदि हरि का स्मरण करके मन को सरस रखना चाहते हो और यदि विलास-कलाओं के प्रति कुतूहल हो, तो इस जयदेव-भारती की मधुर कोमल कान्त पदावली सुनो।" गीत-गोविन्द काव्य के अन्दर 'हरिस्मरणे सरसं मन:' की अपेक्षा 'विलास-कलासु कुतूहलम्' का पक्ष ही स्थान-स्थान पर बड़ा हो गया है। इस युग के और इसके बाद वाले युग के रसविदग्ध कवियों ने नरनारी की विलास-कलाओं के वर्णन में जो कुतूहल और निपुणता दिखाई है, जयदेव के काव्य में भी राधा-कृष्ण का अवलम्बन करके उसी विलास-कला का कुतूहल और निपुणता उसके वर्णन में हम पाते हैं। धर्म के स्वर को लेकर जहाँ जयदेव ने लिखा है वहाँ भी उनके जाने या अनजाने ही युवती केलिविलास की बात आ पड़ी है। जैसे—

हरिचरणशरणजयदेवकविभारती।
वसतु हृदि युवतिरिव कोमलकलावती॥ ७।१०

"हरि का चरण ही जिसका शरण है ऐसे जयदेव कवि की इस भारती (कविता), कोमल कलावती युवती की भाँति सबके हृदय में निवास करे।" ('कोमल कलावती' विशेषण, युवती और भारती दोनों के लिए एक तरह से प्रयुक्त हो सकता है।) पहले ही लिखा है कि जयदेव की लिखी ऐसी कविताएँ भी मिलती हैं जिनमें नर-नारी के विलास-कला-वर्णन की निपुणता प्रकट होती है।

हमारा वक्तव्य यह है कि भारतीय साहित्य के अन्तर्गत राधा-प्रेम का जो प्रथम प्रकाश है, वह रस-विदग्ध कवियों की प्रेम-कविताओं में ही है। उस प्रेम-कविता के अन्तर्गत प्राकृत प्रेम और अप्राकृत प्रेम में लोहे और सोने का-सा स्वरूप-भेद नहीं था। यह स्वरूप-भेद तो आया है बहुत बाद में चलकर, विशेषत: चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव के समय या उससे कुछ और पहले। साहित्यिक दृष्टि से विचार करके हम कहेंगे कि

राधा-कृष्ण विषयक प्रेम-कविता ने भाव, रस एवं प्रकाश-भङ्गी सभी दृष्टियों से भारतीय साधारण प्रेम-कविता की धारा एवं पद्धति का अनुसरण किया है। हम कुछ आगे चलकर आलोचना करके दिखावेंगे कि चैतन्य महाप्रभु के परवर्ती काल में जो सब वैष्णव कविताएँ रची गईं, उन्होंने भी काव्य-रस और प्रकाशन-शैली की दृष्टि से मूलतः भारतीय प्रेम-कविताओं की चिरकाल से चली आती हुई धारा का ही अनुसरण किया है। अतएव इस साहित्यिक दृष्टि से हम राधा-कृष्ण की प्रेम-कविता को भारतीय साधारण प्रेम-कविता की धारा की ही एक विशेष रस-समृद्ध परिणति के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। ऐसा भी देखने में आता है कि परवर्ती काल में जब 'कान्ह विना गीत नहीं' अर्थात् राधा-कृष्ण का अवलम्बन लिये बिना प्रेम-कविता हो ही नहीं सकती, यह विश्वास जब दृढ़रूप से बद्धमूल हो गया तब पूर्ववर्ती काल में रचित पूर्णतया मानवीय प्रेम की कविताएँ भी राधा-कृष्ण के नाम पर ही चल निकलीं। एक प्रसिद्ध दृष्टान्त दे रहा हूँ। रूपगोस्वामी की 'पद्यावली' में निम्नांकित श्लोक का निर्जन में सखी के प्रति राधा की उक्ति के रूप में उल्लेख हुआ है।

यः कौमारहर स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ।।३८६

कविता का सरलार्थ यह हुआ, "जो मेरा कौमारहर है (अर्थात् जिसने मेरा कुमारीत्व हरण किया था) वही (आज) मेरा वर है; (आज भी) वही चैत की रात है, वही विकसित मालती की सुगन्ध है, कदम्ब-वन का वही परिणत पवन है और मैं भी वही हूँ, तो भी उस रेवा नदी के तट पर शोभित कदम्ब-तरु के नीचे जो सब सुरत-व्यापार की लीलाएँ हुआ करती थीं, उन्हीं में मेरा चित्त उत्कण्ठित हो रहा है।" रूप गोस्वामी ने राधा की उक्ति के रूप में इस श्लोक का जो अर्थ ग्रहण किया है, 'पद्यावली' में इस श्लोक के बाद ही उद्धृत रूप गोस्वामी के स्व-रचित एक श्लोक में ठीक वही भाव मिलेगा—

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथाऽहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम् ।
तथाप्यन्तःखेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति ।।३८७।।

"हे सखी, वही प्रिय कृष्ण कुरुक्षेत्र में मिले थे; मैं भी वही राधा हूँ; हम दोनों का सङ्गम-सुख भी वही रहा, किन्तु तो भी जिस वन में मधुर मुरली के पञ्चम स्वर का खेल हुआ करता था, उसी कालिन्दी-तटवर्ती वन के लिए मेरा मन ललच रहा है।"

कृष्णदास कविराज के 'चैतन्य-चरितामृत' के दो स्थानों[1] पर हम देखते हैं कि श्री चैतन्यदेव ने भी इस 'यः कौमाराहरः' आदि श्लोक को अत्यन्त गूढ़ीय व्यंजक माना है। जगन्नाथक्षेत्र के ऐश्वर्य और कोलाहल से अतृप्त होकर जब वे मन ही मन वृन्दावन की कामना कर रहे थे, उसी समय इस श्लोक को भावावेश में दुहराया था[2]। श्री जीवगोस्वामी के 'गोपालचम्पू'

(१) मध्य, प्रथम परिच्छेद; मध्य, त्रयोदश परिच्छेद।

(२) नाचिते नाचिते प्रभुर हइल भावान्तर।
हस्त तुलि श्लोक पड़े करि उच्च स्वर॥
॥श्लोक॥
एइ श्लोक महाप्रभु पड़े बार बार।
स्वरूप विना केह अर्थ ना बूझे इहार॥
एइ श्लोकेर अर्थ पूर्वे करियाछि व्याख्यान।
श्लोकेर भावार्थ करि संक्षेपे व्याख्यान॥
पूर्व्वे येन कुरुक्षेत्रे सब गोपिगण।
कृष्णेर दर्शन पाया अनन्दित मन॥
जगन्नाथ देखि प्रभुर से भाव उठिल।
सेइ भावाष्टि हइया धुया गायोआइल॥
अवशेषे राधाकृष्णे कैला निवेदन।
सेइ तुमि सेइ आमि सेइ नव सङ्गम॥
तथापि आमार मन हरे वृन्दावन।
वृन्दावने उदय कराह आपन चरण॥
इहाँ लोकारण्य हाति-घोडा-रथध्वनि।
ताँहा पुष्पवन भृङ्ग-पिक-नाद शुनि॥
इहाँ राजवेश सङ्गे सव क्षत्रियगण।
ताँहा गोपगण सङ्गे मुरलीवदन॥
व्रजे तोमार सङ्गे सेइ सुख-आस्वादन।
से-सुख समुद्रेर इहाँ नाहि एककण।
आमा लइया पुनः लीला कर वृन्दावने।
तबे आमार मनोवाच्छा हयत पूरणे॥ वही।

नामक चम्पू काव्य के उत्तर भाग में हम देखते हैं कि कृष्ण से राधा के व्याह के बाद विशाखा सखी ने राधा के चित्त का उद्घाटन करने के लिए बहुत ही चेष्टाएँ करके राधा के ही मुख से 'यः कौमारहरः' आदि श्लोक उच्चारण करवाया था और कृष्ण ने भी राधा के मुख से श्लोक को सुनकर उसके चतुर्थ चरण का पाठ शुद्धकरते हुए कहा था—'कृष्ण-रोधसि तत्र कुञ्जसदने' यह पाठ ही अब संगत है। वास्तव में इस श्लोक से राधा-कृष्ण का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। थोड़े-बहुत पाठान्तर के साथ किसी किसी संस्कृत-संग्रह ग्रंथ में यह महिला कवि शीला भट्टारिका के नाम से मिलता है। 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' और 'सदुक्तिकर्णामृत' में यह अज्ञात कवि की रचना के रूप में 'असतीव्रज्या' के अन्दर असती-प्रेम की दूसरी कविताओं में भी मिल रही है[1]।

एक ओर हम जिस प्रकार असतीव्रज्या की कविता को वैष्णव कवियों द्वारा राधा की उक्ति के रूप में गृहीत होते देखते हैं, उसी तरह दूसरी ओर कालिन्दीतटवर्ती लतागृह में कृष्ण के साथ राधा के गुप्त प्रेम को लेकर रची कविता को प्राचीन काव्य-संकलयितृयों ने असतीव्रज्या में ही रखा है,[2] राधा को वहाँ दूसरी मानवीय असतियों के साथ ही साहित्य में एक पंक्ति में स्थान मिला है। 'यः कौमारहरः' श्लोक के ठीक पहले ही पद्यावली में 'कस्यचित्' कहकर एक और पद उद्धृत किया गया है—

> किं पादान्ते लुठसि विमनाः स्वामिनो हि स्वतन्त्राः
> कंचित् कालं क्वचिदभिरतस्तत्र कस्तेऽपराधः।
> आगस्कारिण्यहमिह मया जीवितं त्वद्वियोगे
> भर्तृप्राणाः स्त्रिय इति ननु त्वं मनैवानुमेयः ॥३८५॥

---

(१) वहतेरे जगहो में इस कविता के बहुत से पाठान्तर मिलते हैं (देखिए टमास् कृत टीका)। कवीन्द्रवचनसमुच्चय में उद्धृत नीचे का पाठ मिलता है ॥

> यः कौमारहरः स एव हि वरस्ताश्चन्द्रगर्भा निशाः
> प्रोन्मीलन्नवमाधवीसुरभयस्ते ते च विन्ध्यानिलाः।
> सा चैवास्मि तथापि चौर्यसुरतव्यापारलीलाभृतां
> किं मे रोधसि वेतसीवनभुवां चेतः समुत्कन्ठते ॥

(२) ध्वन्यालोक में घृत और बाद में 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' (५०१) में उद्धृत।

'विमना होकर क्यों मेरे पैरों पर गिर रही हो ? पति स्वतन्त्र है, कुछ काल तक वे अन्यत्र भी अभिरत रह सकते हैं—इसमें तुम्हारा अपराध क्या है ? यहाँ मैं ही अपराधिनी हूँ, क्योंकि तुम्हारे वियोग में मैं जीवित हूँ; स्त्रियाँ पतिप्राणा होती हैं अतएव तुम ही मेरे अनुनेय हो ।"

इस पद को भी रूपगोस्वामी ने 'अथ रहस्यनुनयन्तं कृष्णं प्रति राधा-वाक्यं' कहकर ग्रहण किया है[१] । किन्तु यह श्लोक 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' में वाक्कुट-कवि के नाम से 'मानिनी-व्रज्या' में और 'सदुक्तिकर्णामृत' में भावदेवी द्वारा रचित कहकर 'नायके मानिनीवचनम्' के रूप में मिल रहा है । 'पद्यावली' में कुरुक्षेत्र में राधा का कृष्ण से मिलन होने पर राधा-चेष्टित (अथ कुरुक्षेत्रे श्रीवृन्दावनाधीश्वरचेष्टितं) कहकर शुभ्र कवि का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया गया है—

> आनन्दोद्गतवाष्पपूरपिहितं चक्षुः क्षमं नेक्षितुं
> बाहू सीदत एव कम्पविधुरौ शक्तौ न कंठग्रहे ।
> वाणी संभ्रमगद्गदाक्षरपदा संक्षोभलोलं मनः
> सत्यं वल्लभसंगमोऽपि सुचिराज्जातो वियोगायते ।।३८४।।

'आनन्दोद्गत वाष्प से आँखें ढक जाने के कारण कुछ भी नहीं दिखाई पड़ रहा है । कम्पविधुर विकल दोनों बाहें कंठ को पकड़ने में सक्षम नहीं हो रही हैं, वाणी संभ्रम हेतु गद्गदाक्षरपदा, संक्षोभहेतु मन चंचल है, सचमुच ही बहुत दिनों के बाद मिला वल्लभ-संगम भी वियोग की भाँति हुआ ।'

इस पद के अनुरूप यह पद हम गोविन्ददास के 'नवोढ़रसोद्गार' के एक पद में पाते हैं—

---

(१) परवर्ती काल के टीकाकार वीरचन्द्र गोस्वामी ने अपनी 'रसिक-रङ्गदा' टीका में इस श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है,—चिरवियोगानन्तरं साक्षाद्भूते ऽपि प्रेयसि सङ्गमाय संतृष्णामपि चिरव्रजत्यागात् स्वाभाविकवाम्योदयेन मानिनीं तां विलक्ष्य तत्प्रेमवश्यो रसिक शेखरः स्वस्य तदधीनतां प्रकाशयितुं पादग्रहणादिकं चकार, ततः श्रीराधा साक्षेपं यदाह तद्वर्णयति अथेति ।

दरशने लोर नयनयुग झाँप ।
करइते कोर दुहुँ भुज काँप ।।
दूर कर ए सखि सो परसंग ।
नामहि याक अवश करुँ अंग ।।
चेतन ना रह चुम्बन बेरि ।
को जाने कैछे रभस-रस-केलि ।।(इत्यादि)।।

यह पद हमें 'सदुक्तिकर्णामृत' में साधारण नवोढ़ा नायिका के देह-मन के अवस्थान्तर के दृष्टान्त के रूप में मिलता है। 'पद्यावली' में रुद्र के नाम से राधा-विरह का 'अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु" आदि जो पद (३६८) उद्धृत है वही पद 'सदुक्तिकर्णामृत' में कुछ पाठान्तर के साथ साधारण नायिका की 'विरहिणी-चेष्टा' के रूप में उद्धृत है। 'पद्यावली' में भवभूति के 'मालती-माधव' और 'उत्तररामचरित' नाटक की विरह की कविता को 'राधा-विलाप' में ही स्थान मिला है। 'अमरुशतक' के अमरु एक प्राचीन कवि थे। 'ध्वन्यालोक' के आनन्दवर्धन ने अमरु की प्रेम-कविता की प्रशंसा की है। अतएव प्रेम-कवि के रूप में अमरु की ख्याति नवीं शताब्दी के पूर्व ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इस 'अमरुशतक' से विरह-मान की कविताएँ पद्यावली में उद्धृत की गई हैं। अमरु से उद्धृत इन कविताओं को देखने से पता चल जाता है कि प्रेम की तीव्रता और सूक्ष्म-सौकुमार्य की अभिव्यक्ति में इस प्रकार की प्रेम-कविताएँ ही परवर्ती काल की राधा-प्रेम-कविता का केवल प्राग्रूप नहीं हैं, बल्कि अनेक स्थलों में आदर्शरूप हैं। अमरु की एक कविता को इस प्रकार की 'क्षुभितराधिकोक्ति' कहा गया है—

निश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं रात्रिंदिवं रुद्यते ।
अंगं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः
सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिता ।।२३८।।

'निश्वास मेरे वदन का दहन कर रहे हैं; हृदय आमूल उन्मथित हो रहा है; नींद नहीं आ रही है, प्रियमुख नहीं दिखाई पड़ रहा है, रातदिन केवल रो रही हूँ। मेरी देह सूख रही है, पादपतित प्रिय की भी उपेक्षा कर दी है। सखियों ने न जाने मुझमें कौन-सा गुण देखकर दयित के प्रति ऐसा मान कराया था!" अमरु की एक और कविता राधा के रूप में गृहीत हुई है।

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्त्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
गन्तुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता ।
गन्तव्ये सति जीवित-प्रियसुहृत्सार्थः कथं त्यज्यते ।।३१८।।

"वलय प्रस्थान कर गये हैं, प्रिय मित्र आँसू भी धीरे-धीरे चले गए हैं, क्षणभर के लिए भी धीरज नहीं है, 'चित्त भी पहले ही से जाने को उद्यत है ! प्रियतम के जाने को कृत-संकल्प होते ही सभी साथ-साथ चले । उनका जाना अगर ठीक ही है तो प्राणप्रिय सुहृत् का संग क्यों छोड़ा जाय ?"

भाव और वचनभंगिमा की दृष्टि से इन कविताओं को पढ़ने के साथ ही साथ परवर्ती काल की इस प्रकार की वैष्णव कविताओं का स्पष्ट और अस्पष्ट स्मरण आता रहता है। यही काव्यधारा ही परवर्ती काल में वैष्णव-साहित्य में किस प्रकार से प्रवाहित हुई है यह पूर्वरचित पद और परवर्ती काल में रचित पदों की तुलना करने से समझ में आ जाता है। अमरु के अलावा क्षेमेन्द्र, 'नल-चम्पू' के त्रिविक्रम, दीपक आदि प्राचीन कवियों की पार्थिव प्रेम की कविता 'पद्यावली' में 'राधा-कृष्ण-प्रेम' की कविता के रूप में गृहीत हुई है । इसके अन्दर समाहर्ता रूपगोस्वामी का कोई हाथ नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता । जिसमें जिस प्रसंग में वह उद्धृत हुए हैं वहाँ स्थान-काल-पात्र से यथासम्भव सामञ्जस्य रक्षा की जा सके उस ओर ध्यान रखकर रूपगोस्वामी ने पदों को जगह-जगह पर थोड़ा बहुत बदल दिया है।[1] अतएव सामान्य रूप से हम देखते हैं कि प्रेम के स्थूल और सूक्ष्म जितने प्रकार का वर्णन पूर्ववर्ती कवि कर गये हैं उसकी कोई भी कविता परवर्ती काल में गोपीप्रेम या राधा-प्रेम के रूप में गृहीत होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं थी।

राधा-प्रेम के जितने विचित्र और विशद वर्णन है वे मूलतः भारतीय प्रेम-कविता की धारा से गृहीत हैं इस विषय में निःसन्देह होने के लिए दूसरी सूरत भी है। पूर्ववर्ती काल की संस्कृत और प्राकृत में लिखित सभी भारतीय प्रेम-कविताओं से हम परवर्ती काल की राधा-प्रेम की अनगिनत कविताओं की यदि तुलना करें तो साफ देखेंगे कि

(१) डा० सुशीलकुमार दे लिखित 'पद्यावली' की भूमिका (पृष्ठ ६२) और पदकारों के विषय में टीका (पृ० १९९–२००) देखिए ।

भारतीय साधारण काव्यधारा और कविरीति तथा कवि-प्रसिद्धि को ही वैष्णव कवियों ने जाने अनजाने किस प्रकार ग्रहण किया है। भिन्न युगों में भिन्न कवियों द्वारा रचित इस प्रकार की बहुतेरी प्रकीर्ण कविताएँ भारतीय संग्रह-ग्रंथों में संकलित हैं। हम इनमें से कुछ प्रसिद्ध संग्रह-ग्रंथों की कुछ कविताओं से राधा-प्रेम का अवलम्बन करके लिखी गई कुछ वैष्णव कविताओं की तुलना करके अपने कथन की स्थापना की चेष्टा करेंगे।

(ङ) वैष्णव प्रेम-कविता और प्राचीन भारतीय प्रेम-कविता की धारा

प्राचीन भारतीय प्रेम-कविता की धारा का विवेचन करने पर हम देखते हैं कि जयदेव से लेकर १९वीं शताब्दी तक भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में—विशेषकर बंगाल में—राधा-प्रेम का अवलम्बन करके जो वैष्णव कविता लिखी गई है उसके अन्दर विकास-जनित विचित्रता, सूक्ष्मता और जगह-जगह पर उसकी उच्चता अवश्य ही लक्षणीय है। लेकिन इसीलिए भारतीय साहित्य के इतिहास में इसके अभिनवत्व को एकान्तरूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। राधाप्रेम का ढाँचा पूर्ववर्ती प्रेम-कविता ही से लिया गया है। अभिव्यंजना की भंगिमा के अन्दर भी हम उसी भारतीय धारा को अनुसरण करते देखते हैं। लेकिन पूर्व-रचित पृष्ठभूमि पर अध्यात्म-तत्त्व-दृष्टि की एक ज्योतिर्मय दीप्ति और कवि-कल्पना ने उसे और भी हृदयग्राही बना दिया है, महिमान्वित किया है। राधिका की वयःसन्धि से लेकर तरुणी के प्रेम-चांचल्य, प्रेम की निविड़ता और गहराई, मिलन-विरह, मान-अभिमान वगैरह जिस किसी विषय का वर्णन हम वैष्णव कविता में पाते हैं, पार्थिव नायिका का अवलम्बन करके उसी प्रकार के प्रेम का वर्णन—यहाँ तक कि प्रेमवर्णन का कला-कौशल तक सभी कुछ हम पूर्ववर्ती काव्य के अन्दर पाते हैं। यह बात सच है कि पूर्ववर्तियों ने संभोग को ही प्रधानता देकर प्रेम को अनेक स्थलों पर स्थूल बना दिया है और वैष्णव कवियों ने विरह को प्रधानता देकर प्रेम में सूक्ष्मता और अतलता की सृष्टि की है। विरह का अवलम्बन करके प्रेम का यह सूक्ष्म और गहरा स्वर ही राधा-प्रेम को आध्यात्मिक जगत् में संभव बनाने में सहायक हुआ है। साहित्य के तौर पर वैष्णव कविता पर विचार करने पर हम देखते हैं कि पूर्ववर्ती कवियों द्वारा वर्णित प्रेम से राधा-प्रेम का पार्थक्य दो कारणों से हुआ है। पहली बात है एक तत्त्व-दष्टि का प्रत्यक्ष प्रभाव और दूसरी

बात है विरह का अवलम्बन करके प्रेम का रूप से अरूप—प्राकृत मर्त्य भूमि से अप्राकृत वृन्दावन धाम की यात्रा।

प्राकृत-भूमि से अप्राकृत धाम की यात्रा किस प्रकार से शुरू हुई और कैसे हुई—अर्थात् प्राकृत नायिका ही किस प्रकार से राधा में रूपान्तरित हुई, इसे भलीभाँति समझने के लिए पूर्ववर्ती कवियों की प्राकृत नायिका और परवर्ती कवियों की राधिका में कितना योग है, इस बात को विभिन्न दृष्टियों से देख लेना आवश्यक है। इसके लिए प्राचीन भारतीय प्रेम-कविता और परवर्ती काल की वैष्णव कविता का थोड़ा बहुत तुलनात्मक विवेचन आवश्यक है। हमने अपने पूर्ववर्ती विवेचनों में परवर्ती काल के वैष्णव धर्म और साहित्य में, पूर्ववर्ती काल की मानवीय कविता किस प्रकार से गृहीत हुई है उसका विवेचन करके राधिका से भारतीय चिरन्तन नायिका का कितना योग है उसका कुछ आभास देने की चेष्टा की है। लेकिन गम्भीर विश्वास उत्पन्न करने के लिए यही सामग्री काफी नहीं है। वर्तमान विवेचन में हम पूर्ववर्ती कवियोंओं की प्रेम-कविता और परवर्ती कविताओं में भाव और भाषा का कितना योग है इसी का सामान्य परिचय कराने की चेष्टा करेंगे।

हाल की 'गाहासत्तसई' की प्राचीनता स्वीकृत है, इसलिए हम यहीं से शुरू करेंगे। दीर्घ-विरहिणी नायिका को लक्ष्य करके कहा गया है—

णइऊरसच्छहे जोव्वणम्मि अइपवसिएसु दिअसेसु।
अणिअत्तासु अ राईसु पुत्ति किं दड्ढमाणेण ॥१।४५॥

'नारी का यौवन नदी के जल के उद्वेल की तरह होता है; दिन चिरकाल के लिए बीते जा रहे हैं, रात भी फिर नहीं लौटेंगी, इस हालत में इस जले मान को लेकर क्या होगा?' इस पद से चण्डीदास के प्रसिद्ध पद की तुलना कीजिए—

काल वलि काला गेल मधुपुरे से कालेर कत बाकि।
यौवन-सायरे सरितेछे भाटा ताहारे केमने राखि ॥
जोयारेर पानी नारीर यौवन गेले ना फिरिबे आर।
जीवन थाकिले बँधुरे पाइब यौवनमिलन भार ॥

कृष्ण कल लौटने की बात कहकर मधुपुर चले गये। उस कल के आने में कितनी देर है? यौवन की सरिता में भाटा आ रहा है, उसे कैसे रोकूं? ज्वार का पानी और नारी का यौवन एक बार चले जाने पर फिर नहीं लौटेंगे। जिन्दगी रही तो प्रीतम को पाऊँगी, मगर यौवन फिर नहीं मिलने का।"

बहुत दिनों के बाद परदेशी प्रियतम के लौटने पर उसकी प्रेयसी किस प्रकार के मंगल अनुष्ठानों के द्वारा उसकी अभ्यर्थना करेगी उसके वर्णन में हम देखते हैं—

रत्थापइण्णणअणुप्पला तुमं सा पडिच्छए एन्तम् ।
दारणिहिएहिं दोहिं वि मंगलकलसेहिं व थणेहिं ।।२।४०

तुम्हें आते देख वह सभी प्रकार से मंगल आयोजन करके प्रतीक्षा कर रही है, अपने नयनोत्पलों के द्वारा उसने तुम्हारे आगमन-पथ को प्रकीर्ण कर रखा है, और अपने दोनों स्तनों को द्वार पर के दो मंगल-कलश बना रखा है।

इसी प्रकार का एक श्लोक त्रिविक्रम भट्ट रचित कहकर शार्ङ्गधर-पद्धति में मिलता है—

किञ्चित्कम्पितपाणिकंकणरवैः पृष्टं ननु स्वागतं
व्रीडानम्रमुखाब्जया चरणयोर्न्यस्ते च नेत्रोत्पले ।
द्वारस्थस्तनयुग्ममंगलघटे दत्तः प्रवेशो हृदि
स्वामिन् किन्न तवातिथेः समुचितं सख्यानयानुष्ठितम् ।।

(३५३०)[१]

अमरुशतक में लिखा है—

दीर्घा चंदनमालिका विरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरैः
पुष्पानां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः ।
दत्तः स्वेदमुचा पयोधरयुगेनार्घ्यो न कुंभाम्भसा
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मंगलम् ।।

इसके साथ विद्यापति के पद की तुलना की जा सकती है—

पिया जब आओब इ मझु गेहे ।
मंगल जतहु करब निज देहे ।।
कनआ कुंभ करि कुचयुग राखि ।
दरपन धरब काजर देइ आँखि ।। इत्यादि।।[२]

---

(१) तुलनीय—यौवनशिल्पि-सुकल्पित-नूतन-तनुवेश्म विशति रतिनाथे ।
लावण्यपल्लवांके मङ्गलकलशौ स्तनावस्याः ।।

कवीन्द्रवचन समुच्चय, १५।४

(२) डा॰ विमानविहारी मजुमदार और खगेन्द्रनाथ मित्र सम्पादित संस्करण ।

परदेशी प्रीतम के लिए नायिका दिन गिनगी; लेकिन प्रेम के आतिशय्य से प्रिय आज गया है - आज गया है, इस तरह गिनते-गिनते दिवस के प्रथमार्ध में ही विरहिणी ने रेखाओं से दीवाल को चित्रित कर दिया है—

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए ।
पढ़म व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चित्तलिओ ।। ३।८

इससे विद्यापति के निम्नलिखित पद की तुलना कीजिए—

कालिक अवधि करिअ पिया गेल ।
लिखइते कालि भीत भरि गेल ।।
भले प्रभात कहत सबहिँ ।
कह कह सजनि कालि कबहिँ ।। [१]

विरह में दिन गिनने की बात एक और पद में मिलती है—

हत्थेसु अ पाएसु अ अंगुलिगणणाइ अइगआ दिअहा ।
एण्हिं उण केण गणिज्जउ त्ति भणिऊ रुअइ मुद्धा ।। ४।७

हाथ और पैर की उँगलियाँ दिन गिनते-गिनते समाप्त हो गईं, अब किस तरह से दिन गिनेगी इस बात को कह मुग्धा रो रही है। प्रिय-विरह से दिन गिनने की बात प्रत्येक वैष्णव कवि के पदों में नाना प्रकार से मिलती हैं। विद्यापति की राधा कहती है—

कतदिन माधव रहब मथुरापुर कबे घुचब बिहि वाम ।
दिवस लिखि लिखि नखर खोयाओल बिछुरल गोकुल नाम ।।

फिर—

एखन-तखन करि दिवस गमाओल दिवस-दिवस करि मासा ।
मास मास करि बरस गमाओल छोंड़लु जीवन आसा ।। इत्यादि । ।।

चण्डीदास के पदों में कहा गया है—

आसिबार आसे लिखिनु दिवसे खोयाइनु नखेर छन्द ।
उठिते बसिते पथ निरखिते दु आँखि हइल अंध ।।

यह भाव ज्ञानदास-गोविन्ददास आदि के बहुतेरे छंदों में मिलता है।

---

(१) तुलनीय:—**अवनत वयने हेरत गीम ।**
खिति लिखइते भेल अङ्गुलि छीन ।।
फिर, पद अङ्गुलि देइ खिति पर लेखइ
पाणि कपल-अवलम्ब ।।

ज्ञानदास के एक प्रसिद्ध पद में देखते हैं कि प्रेम के एक प्रकार के देह-विकार को ढांकने की कोशिश करने पर दूसरा विकार आकर मुसीबत में डालता है—

> गुरु गरवित माझे थाकि सखी संगे ।
> पुलके पूरये तनु श्याम-परसंगे ।।
> पुलक ढाकिते करि कत परकार ।
> नयनेर धारा मोर बहे अनिबार ।।

चण्डीदास, विद्यापति आदि अनकों के इस प्रकार के पद हैं । यथा—

चण्डीदास—

> गुरुजन माझे यदि थाकिये बसिया ।
> परसंगे नाम सुनि दरबये हिया ।।
> पुलके पूरये अंग आँखे भरे जल ।
> ताहो निबारिते आमि हइये विकल ।।

विद्यापति—

> धसमस करए रहओं हिय जाति ।
> सगर सरीर धरए कत भाँति ।।
> गोपहि न पारिअ हृदय-उलास ।
> मुनलाहु वदन बेकत हो हास ।। इत्यादि।। (३३१)

'गाहा-सत्तसई' की नायिका भी कहती है—

> अच्छीइँ ता थइस्सं दोहिं बि हत्येहिं वि तस्सिं दिट्ठे ।
> अंगं कलम्बकुसुमं व पुलइअं कहँ णु ढक्किस्सम् ।। ४।१४

उसे देखने पर मान लो दोनों हाथों से दोनों आँखों को ढक रखूंगी मगर कदम्ब-कुसुम की भाँति पुलकित अंगों को कैसे ढक रखूँगी ?

अमरुशतक में देखते हैं—

> भ्रूभंगे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कंठमुद्वीक्षते
> कार्कश्यं गमिते ऽपि चेतसि तनूरोमांचमालम्बते ।
> रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते
> दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिन् जने ।।

हम जानते हैं—

> कण्टक गाड़ि कमलसम पदतल मंजिर चीरहि झाँपि ।
> गागरि-वारि ढारि करु पीछल चलतहि अंगुलि चापि ।।

आदि गोविन्ददास के प्रसिद्ध अभिसार के पद हैं। यहाँ हम अभिसार के लिए राधा को सारी रात जागने की साधना करते देखते हैं—

माधव तुया अभिसारक लागि।
दूतर-पन्थ-गमन धनि साधये
मन्दिरे यामिनी जागि।

इसका प्राग्रूप देखते हैं—

अज्ज मए गन्तव्वं घणन्धआरे वि तस्स सुहअस्स।
अज्जा णिमीलिअच्छी पअपरिवाडिं घरे कुणइ॥ ३।४६

आज मुझे घने अन्धकार में उस कान्त के अभिसार में जाना पड़ेगा, इस बात को सोचकर वह वरनागरी निमीलिताक्षी होकर अपने घर में ही चहलकदमी कर रही है। इसका दूसरा रूप देखते हैं 'कवीन्द्र-वचन-समुच्चय' में उद्धृत एक कविता में।'—

मार्गे पंकिनि तोयदान्धतमसे निःशब्दसंचारकं
गन्तव्या दयितस्य मेऽद्य वसति मुग्धेति कृत्वा मतिम्।
आजानुद्धृतनूपुरा करतलेनाच्छाद्य नेत्रे भृशं
कृच्छाल्लब्धपदस्थितिः स्वभवने पन्थानमभ्यस्यति॥ ५।१६

'पंकिल पथ पर मेघान्धतमसा के अन्दर से निःशब्द चरण करते हुए आज मुझे प्रिय के यहाँ जाना पड़ेगा; ऐसा विचार करती एक मुग्धा रमणी नूपुर को घुटने तक उठाकर, नयनों को हाथों से अच्छी तरह ढक कर बहुत कष्ट से पग सँभाल कर घर में ही राह चलने का अभ्यास कर रही है।" एक दूसरे श्लोक में देखते हैं—

पेच्छइ अलद्धलक्खं दीहं णीससइ सुण्णअं हसइ।
जह जम्पइ अफुडत्थं तह से हिअअट्ठिअं किं पि॥ ३।९६

'शून्य दृष्टि या उद्देश्यहीन दृष्टि से बार-बार देख रही है, लम्बी साँसें ले रही है। शून्य की ओर देखकर हँस रही है; अस्पष्ट बातें कर रही है। इन सबको देखकर लगता है कि इसके हृदय में निश्चय ही कुछ है।" इस कविता से नव-अनुराग से अनुरागिणी विकला राधा के प्रति सखियों की उक्तिवाली जो कविताएँ हैं उन्हें उद्धृत करके दिखाने की आवश्यकता नहीं। पद को राधा-प्रेम के उच्चभाव की कविता कहने से इस विषय में दूसरी बात सोचने का मौका नहीं रह जाता। एक पद में है,—

पत्तनिअम्वप्फंसा ण्हाणुत्तिण्णाए सामलंगीए।
जलविन्दुएहिं चिहुरा रुअन्ति वन्धस्स व भएण॥६।५५

'नहाकर निकली श्यामलांगी के नितम्ब का स्पर्श पाय हुए चिकुर-समूह फिर बँध जाने के डर से ही मानों जल विन्दु द्वारा रो रहे हैं।' इस पद से विद्यापति के 'जाइत पेखल नहाएलि गोरी' या 'कामिनि पेखल सनानक बेला' आदि पदों की तुलना की जा सकती है।

मग्गं च्चिअ अलहन्तो हारो पीणुण्णाआणँ थणआणम् ।

उव्विग्गो भमइ उरे जमुणाणइफेणपुंजो व्व ॥७।६९

'पीनोन्नत स्तन युगलों की राह न पाकर हार जमुना नदी के फेन पुंज की तरह छाती पर मानो उद्विग्न होकर चक्कर काट रहा है।' इसके साथ विद्यापति के—

पीन पयोधर अपरुब सुन्दर
ऊपर मोतिम हार ।
जनि कनकाचल ऊपर विमल जल
दुइ बह सुरसरि धार ॥

अथवा वड़ुचण्डीदास के—

गिए गजमुती हार मणि माझे शोभे तार
ऊच कुच युगल ऊपरे ।
हआँ समान आकारे सुरेश्वरी दूईं धारे
पड़े येन सुमेरु शिखरे ॥

आदि को स्मरण किया जा सकता है।

दुर्जय मान के कारण नायक का प्रत्याख्यान किया है, मगर पश्चात्ताप करती हुई नायिका के प्रति सखी की इस प्रकार की उक्ति मिलती है—

पाअपडिओ ण गणिओ पिअं भणन्तो वि अप्पिअं भणिओ ।

वच्चन्तो वि ण रुद्धो भण कस्स कए कओ माणो ॥ ५।३२

'पैरों पर पड़ने पर भी उसे कुछ गिना नहीं। उसने प्रिय कहा, तुमने उसे अप्रिय कहा। जब वह जाने लगा तो तुमने उसका रास्ता नहीं रोका; बताओ, किसके लिए तुमने मान किया था?'

'कवीन्द्र-वचन-समुच्चय' में भी इसी आशय का अमरु का एक श्लोक उद्धृत किया गया है।[1]

कर्णे यन्न कृतं सखीजनवचो यन्नादृता बन्धुवाग्
यत्पादे निपतन्नपि प्रियतमः कर्णोत्पलेनाहतः ।
तेनेन्दुर्दहनायते मलयजालेपः स्फुलिंगायते
रात्रिः कल्पशतायते विसलताहारोऽपि भारायते ।।४१५

---

(१) यह श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में भी उद्धृत है।

"(दुर्जय मान के कारण) सखियों की बातों पर ध्यान नहीं दिया, बान्धवों की अवज्ञा की, प्रियतम जब पैर पर पड़ा तो कर्णोत्पल से उसे आहत किया; इसीलिए अब चन्द्रमा दहन का कारण बन रहा है, चन्दन का प्रलेप स्फुलिंग की तरह लग रहा है, रात शत कल्प की तरह लग रही है, और मृणालहार भी भारी लग रहा है।' इसके साथ रूपगोस्वामी की कविता की तुलना की जा सकती है—

कर्णान्ते न कृता प्रियोक्तिरचना क्षिप्तं मया दूरतो
मल्लीदामनिकामपथ्यवचसे सख्यै रुषः कल्पिताः ।
क्षौणीलग्नशिखण्डशेखरमसौ नाभ्यर्थयन्नोक्षितः
स्वान्तं हन्त ममाद्य तेन खदिरांगारेण दन्दह्यते ।।

विदग्ध-माधव नाटक, ५ म अंक ।

दुर्जयनमान के कारण पैरों पर गिरकर गिड़गिड़ाते हुए कृष्ण की राधा ने भर्त्सना की, प्रत्याख्यान किया, वक्रोक्ति की, मगर प्रत्याख्यात प्रिय के लिए वह सखियों से पश्चात्ताप कर रही है। राधा के प्रति इस तरह की उक्तियाँ वैष्णव कविता में तरह तरह से आती हैं। अमरु कवि रचित इसी प्रकार की एक कविता को 'पद्यावली' में रूपगोस्वामी ने 'कलहांन्त-रिता राधा के प्रति दक्षिण सखी वाक्य' कहकर ग्रहण किया है।

पद इस प्रकार है—

अनालोच्य प्रेम्णः परिणतिमनादृत्य सुहृद-
स्त्वया कान्ते मानः किमिति सरले प्रेयसि कृतः ।
समाश्लिष्टा ह्येते विरहदहनोद्भासुरशिखाः
स्वहस्तेनांगारास्तदलमधुनारण्यरुदितैः ।।२३०।।

"हे सरले, प्रेम की परिणति पर विचार न करके, सुहृदों का अनादर करके प्रिय कान्त के प्रति मन क्यों किया था? तुमने इस विरहाग्नि में उठने वाले अंगारों का आलिंगन किया है, अब अरण्यरोदन करने से क्या लाभ होगा?" यह पद 'कवीन्द्र-वचन-समुच्चय', 'सदुक्तिकर्णामृत', 'सूक्तिमुक्तावली', आदि बहुतेरे संग्रह-ग्रन्थों में 'मानिनी' के सम्बन्ध में दिये गये पदों में थोड़े बहुत पाठान्तर के साथ आया है।

ऊपर जिन गाथाओं पर हमने विचार किया उनके अलावा 'गाहा-सत्तसई' में ऐसी बहुतेरी गाथायें मिलती हैं जिन्हें साफ तौर से किसी विशेष वैष्णव कविता से न जोड़ सकने पर भी उनसे बहुतेरी वैष्णव-कविताओं का अस्पष्ट स्मरण होता है तथा इन कविताओं और वैष्णव कविताओं में एक सजातीयता साफ दिखाई पड़ती है। एक गाथा में है—

ण मुअन्ति दीहसासं ण रुअन्ति चिरं ण होन्ति किसिआओ।
धण्णाओं ताओं जाणं वहुवल्लहवल्लहो ण तुमम् ॥२।४७

'लम्बी साँस नहीं लेती हैं, देर तक नहीं रोती हैं, कृश भी नहीं होती हैं, वे ही नारियाँ धन्य हैं—जिनके, हे वहु वल्लभ, तुम वल्लभ नहीं हो।' यह पद विरहिणी गोपियों की जबानी वहुवल्लभ कृष्ण के प्रति बहुत फिट बैठता है। वसन्त की अपेक्षा वर्षा ही विरहिणियों की वेदना को तीव्र-तर कर देती है; इसीलिए एक प्रोषितभर्तृका नारी कहती है—

सहि दुम्मेति कलम्वाइं जह मं तह ण सेसकुसुमाइं ।२।७७

"हे सखी (इस वर्षाकाल में) कदम्ब के फूल मुझे जिस तरह पीड़ा देते हैं, दूसरा (वसन्त ऋतु में फूलने वाला) कोई फूल इतना व्यथा नहीं पहुँचाता।"

एक दूसरी गाथा में एक दूती नायिका की ओर से नायक के ही पास गई है। मगर नायक से जैसे कोई प्रयोजन नहीं है, प्रसङ्गवश ही मानो एक संवाद मात्र देती हुई कहती है:—

णाहं दुई ण तुमं पिओ त्ति को अम्ह एत्थ वावारो।
सा मरइ तुज्झ अअसो तेण अ धम्मक्खरं भणिमो ॥ २।७८

'मैं दूती नहीं हूँ, तुम भी कोई प्रिय नहीं हो, अतएव तुमसे मेरा क्या वास्ता? लेकिन वह मर रही है, तुम्हारी निन्दा होगी, इसलिए धर्म की बात कह रही हूँ।' इस दूती की चतुराई और माधुर्य को देखकर परवर्ती काल की वृन्दावन की रसिक और चतुरा वृन्दा, ललिता आदि दूतियों की बात स्मरण हो आती है। एक दूसरी चतुर दूती कह रही है—

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती।
दिअहं अणण्णकम्मा अगं तणुअं पि तणुएइ ॥२।८२

'हे भाग्यवान्, तुम्हारा हृदय सहस्रों महिलाओं द्वारा पूर्ण है, वह (तुम्हारी प्रेयसी नायिका) अब वहाँ स्थान न पाकर दिन भर अनन्यकर्मा होकर अपने क्षीण शरीर को और भी क्षीण कर रही है।"

एक गाथा में नायक कह रहा है—

आअम्वन्तकवोलं खलिअक्खरजम्पिरिं फुरन्तोट्ठिम्।
मा छिवसु त्ति सरोसं समोसरन्तिं पिअं भरिमो ॥२।९२

'मुझे मत छुओ' कहकर जो सरोष हटती जा रही है—ऐसी प्रिया का मैं स्मरण करता हूँ।" इस स्मरण के साथ ही परवर्ती वैष्णव साहित्य में वर्णित खंडिता राधा का मूर्तियाँ स्मरण कीजिए।

दुःसह विरह-वेदना से पीड़ित एक नायिका कह रही है—

जम्मन्तरे वि चलणं जीएण खु मग्रण तुज्झ ग्रच्चिस्सम् ।
जइ तं पि तेण वाणेण विज्झसे जेण हं विज्झा ।।५।४१

'हे मदन, तुमने ग्रपने जिस बाण से मुझे बींध दिया है, यदि उसी बाण से तुम उनको (मेरे प्रियतम को) भी बींध दो तो मैं जन्मान्तर में भी ग्रपना जीवन देकर तुम्हारी पूजा करने को प्रस्तुत हूँ ।' हमें परिवर्ती काल के चण्डीदास की राधा का यहाँ ग्राभास मिल सकता है । चण्डीदास का स्वर दो एक गाथाग्रों में ग्रौर भी स्पष्ट हो गया है—

विरहेण मन्दरेण व हिग्रग्रं दुद्धोग्रहिं व महिऊण ।
ऊम्मलिग्राइं ग्रब्बो ग्रम्हं रग्रणाइं व सुहाइं ।।५।७५

'मन्दर पर्वत ने जिस प्रकार से समुद्र का मन्थन करके रत्नों को निकाला था, हाय ! विरह ने भी उसी तरह से मेरे हृदय का मन्थन करके मेरे सारे सुखों को उखाड़ फेंका है ।'

किं रुवसि किं ग्र सोग्रसि किं कुप्यसि सुग्रणु एक्कमेक्कस्स ।
पेम्मं विसं व विसमं साहसु को रुंद्धिउं तरइ ।।६।१६

'क्यों रो रही हो, क्यों शोक कर रही हो, क्यों हे सुतनु, सब पर कोप कर रही हो ! विष की तरह विषम प्रेम को बताग्रो कौन रोक सकता है ।'

हमने पहले 'गाहा-सत्तसई' से राधा ग्रौर गोपियों को लेकर कृष्ण-प्रेम के जो पद दिये हैं वे ऊपर दिये हुए पदों के साथ ही मिलते हैं । ग्रधिकांश गाथाएँ इस प्रकार की हैं कि राधा-कृष्ण का उल्लेख रहने-न-रहने में एक पार्थक्य के सिवा कोई मौलिक पार्थक्य देखने में नहीं ग्राता है । परवर्ती काल में संगृहीत 'प्राकृत-पिंगल' नामक छंद के ग्रंथ में जो प्राकृत गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं उसके कितने ही श्लोकों ग्रौर परवर्ती काल की वैष्णव कविता के वर्णन ग्रौर स्वर में समानता लक्षणीय है । जैसे—

फुल्ला णीवा भम भमरा दिट्ठा मेहा जले समला ।
णच्चे बिज्जु पिग्र सहिग्रा ग्रावे कंता कहुकहिग्रा ।।

"नीप फूले हैं, जलश्यामल मेघ घूमते हुए भौरों की तरह लग रहे हैं, बिजली नाच रही है, हे प्रियसखि, मेरा कंत कब ग्रायेगा ?"[1]

(१) **वर्णवृत्तं, ८१ । तुलनीय :—गज्जे मेहा णीला कारउ**
सद्दे मोरउ उच्चा रावा ।।
ठामा ठामा विज्जु रेहउ
पिंगा देहउ किज्जे हारा ।।
फुल्ला णीवा पीवे भमरु दक्खा मारुग्र वीग्रंताए ।
हंहो हंजे काहा किज्जउ ग्राग्रो पाउस कीलंताए ।। वही—१८१ ग्रौर भी तुलनीय, वही, ८६; १४४ इत्यादि ।

'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' से लेकर 'सुभाषितावली', 'सदुक्ति-कर्णामृत', 'सूक्तिमुक्तावली' या 'सुभाषित-मुक्तावली', 'शार्ंगधर-पद्धति', 'सूक्तिरत्नहार' आदि संग्रह-ग्रंथों में हम वयःसंधि-वर्णन से लेकर प्रेम की प्रायः सभी अवस्थाओं का विविध वर्णन पाते हैं। एक 'सदुक्तिकर्णामृत' में ही हम नारी-सौन्दर्य और नारी-प्रेम का अवलम्बन करके शृंगारप्रवाह की जो ऊर्मियाँ पाते हैं, वेही लक्षणीय हैं। यहाँ हम इस वयःसंधि, किंचिदुपारूढ़-यौवना, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, नवोढ़ा, विस्रब्धनवोढ़ा, कुलस्त्री (स्वकीया), असती (परकीया), खंडिता, अन्यरतिचिह्नदुःखिता, विरहिणी, दूतीवचन, तनुताख्यान, उद्वेगकथन, वासकसज्जा, स्वाधीनभर्तृका, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, गोत्रस्खलिता, मानिनी (उदात्त मानिनी, अनुरक्त मानिनी), प्रवत्स्यद्भर्तृका, प्रोषितभर्तृका, अभिसारिका (दिवाभिसारिका, तिमिराभिसारिका, ज्योत्स्नाभिसारिका, दुर्दिनाभिसारिका) आदि के सम्बन्ध में लिखित बहुत से श्लोक पाते हैं। इन श्लोकों से वैष्णव कविताओं को मिलाकर पढ़ने से हमारे कथन की यथार्थता स्पष्ट हो जायगी। सारे विषयों को लेकर तुलनात्मक विस्तृत विवेचन करने की फुर्सत और जरूरत हमें नहीं है, अतएव कुछ चुने हुए विषयों का ही हम यहाँ विवेचन करेंगे।[1]

'सदुक्तिकर्णामृत' में राजशेखर कृत एक श्लोक में उद्भिन्नयौवना नारी का वर्णन करते हुए कहा गया है—

पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्यां
श्रोणीविम्बं त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः।
धत्ते वक्षः कुचसचिवतामद्वितीयं च वक्त्रं
तद्गात्राणां गुण-विनिमयः कल्पितो यौवनेन ॥२।२।४

पैरों ने चंचलता त्याग दी है, लोचनों ने उसका आश्रय लिया है, श्रोणिबिम्बों ने तनुता त्याग दी है, मध्य भाग (कटि) अब उसकी सेवा कर रहा है, छाती ने अब (मुख को त्याग कर) कुचों की सचिवता ग्रहण की है, फलस्वरूप मुख अब अद्वितीय (पूर्ण सौन्दर्य में अद्वितीय और अपनी महिमा में प्रतिष्ठित होने के कारण द्वितीय विरहित भाव से भी अद्वितीय) है। इस प्रकार से यौवन ने आकर, उसके सारे शरीर में गुण विनिमय कर दिया है। शतानन्द के एक श्लोक में देखते हैं—

---

(१) शार्ङ्गधर–पद्धति में (पीटर-पिटर्सन् सम्पादित) कवि का नाम नहीं है (३२८२)।

गते बाल्ये चेतः कुसुमधनुषा सायकहतं
भयाद्वीक्ष्येवास्याः स्तनयुगमभुन्निर्जिगमिषु ।
सकम्पा भ्रूबल्ली चलति नयनं कर्णकुहरं
कृशं मध्यं भुग्ना बलिरलसितः श्रोणिफलकः ।। २।२।५

"बालपन बीत जाने पर चित्त कुसुमशर (मदन) के द्वारा विद्ध हुआ है; इसे देखकर इसके स्तन युगल मानो डर से निकल जाने के लिये इच्छुक हुए हैं; भय से भौंहें काँप रही हैं, आँखें कान की ओर फैल रही हैं, कटि-भाग कृश हो गया है, बलि टेढ़ी हो गयी है, दोनों नितम्ब अवसन्न हो गये हैं।"

इन पदों से विद्यापति की श्रीराधा की वयःसन्धि-सम्बन्धी कविता का मिलान किया जा सकता है—

सैसव यौवन दरसन भेल ।
दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल ।।
मदनक भाव पहिल परचार ।
भिन जन देल भीन अधिकार ।।
कटिक गौरव पाओल नितम्ब ।
एकक खीन अओक अवलम्ब ।।
चरन चपल गति लोचन पाव ।
लोचनक धैरज पदतल जाव ।।

अथवा,— दिन दिन उन्नत पयोधर पीन ।
बाढ़ल नितम्ब माझ भेल खीन ।।
आवे मदन बढ़ाओल दीठ ।
सैसव सकल चमक देल पीठ ।।
सैसव छोड़ल शशिमुखि देह ।
खत देइ भेजल त्रिवलि तिन रेह ।।

अथवा,— सैसव जौवन दुहु मिलि गेल ।
स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल ।।

विद्यापति की वयःसन्धि की कविताओं में राधा के शैशव के बाद यौवन के प्रथम आगमन के सभी शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों के

वर्णन हैं। इस तरह के वर्णन संग्रह-ग्रंथों में वयःसन्धि और 'तरुणी' के वर्णन के श्लोकों में बिखरे हुए हैं।[1]

तरुणी नारी का एक बड़ा सुन्दर वर्णन एक पद में मिलता है—

दृष्टा कांचनयष्टिरद्य नगरोपान्ते भ्रमन्ती मया
तस्यामद्भुतमेकपद्ममनिशं प्रोत्फुल्लमालोकितम् ।
तत्रोभौ मधुपौ तथोपरि तयोरेकोऽष्टमीचन्द्रमा
स्तस्याग्रे परिपुञ्जितेन तमसा नक्तंदिवं स्थीयते ।।२।४।२

'कंचनवर्णा सोने की छड़ी को (तरुणी को) नगर के एक छोर पर घूमते हुए आज देखा। उसमें एक अद्भुत कमल (मुख कमल) है। वह कभी बन्द नहीं होता, सदा ही खिला रहता है। उसपर दो भौंरे (दो आँखें) हैं, उस पर पुंजीभूत अन्धकार (कृष्ण केशदाम) है—यह अन्धकार दिन-रात रहता है। नायिका के इस प्रकार के वर्णन से हम वैष्णव कविता

---

१ **भ्रुवोः काचिल्लीला परिणतिरपूर्वा नयनयोः**
स्तनाभोगोऽव्यक्तस्तरुणिमसमारम्भसमये । कवीन्द्रवः, सदुक्तिकः ।
तिर्यग्लोचनचेष्टितानि वचसि च्छेकोक्तिसंक्रान्तयः । कवीन्द्रवः ।
तथापि प्रागल्भ्यं किमपि चतुरं लोचनयुगे । वही ।
लीलास्खलच्चरणचारुगतागतानि
तिर्यग्विवर्तितविलोचनवीक्षितानि ।
बामभ्रुवां मृदु च मञ्जु च भाषितानि
निर्मायमायुधमिदं मकरध्वजस्य ।। कवीन्द्रवः ।
अप्रकटवर्तितस्तनमण्डलिकानिभृतचक्रदर्शिन्यः ।
आवेशयन्ति हृदयं स्मरचर्यागुप्तयोगिन्यः ।। सदुक्तिकः
अहमहमिकाबद्धोत्साहं रतोत्सवशंसिनि
प्रसरति मुहुः प्रोढ़स्त्रीणां कथामृतदुर्दिने ।
कलितपुलका सद्यः स्तोकोद्गतस्तनकोरके
वलयति शनैर्बाला वक्षस्थले तरलां दृशम् ।।
धर्माशोक दत्त (सदुक्तिकः)

इस प्रसंग में 'सूक्तिमुक्तावली' में उद्धृत 'वयःसन्धि-पद्धति' और 'तारुण्य-पद्धति' देखिए ।

में श्रीकृष्ण के पूर्वराग का अवलम्बन करके राधा के वर्णनों का मिलान कर सकते हैं।[१]

मुग्धा नायिका के चित्त में प्रेम के आविर्भाव को प्रकट करते हुए एक श्लोक में कहा गया है—

वारंवारमनेकधा सखि मया चूतद्रुमाणां वने
पीतः कर्णदरीप्रणालवलितः पुंस्कोकिलानां ध्वनिः।
तस्मिन्नद्य पुनः श्रुतिप्रणियनि प्रत्यंगमुत्कम्पितं
तापश्चेतसि नेत्रयोस्तरलता कस्मादकस्मान्मम॥[२]

'बारंबार सखि, मैंने बहुत तरह से अमराई में कानों से कोयल की ध्वनि का पान किया है। आज उस ध्वनि के कानों में पहुँचते ही न जाने क्यों अकस्मात् मेरा प्रत्यंग उत्कम्पित हो रहा है, चित्त में गर्मी पैदा हो रही है, नेत्रों में तरलता दिखाई पड़ रही है।'

इसी की मानो प्रत्युक्ति दिखाई पड़ती है अमरु के एक श्लोक के सखी वचन के अन्दर।

अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैर्मुहुर्मुकुलीकृतैः
क्षणमभिमुखैर्लज्जालोलैर्निमेषपराङ्मुखैः।
हृदयनिहितं भावाकूतं वमद्भिरिवेक्षणैः
कथय सुकृती कोऽयं मुग्धे त्वयाद्य विलोक्यते॥

'तुम्हारी इस चितवन के द्वारा—जो चितवन अलसाई हुई है, प्रेमनीर से सींची हुई है, पल पल पर मुकुलीकृत है, क्षण क्षण पर सामने की ओर लज्जाचंचल भाव से प्रसारित है, अपलक है और जो चितवन तुम्हारे हृदयस्थित भावाकूति को उगलती है—इस चितवन से बताओ वह कौन सुकृती है जिसे तुम आज बारम्बार देख रही हो।"

---

(१) इस प्रसंग में राधिका के रूपवर्णन के जो उपमाएँ ी जाती हैं उनसे नीचे लिखे श्लोक की तुलना की जा सकती है।

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोपलानि शशिना सह संप्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥

सदुक्तिकः (विकटनितम्बायाः) २।४।४

(२) सदुक्तिकः, २।५।१

(३) सूक्तिमुक्तावली, सखी–प्रश्नपद्धति, ४; शार्ङ्गधर-पद्धति, ३४१६

अमर सिंह के नाम से मिलने वाले एक श्लोक में है:—

कुचौ धत्तः कम्पं निपतति कपोलः करतले
निकामं निःश्वासः सरलमलकं ताण्डवयति।
दृशः सामर्थ्यानि स्थगयति मुहुर्वाष्पसलिलं
प्रपंचोऽयं किंचित्तव सखि हृदिस्थं कथयति ।।[1]

"तुम्हारे दोनों कुच कम्पित हो रहे हैं, कपोल हथेली पर गिर रहे हैं, साँस सरल अलकों को तेजी से संचालित कर रही है, ये प्रपंच, हे सखि, तुम्हारे हृदय के भावों को ही बता रहे हैं।"

इसके साथ हम नीचे लिखे श्लोक का भी मिलान कर सकते हैं—

श्वासेषु प्रथिमा मुखं करतले गंडस्थले पाण्डिमा
मुद्रा वाचि विलोचनेऽश्रुपटलं देहे च दाहोदयः।
एतावत्कथितं यदस्ति हृदये तस्याः कृशांग्याः पुनः
तज्जानासि ननु त्वमेव सुभग श्लाघ्या स्थितिस्तत्र या ।।[2]

"उसकी साँस में लम्बा विस्तार है, मुख हथेली पर है, गंडस्थल में पाण्डिमा है, वाक्य में मुद्रा है (अर्थात् मानों बोला नहीं जा रहा है), आँखों में आँसुओं की राशि है, देह में ताप उत्पन्न हुआ है, यहाँ तक तो (मुँह से) कहा—उस कृशांगी के हृदय में जो कुछ है, हे सुभग, उसे एक मात्र तुम्हीं जानते हो, वहाँ (उसके हृदय में) जो कुछ है वही श्लाघ्य है।"

'शार्ङ्गधर-पद्धति' में उद्धृत एक श्लोक में देखते हैं—

गोपायन्ती विरहजनितं दुःखमग्रे गुरूणाम्
किं त्वं मुग्धे नयनविसृतं वाष्पपूरं रुणत्सि।
नक्तं नक्तं नयनसलिलैरेष आर्द्रीकृतस्ते
शय्यैकान्तः कथयति दशामातपे दीयमानः ।।[3]

"गुरुओं के सामने विरहजनित दुःख को छिपाने के लिये हे मुग्धे, तुम नयन-विगलित-वाष्पप्रवाह क्यों रोक रही हो? रातोंरात नयन सलिल से भींगा हुआ तुम्हारा यह बिस्तर का छोर जिसे तुमने धूप में डाला है, वही तुम्हारी दशा कहे दे रहा है।"

---

(१) सदुक्तिक: २।२५।१
(२) सूक्तिमुक्तावली ४४।८
(३) शार्ङ्गधर पद्धति, १०९५,

इनके साथ ही हम पूर्वराग से विधुरा राधिका के चित्र क भी स्मरण कर सकते हैं—

निशसि नेहारसि फुटल कदम्ब ।
करतले सघन वयन अवलम्ब ॥
खेने तनु मोड़सि करि कत भंग ।
अविरल पुलक-मुकुले भरु अंग ॥

:o: :o: :o:

भाव कि गोपसि गोपत ना रहइ ।
मरमक वेदन वदन सब कहइ ॥
यतने निवारसि नयनक लोर ।
गदगद शबदे कहसि आध बोल ॥
आन छले अंगन आन छले पंथ ।
सघने गतागति करसि एकन्त ॥
दूरे रहु गौरव गुरुजन लाज ।
गोविन्द दास कह पड़ल अकाज ॥

फिर— कि तुहुँ भावसि रहसि एकान्त ।
झर झर लोचने हेरसि पंथ ॥
कह कह चम्पक-गोरी ।
काँपसि काहे सघन तनु मोड़ि ॥
घाम किरण बिनु घामयि अंग ।
ना जानिये काहुक प्रेम-तरंग ॥
जलधर देखि बहये घन श्वासे ।
बिशोयास करु राधामोहन दासे ॥

अथवा चण्डीदास का पदः—

ए सखि सुन्दरी कह कह मोय ।
काहे लागि तुया अंग अवश होय ॥
अधर काँपये तुया छल छल आँखि ।
काँपिये उठये तनु कंटक देखि ॥
मौन करिया तुमि किबा भाव मने ।
एक दिठि करि रह किसेर कारणे ॥ आदि ।

बलराम दास के एक पद में देखते हैं:—

शुनइते काणहि आनहि शुनत
बुझइते बुझइ आन।
पुछइते गदगद उत्तर ना निकसइ
कहइते सजल नयान।।
सखि हे, कि भेल ए वरनारी।
करहुँ कपोल थकित रहु झामरि
जनु धनहारि जुयारि।।
बिछरल हास रभस रस-चातुरी
बाउरि ननु भेल गोरि।
खने खने दीघ निशसि तनु मोड़इ
सघन भरमे भेलि भोरि।।
कातर-कातर नयने नेहारइ
कातर-कातर वाणी।
ना जानिये कोन दुखे दारुण वेदन
झर झर ए दुइ नयानि।।
घन घन नयने नीर भरि आग्रोत
घन घन अधरहिं काँप।
बलराम दास कह जानलु जग माह
प्रेमक विषम सन्ताप।।

हम इस पूर्वराग के विरह में देखते हैं कि—

त्वां चिन्तापरिकल्पितं सुभग सा संभाव्य रोमांचिता
शून्यालिंगनसंचलद्भुजयुगेनात्मानमालिंगति।
किंचान्यद्विरहव्यथाप्रशमनीं संप्राप्य मूर्च्छां चिरात्
प्रत्युज्जीवति कर्णमूलपतितैस्तन्नाममंत्राक्षरैः।।[1]

हे सुभग, चिन्तापरिकल्पित तुम्हें (उपस्थित) समझकर वह रोमांचित (बाला) आलिंगन के लिए शून्य में फैलाये हाथों से अपने को ही आलिंगन करती है; और क्या कहूँ, बहुत देर तक विरह-व्यथा को प्रशमन करने वाली मूर्च्छा को प्राप्त कर फिर कानों में तुम्हारे नाम के मंत्राक्षरों के पड़ते ही पुनर्जीवित हो उठती है।"

प्रिय के नाम कानों में पड़ते ही विरहिणी की सारी व्याधि, मूर्च्छा दूर हो जाती है यह बात केवल पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के वैष्णव साहित्य

(१) सूक्तिमुक्तावली, ४४।२३

में ही नहीं मिलती है। इसकी धारा बहुत पहले ही से प्रवाहित होती आ रही है। यही धारा परवर्ती काल के वैष्णव साहित्य में दिखाई पड़ती है—

गुरुजन अबुध मुगधमति परिजन
अलखित विषम वेयाधि।
कि करब धनि मनि मन्त्रमहौषधि
लोचने लागल समाधि॥
खेने खेने अंग भंग तनु मोड़इ
कहत भरममय वाणी॥
श्यामर नामे चमकि तनु झाँपइ
गोविन्ददास किये जानि॥

अथवा—तँहि एक सुचतुरि ताक श्रवण भरि
पुन पुन कहे तुवा नाम।
बहुखने सुन्दरी पाइ पराण फिरि
गदगद कहे श्याम श्याम॥
नामक अछु गुण ना सुनिए त्रिभुवन
मृतजन पुन कहे बात।
गोविन्द दास कह इह सब आन नह
जाई देखह मझु साथ॥

हमें मालूम है कि वैष्णव साहित्य को विरहिणी राधा का,

विरति आहारे राङा बास परे
जेमति योगिनी पारा॥

एक और पद में विरहिणी राधा का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

विरहे व्याकुल धनि किछूइ ना जाने।
आन-आन वरण हइल दिने दिने॥
कम्प पुलक स्वेद नयनहि धारा।
प्रणय-जड़िमा बहु भाव बिथारा॥
योगिनि जैछन ध्यानि-आकार।
डाकिले समति ना देइ दश बार॥
उनमत भाति धनि आछये निचले।
जड़िमा भरल हात पद नाहि चले॥[1]

(१) पदकल्पतरु, १८६४

राजशेखर द्वारा वर्णित विरहिणी भी इसी तरह की योगिनी है—

आहारे विरतिः समस्तविषयग्रामे निवृतिः परा
नासाग्रे नयनं यदेतदपरं यच्चैकतानं मनः ।
मौनं चेदमिदं च शून्यमखिलं यद्विश्वमाभाति ते
तद्ब्रूयाः सखि योगिनी किमसि भो किंवा वियोगिन्यसि ।।[1]

तुम्हारा भोजन न करना, सभी विषयों से परानिवृत्ति, तुम्हारे नेत्र नासाग्र हैं, मन एकतान है; यह तुम्हारा मौन, तुम्हें यह जो अखिल विश्व शून्य लग रहा है; हे सखि हमें बताओ, तो क्या तुम योगिनी हो या वियोगिनी (विरहिणी) हो।

लक्ष्मीधर कवि की भी इसी प्रकार की कविता मिलती है—

यद्दौर्बल्यं वपुषि महती सर्वतश्चास्पृहा य-
न्नासालक्ष्यं यदपि नयनं मौनमेकोन्ततो यत् ।
एकाधीनं कथयति मनस्तावदेषा दशा ते
कोऽसावेकः कथय सुमुखि ब्रह्म वा वल्लभो वा ।।[2]

'तुम्हारे शरीर में दुर्बलता है, सभी ओर से तुम्हारे अन्दर बड़ी अस्पृहा है, तुम्हारी आँखें नाक पर टिकी हुई हैं, तुम बिलकुल मौन हो, तुम्हारी यह दशा बतला रही है कि तुम्हारा मन एकाधीन है। वह एक कौन है, सुमखि, वही बतलाओ, वह ब्रह्म है या वल्लभ है?"

विरह से मृतप्राय नायिका की ओर से दूती नायक से कहती है—

नीरसं काष्ठमेवेदं ते सत्यं हृदयं यदि ।
तथापि दीयतां तस्यै गता सा दशमीं दशाम् ।।[3]

"तुम्हारा यह हृदय अगर सचमुच ही नीरस लकड़ी हो तो भी इसे (इस तरुणी को) दो, क्योंकि इसकी दशमी दशा (अर्थात् मृत्युतुल्य अवस्था) हो गई है।"

---

(१) कवीन्द्रवचनसमुच्चय में (४१६) कवि का नाम नहीं है; दूसरे संग्रहग्रन्थों में यह राजशेखर के नाम से मिलता है।

(२) कवीन्द्रवचनसमुच्चय, ४२८; सयुक्तिकः, २।२५।५

(३) सदुक्तिकः, २।३१।२

नायिका की तनुता की दशा का वर्णन करते हुए राजशेखर ने कहा है—

दोलालोलाः श्वसनमरुतश्चक्षुषी निर्झराभे
तस्याः शुष्यत्तगरसुमनःपाण्डुरा गण्डभित्तिः ।
तद्‌गात्राणां किमिव हि बहु ब्रूमहे दुर्बलत्वं
येषामग्रे प्रतिपदुदिता चन्द्रलेखाप्यतन्वी ॥[1]

"उसकी साँस झूले की तरह चंचल है, दोनों आँखें मानों दो निर्झर हैं, उसके गाल सूखे हुए तगरफूल की भाँति पीले हैं और उसके शरीरादि की दुर्बलता की बात अधिक क्या कहूँ उनके सामने प्रतिपदा की उदित चन्द्रलेखा[2] भी अतन्वी लगती है।"

प्राचीन प्रेम कविताओं के अन्दर प्रेमोद्वेग के बहुत से सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। एक श्लोक में हम देखते हैं—

सौधादुद्विजते त्यज्यत्युपवनं द्वेष्टि प्रभामैन्दवीं
द्वारात्त्रस्यति चित्रकेलिसदसो वेषं विषंमन्यते ।
आस्ते केवलमब्जिनीकिसलयप्रस्तारिशय्यातले
संकल्पोपनतत्वदाकृतिवशायत्तेन चित्तेन सा ॥[3]

"सौध में रहने में बेचैनी मालूम होती है और उपवन को भी छोड़ देती है, चन्द्र की किरणों से भी डाह करती है; चित्र-केलि-गृह के दरवाजे से मानों दूर हट जाती है, वेष-भूषा को ज़हर समझती है; वह केवल पद्म-किसलिय से रचित शय्या पर सोयी हुई हैं—संकल्प पर उपनत तुम्हारी आकृति के वशीभूत चित्त को लेकर।"

विषं चन्द्रालोकः कुमुदवनवातो हुतवहः
क्षतक्षारो हारः स खलु पुटपाको मलयजः ।
अये किंचिद्वक्रे त्वयि सुभग सर्वे कथममी
समं जातास्तस्यामहह विपरीतप्रकृतयः ॥[4]

"चन्द्रालोक विष है, कुमुद वन की हवा आग है, हार जले पर नमक की तरह है; और वह चन्दन पुटपाक के समान। हे सुभग, तुम कुछ टेढ़े हो गये हो तो क्या इसलिए उसके सामने सभी एक साथ विपरीत हो गये हैं।"

---

(१) सदुक्तिकः, २।३४।१
(२) तुलनीय—'प्रतिपद चाँद उदय यैछे यामिनी, इत्यादि, विद्यापति ।
(३) सदुक्तिकः, २।३५।१
(४) वही, २।३५।३

सदुक्तिकर्णामृत में धोयीक कविकृत इसी तरह का एक और श्लोक मिलता है—

हारं पाशवदाच्छिनत्ति दहनप्रायां न रत्नावलीं
धत्ते कण्टकशंकिनीव कलिकातल्पे न विश्राम्यति ।
स्वामिन् सम्प्रति सान्द्रचन्दनरसात् पंकादिवोद्वेगिनी
सा बाला विषवल्लरीवलयतो व्यालादिव त्रस्यति ।।[1]

इन सब के साथ जयदेव की "निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुवन्दति खेदमधीरम्" या "स्तनविनिहितमपि हारमुदारम् । सा मनुते कृश-तनुरिवभारम्" आदि को स्मरण किया जा सकता है । वड़ु चण्डीदास के कृष्ण-कीर्तन में जयदेव के अक्सर अनुवाद मिलते हैं; विद्यापति और पर-बर्ती काल के काव्यों में विविध प्रकार से इसका भावानुवाद या पुनरावृत्ति मिलती है ।

एक श्लोक में है—

न क्रीड़ागिरिकन्दरीषु रमते नोपैति वातायनं
दूराद्द्वेष्टि गुरून्निरस्यति लतागारे विहारस्पृहाम् (?) ।
आस्ते सुन्दर सा सखिप्रियगिरामाश्वासनैः केवलं
प्रत्याशां दधती तया च हृदयं तेनापि च त्वां पुनः ।।[2]

यहाँ देखते हैं कि 'सुन्दर' के सम्बन्ध में सखियों के प्रिय वाक्य के आश्वासन से ही सुन्दरी जीवन धारणा किए हुए है; वैष्णव कविता के अन्दर यह भाव राधा के विरह-प्रसंग में घूम-फिर कर बारबार दिखाई पड़ता है । हम यह देखते हैं कि उपर्युक्त श्लोकों के रचयिता भी धोयी (धोयीक ?) कवि और उमापति धर ये दोनों जयदेव के समसामयिक कवि थे ।

वैष्णव कविता में हम देखते हैं कि कवियों ने दारुण विरह के समय श्रीराधा के प्रति केवल सहानुभूति प्रकट करके ढाढ़स नहीं बँधाया है । आगा-पीछा किये बगैर वह परिजन, गुरुजन सखीजन किसी की भी परवाह न कर अज्ञातचरित्र कृष्ण से प्रेम करके वंचित हुई है, इसलिए सखियों से भी उसे थोड़ी-बहुत झिड़कियाँ सहनी पड़ी हैं । एक प्राचीन कविता में देखते हैं कि सखियाँ विरहिणी स्त्री को इस तरह से उलाहना

---

(१) **सदुक्तिक**:, २।३५।५
(२) **सदुक्ति**:, २।३५।४

देती हुई कह रही हैं,—तुम्हारे प्रेम करते समय जिन परिणामदर्शी परि-जनों ने बाधा दी है, उन्हें विषवत् देखा है; आगा पीछा सोचने वाली सखियों की बातों पर भी ध्यान नहीं दिया है। हे सरले, हाथों में चाँद सौंपकर मानो उस धूर्त ने तुम्हें वंचित किया है। अब क्यों रो रही हो, क्यों विषाद कर रही हो, क्यों निद्राहीन बन रही हो, क्यों कष्ट पा रही हो ?—

> दृष्टोऽयं विषवत् पुरा परिजनो दृष्टायतिर्वारयन्-
> पौर्वापौर्वविदां त्वया न हि कृताः कर्णे सखीनां गिरः।
> हस्ते चन्द्रमिवावतार्य सरले धूर्तेन धिग्वंचिता
> तत् किं रोदिषि किं विषीदसि किमुन्निद्रासि किं दूयसे ।।[१]

कवि विद्यापति का विरह-सम्बन्धी एक सुन्दर पद है—

> चिर चन्दन उर हार ना देल।
> सो अब नदि गिरि आँतर भेल।

यह एक प्राचीन संस्कृत श्लोक की छाया मात्र है—

> हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
> इदानीमावयोर्मध्ये सरित् सागरभूधराः ।।[२]

विद्यापति का नामांकित—

> शंख कर चूर वसन कर दूर तोड़ह गजमोति हार रे।
> पिया यदि तेजल कि काज शृंगारे यमुना सलिले सब डार रे।।

आदि से 'शार्ङ्गधर-पद्धति' में धृत नीचे लिखे श्लोक से मिलान किया जा सकता है।

> अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
> अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ।।[३]

---

(१) सदुक्तिकः, २।३६।१

(२) यह श्लोक दामोदर मिश्र रचित (?) 'महानाटक में मिलता है; 'सदुक्तिकर्णामृत' में यह श्लोक धर्मपाल के नाम से मिलता है। शार्ङ्ग-धर-पद्धति में कुछ पाठान्तर के साथ वाल्मीकि के नाम से मिलता है।

(३) १०७१, दामोदरगुप्त का। मम्मटभट्ट के 'काव्यप्रकाश' के अष्टम उल्लास में भी उद्धृत।

विद्यापति संस्कृत-साहित्य से भलीभाँति परिचित थे और उनके कितने ही पद विविध संस्कृत कविताओं की छाया लेकर रचे गये हैं, यह बात उनकी कविताओं पर विचार करने से स्पष्ट हो जाती है।

विद्यापति का पद—

कत न वेदन मोहि देसि मदना ।
हर नहि बला मोहि जुवति जना ॥
विभूति-भूषण नहि छान्दनक रेनू ।
बाघ छाल नहि मोरा नेतक वसनू ॥
नहि मोरा जटाभार चिकुरक वेणी ।
सुरसरि नहि मोरा कुसुमक सेणी ॥
चानन्दनक विन्दु मोरा नहि इन्दु छोटा ।
ललाट पावक नहि सिन्दूरक फोटा ॥
नहि मोरा कालकूट मृगमद चारु ।
फनिपति नहि मोरा मुकुता-हारु ॥

आदि नीचे लिखे जयदेव के 'गीतगोविन्द' के प्रसिद्ध श्लोक की छाया लिये हुए हैं इसमें सन्देह नहीं—

हृदि विसलताहारो नायं भुजंगमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः ।
मलयज रजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्याऽनंग क्रुधा किमु धावसि ॥[1]

जयदेव का यह श्लोक निश्चयालंकार की प्राचीन संस्कृत प्रसिद्ध का अनुसरण करते हुए लिखा गया है। इसे एक काव्यरीति कहा जा सकता है।[2]

---

(१) गीतगोविन्द, ३।११

(२) जैसे कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में:—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटर्धारासारो न बाणपरम्परा-
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥

विद्यापति के पद में है—

अब सखि भमरा भेल परबस केहो न करए विचार।
भले भले वूझल अलपे चीन्हल हिया तसु कुलिसक सार॥
कमलिनी एड़ि केतकी गेला बहु सौरभ हेरि।
कण्टके पिड़ल कलेवर मुख माखल धूरि॥[१]

इसके साथ 'भ्रमराष्टक' के निम्नोद्धृत श्लोक का मिलान किया जा सकता है—

गन्ध्याढ्यासौ भुवनविदिता केतकी स्वर्णवर्णा
पद्मभ्रान्त्या क्षुधितमधुपः पुष्पमध्ये पपात।
अन्धीभूतः कुसुमरजसा कण्टकैश्छिन्न पक्षः
स्थातुं गन्तुं द्वयमपि सखे नैव शक्तो द्विरेफः॥

विद्यापति के पद में है—

विगलित चिकुर मिलित मुखमंडल चाँद बेढ़ल घनमाला।
मनिमय-कुण्डल स्रवन दुलित भेल धाम तिलक बहि गेला॥
सुन्दरि तुअ मुख मंगल मंगलदाता।
रति-विपरीत-समय जदि राखबि कि करबे हरि हर धाता॥

इसके साथ 'अमरुशतक' के नीचे लिखे श्लोक को मिलाया जा सकता है—

आलोलामलकावलिं विलुलितां बिभ्रच्चलत् कुण्डलम्
किंचिन्मृष्टविशेषकं तनुतरैः स्वेदाम्भसां शीकरैः।
तन्व्या यत् सुरतान्ततान्तनयनं वक्त्रं रतिव्यत्यये
तत् त्वां पातु चिराय किं हरिहरब्रह्मादिभिर्दैवतैः॥

विद्यापति के नामांकित कितने ही पद मिलते हैं। इन पदों में नायिका की जो उक्तियाँ मिलती हैं, उनकी राधा की उक्ति के तौर पर विद्यापति ने रचना की थी या नहीं, इसमें हमें घोर सन्देह है, जैसे नायिका और सखी की उक्ति—प्रयुक्ति—

'दूति स्वरूप कहबि तुहूँ मोहे।
मुञि निजकाजे साजि तुया भूखन विरचि पठावोल तोहे॥
मुखज ताम्बूल देइ अधर सुरंग लेइ सो काहे भेल धुमेला।'
'तुया गुण कहइते रसना फिराइले ततिहुँ मलिन भै गेला॥' इत्यादि[२]

(१) खगेन्द्रनाथ मित्र का संस्करण; ४२६।
(२) पद नम्बर ८४५।

अथवा—

हम जुवति पति गेलाह् विदेस ।
लग नहि बसए पड़ोसियाक लस ।।
सासु दोसरि किछुओ नहि् जान ।
आँख रतौंधि सुनए नहि् कान ।।
जागह् पथिक जाह जनु भोर ।
राति अँधार गाम बड़ चोर ।।[१]

इन सबके साथ संस्कृत साहित्य की एतज्जातीय प्रचुर कविताओं का अक्षरशः इतना मेल है कि इस बात को सिद्ध करने के लिए संस्कृत की और पक्तियों को उद्धृत कर दिखाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

केवल राधाकृष्ण विषयक नहीं, गौरांग विषयक पदों के अन्दर भी वर्णन में संस्कृत कविता से मेल दिखाई पड़ता है। दृष्टान्त के लिए हम गोविन्द दास के एक प्रसिद्ध पद का उल्लेख कर सकते हैं। विशुद्ध सात्विक भाव से आविष्ट महाप्रभु के पुलकित देह का वर्णन करते हुए गोविन्ददास के एक प्रसिद्ध पद में कहा गया है—

नीरद नयने नीर घन सिंचने पुलक मुकुल अवलम्ब ।
स्वेद-मकरन्द विन्दु-विन्दु चूयत विकसित भाव-कदम्ब ।।

भाव-पुलकित तन से घोर वर्षा के पुष्पित कदम्ब-तरु की तुलना हमें भवभूति के उत्तर-रामचरित नाटक में भी मिलती है। वहाँ प्रिय के स्पर्श-सुख से सीता के स्वेदयुक्त, रोमांचित और कम्पित देह की मरुत्-आन्दोलित नववर्षा से सिक्त स्फुटकोरक-कदम्ब-शाखा से तुलना की गई है—

सस्वेदरोमाञ्चितकम्पितांगी जाता प्रियस्पर्शसुखेन वत्सा ।
मरुन्नवाम्भःप्रविधूतसिक्ता कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव ।।[२]

इसी प्रकार से राग, अनुराग, मिलन, प्रणय, मान-अभिमान, विरह, दिव्योन्माद आदि वैष्णव काव्य की सभी तरह की कविताओं का हम पूर्ववर्ती कविताओं से मिलान कर सकते हैं। इसके अन्दर से पहले की धारा की क्रम-परिणिति स्पष्ट हो उठती है। वैष्णव कविता में हम देखते हैं कि सखियाँ ही दूती बनकर राधा-कृष्ण के लीलारस को सर्वदा हास्य-परिहास, व्यंग-विद्रूप, सहानुभूति से पुष्ट बना रही हैं। दूती या सखीवाद भी वैष्णव साहित्य की कोई नई वस्तु नहीं है, यह शाश्वत

---

(१) देखिए पद १०१६—१०१९ और इसके परवर्ती पदों को।
(२) तृतीय अंक।

भारतीय रीति है। सारी प्रेम-कविताओं के अन्दर हम देखते हैं कि प्रमतरु के अंकुर को ये ही निरन्तर सींच कर मधुर से मधुरतम बना रही हैं। केवल वैष्णव कविता में ही नहीं, सभी जगह हम देखते हैं कि ये सखियाँ प्रेम में हिस्सेदार नहीं हैं, वे प्रेम को बनाने और बिगाड़ने तथा इसके अन्दर से अनन्त प्रेमरस का दूर से स्वाद लेने के लिए लालायित हैं। भारतीय साहित्य की इन्हीं सखियों को लेकर राधा-कृष्ण के प्रणय की लीला-सहचरी सखियों और इस सखी भाव की साधना की उत्पत्ति हुई है। प्रेम की क्रीड़ा में सखियों ने कृष्ण से राधा के पैर पकड़वाये हैं, यह भी कोई नई बात नहीं है, 'देहि पदपल्लव मुदारम्' भी भारतीय नायक का चिरन्तन अनुनय है। अमरुशतक के एक पद में हम देखते हैं—

सुतनु जहिहि मौनं पश्य पादानतं मां
न खलु तव कदाचित् कोप एवंविधोऽभूत्।
इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या
नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किंचित् ॥[१]

"हे सुतनु, अपना मौन छोड़ो, पदानत मेरी ओर देखो, तुम तो कभी ऐसा कोप नहीं करती थी। नाथ की इन बातों के कहने पर मुँह फेरकर किंचित् आमीलिताक्षी ने काफी आँसू बहाये—कुछ भी कह न सकी।" यहाँ नायक-नायिका दोनों ही की कमनीय प्रेम-दुर्बलता मधुर हो उठी है। मानिनी राधा की मर्मस्पर्शी खेदोक्तियों ने भी पहले की कविताओं में इसी तरह की भाषा पाई है। अमरु के एक श्लोक में देखते हैं कि अभिमानिनी नायिका नायक से कह रही है—

तथाऽभूदस्माकं प्रथममविभिन्ना तनुरियं
ततो नु त्वं प्रेयानहमपि हताशा प्रियतमा।
इदानीं नाथस्त्वं वयमपि कलत्रं किमपरं
मयाप्तं प्राणानां कुलिशकठिनानां फलमिदम् ॥[२]

"हमारा पहले ऐसा हुआ कि यह तन (तुम्हारे तन से) अभिन्न था। इसके बाद तुम हुए प्रेय, मैं हुई हताशा प्रियतमा; अब फिर तुम हुए नाथ, हम सभी हुईं तुम्हारी वनिता। प्राणों के कुलिश कठिन होने का यही फल मुझे मिला है।"

---

(१) कवीन्द्रवचनसमुच्चय, (कवि का नाम नहीं है), ३९१; सदुक्तिकः २।५०।५ सुभाषितावली, १६००; और भी बहुतेरे ग्रन्थों में यह श्लोक मिलता है।

(२) सदुक्तिकः २।४७।२

अचल कवि की मानिनी ने कहा है—

यदा त्वं चन्द्रोभूरविकलकलापेशलवपुस्तदार्द्रा
जानाहं शशधरमणीनां प्रकृतिभिः ।
इदानीमर्कस्त्वं खररुचिसमुत्सारितरसः
किरन्तो कोपाग्नीनहमपि रविग्रावघटिता ।।[1]

"तुम जब चन्द्र थे—(चन्द्रमा की भाँति) अविकल कला के द्वारा तुम्हारा वय पेशल था—तब मैं था चन्द्रकान्तमणि—चन्द्रकान्तमणि के स्वभाव के कारण तब मैं द्रवीभूत हो जाता था; अब जब तुम सूर्य हुए (तो) तेज किरणों के द्वारा ही अब तुम्हारा रस समुत्सारित होता है, इसीलिए मैं भी अब कोपाग्नि वर्षणकारिणी सूर्यकान्तमणि में रूपान्तरित हुई हूँ।"

इस मानिनी को समझाती हुई सखियों ने कहा है—

पाणौ शोणतले तनूदरि दरक्षामा कपोलस्थली-
विन्यस्ताञ्जनदिग्धलोचनजलैः किं म्लानिमानीयते ।
मुग्धे चुम्बतु नाम चंचलतया भृंगः क्वचित् कन्दली-
मुन्मीलन्नवमालतीपरिमलः किं तेन विस्मार्यते ।।[2]

"हे क्षीणमध्या सुन्दरि, रक्तवर्ण को हथेली पर रखते हुए किंचित् कृश तुम्हारे कपोल आँजन से मिले नयनजल से मलिन क्यों हो रहा है? हे मुग्धे, भृंग चपलता के कारण कभी कन्दत्मी के फूल का चुम्बन करता है, लेकिन इससे क्या वह खिले नवमालती फूल की सुगन्ध को भूल सकता है?"

अभिसार के एकाध पदों का पहले उल्लेख किया जा चुका है। रातभर जागकर अपने घर में अभिसार की साधना का सुन्दर वर्णन पहले किया जा चुका है। अभिसार के विविध और सुन्दर वर्णन इन संग्रह-ग्रंथों में पाये जाते हैं। वैष्णव कविता में जिस तरह देखते हैं कि घने अन्धकार में विघ्नबहुल दुर्गम पथ पर एकमात्र मदन को सहाय करके राधा 'एकलि कयल अभिसार', यहाँ भी उसी तरह मदन को सहाय करके अकेले अभिसार का वर्णन पा रहे हैं। एक श्लोक में अभिसारिणी ने प्रश्न किया है, "इस गहरी रात को हे करभोरु, तुम कहाँ जा रही हो?" अभिसारिणी ने उत्तर दिया, "प्राणों से भी अधिक प्रिय जो प्राणी है, वह जहाँ रहता है, वहीं जा रही हूँ। प्राणों से अधिक प्रिय होने के कारण प्राणों की

(१) वही, २।४७।५
(२) वही, २।४८।५

परवाह नहीं करके जा रही हूँ।" प्रश्न किया गया , "हे बाला, तुम्हें अकेले डर क्यों नहीं लग रहा है?" उत्तर मिला "क्यों, पुष्पितशर मदन मेरा सहाय है।"[१] फिर देखते हैं, जयदेव से लेकर विद्यापति, चंडीदास, ज्ञानदास, गोविन्ददास सभी वैष्णव कवियों के अन्दर अभिसार के कुछ साधारण कौशलों, और विशेष अवस्थाओं में अभिसार के कुछ विशेष कौशलों का वर्णन किया गया है। जयदेव में हम संक्षेप में देखते हैं—

मुखरमधीरं त्यज मंजीरं रिपुमिव केलिषु लोलम्।
चल सखि कुञ्जं सतिमिरपुञ्जं शीलय नीलनिचोलम्॥

इसका अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन हमें परवर्ती वैष्णव कविताओं में मिलता है, पूर्ववर्ती कविताओं में भी इसी कौशल का वर्णन किया गया है।[२] लक्ष्मणसेन का एक सुन्दर अभिसार-पद मिलता है।[३]

वैष्णव कविता में जिस प्रकार अभिसार के अनेक प्रकार के वर्णन हैं, उसी प्रकार 'सदुक्तिकर्णामृत' में दिवाभिसार, तिमिराभिसार, ज्योत्स्नाभिसार, दुर्दिनाभिसार आदि के पाँच-पाँच श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिस तरह गोविन्ददास के दिवसाभिसार-पद में हम देखते हैं—

---

(१) क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे
प्राणाधिको बसति यत्र जनः प्रियो मे।
एकाकिनी वद कथं न बिभेषि बाले
नन्वस्ति पुंखितशरो मदनः सहायः॥

'कवीन्द्रवचनसमुच्चय'; ५०६; यह श्लोक और भी कितने ही संग्रहों में कहीं कहीं (अमरु) के नाम से उद्धृत है।

(२) वस्त्रप्रोतदुरन्तनूपुरमुखाः संयम्य नीवीमणी–
नुद्गाढांशुकपल्लवेन निभृतं दत्ताभिसारक्रमाः।

कवीन्द्रवः ५२२, सदुक्तिकर्णामृत में भी उद्धृत है।

तुलनीय—मन्दं निधेहि चरणौ परिधेहि नीलं
वासः पिधेहि वलयावलिमञ्चलेन। इत्यादि।

—नाल का, सदुक्तिकः २।६१।२

उत्क्षिप्तं सखि वर्तिपूरितमुखं मूकीकृतं नूपुरं
काञ्चीदामनिवृत्तघर्घररवं क्षिप्तं दुकूलान्तरे।

—योगेश्वर का, सदुक्तिकः २।६१।३

(३) मुञ्चत्याभरणानि दीप्तमुखराण्युत्तंसमिन्दीवरैः। इत्यादि

सदुक्तिकः २।६१।५

गगनहिं निमगन दिनमणि-काँति ।
लखइ ना पारिये किये दिन राति ॥
ऐछन जलद करल आँधियार ।
नियड़हिं कोइ लखइ नाहि पार ॥
चलु गज-गामिनी हरि-अभिसार ।
गमन निरंकुश आरति बिथार ॥

उसी प्रकार 'सदुक्तिकर्णामृत' में उद्धृत सुभटकवि के एक श्लोक में देखते हैं—

अवलोक्य नर्तितशिखण्डिमण्डलै-
र्नवनीरदैर्निचूलितं नभस्तलम् ।
दिवसेऽपि वंजुलनिकुंज मित्वरी
विशतिस्म वल्लभवतंसितं रसात् ॥[१]

"मयूरमण्डल के नृत्य-प्रवर्तक नवीन मेघों से नभस्थल को आवृत देखकर अभिसारिका ने दिन को ही रस के वश में वल्लभभूषित वंजुल कुंज में प्रवेश किया।"[२]

तिमिराभिसार में जिस प्रकार देखते हैं कि राधा ने सब तरह से नील वेश में सजकर अंधकार के साथ अपने को मिला देना चाहा है,[३] उसी प्रकार ज्योत्स्नाभिसार में देखते हैं कि राधा अमल धवल वेश में अपने को ज्योत्स्ना से मिलाकर अभिसार कर रही है।

समुचित वेश करह वर चन्दन कपुरखचित करि अंग ।
दुग्ध-फेन-सित अम्बर पहिरह कुंजहि चलह निशंक ।
(गौरमोहन)

अथवा—

कुन्द कुमुद गजमोतिम हार ।
पहिरल हृदय झाँपि कुच-भार (कविशेखर)

---

(३) सदुक्तिक: २।६३।१

(१) दिवापि जलदोदयादुपचितान्धकारच्छटा इत्यादि । वही, २।६३।३

(२) मौलौ श्यामसरोजदाम नयनद्वन्द्वेऽञ्जनं । इत्यादि । वही, २।६४।२
वासो बर्हिणकण्ठमेदुरमुरो निष्पिष्टकस्तूरिका-
पत्रालीमयमिन्द्रनील वलयं । इत्यादि, वही, २।६४।३

प्राचीन कविता के अन्दर भी ठीक यही प्रथा या कलाकौशल मिलता है।[1] गोविन्ददास के एक प्रसिद्ध पद में मिलता है—

याहाँ पहुँ अरुण-चरणे चलि यात ।
ताहाँ ताहाँ धरणि हइये मझु गात ।।
यो सरोवरे पहुँ निति निति नाह ।
हाम भरि सलिल होइ तथि माह ।।
ए सखि विरह-मरण निरदन्द ।
ऐछने मिलइ यब गोकुलचन्द ।।
यो दरपणे पहुँ निज मुख चाह ।
मझु अंग ज्योति होइ तथि माह ।।
यो बीजने पहुँ बीजइ गात ।
मझु अंग ताहि होइ मृदु वात ।।
याहाँ पहुँ भरमइ जलधर श्याम ।
मझु अंग गगन होइ तछ ठाम ।
गोविन्ददास कह कांचन-गोरि ।
सो मरकत-तनु तोहे किये छोड़ि ।।

पूरा पद रूपगोस्वामी के 'उज्ज्वल-नीलमणि' में धृत नीचे उद्धृत प्राचीन श्लोक का भावानुवाद है—

पंचत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्ति स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयांगने
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ।।

राधा-प्रेम का अवलम्बन करके बारहवीं सदी से जो वैष्णव कविता लिखी गई है उससे बारहवीं सदी और उसके बहुत पहले की लिखी पार्थिव

(१) तुलनीय—मलयजपंकलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ।
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः
प्रियवसतिं व्रजन्ति सुखमेव मिथो निरस्तभियोऽभिसारिकाः।।
कवीन्द्रवचनसमुच्चय ५२५, कवि का नाम नहीं है, सदुक्तिकर्णामृत में (२।६५।२) बाण के नाम से ।
और भीः—मौलौ मौक्तिकदाम केतकदलं कर्णे स्फुटत्कैरवं
ताटंकः करिदन्तजः स्तनतटी कर्पूररेणूत्करा । इत्यादि
सदुक्तिकः २।६५।३

प्रेम-कविता में हमने जो मेल दिखाने की चेष्टा की वह राधावाद की उत्पत्ति और क्रमविकास के इतिहास में एक दिशा से विशेष तात्पर्यपूर्ण है। इसीलिए हमने कुछ विस्तृत विवेचन की अवतारणा की है। हमने देखा है कि बारहवीं सदी के जयदेव के अलावा दूसरे सभी कवियों की लिखी राधा-प्रेम की कविता और बारहवीं सदी के बहुत पहिले लिखी राधा-प्रेम की कविता समसामयिक पार्थिव प्रेम-कविता एक ही सुर में ग्रथित है। जयदेव से लेकर परवर्तीकाल की वैष्णव-कविता से भी भारतीय चिरप्रचलित पार्थिव प्रेम-कविता की धारा में गहरा मेल है। साहित्यिक पक्ष से विचार करने पर हम राधा के परिचय में कह सकते हैं कि राधा भारतीय कवि-मानसधृत नारी का ही एक विशेष रसमय विग्रह है। वैष्णव-साहित्य में जितने शृंगारों का वर्णन है, रसोद्गार, खंडिता, कलहान्तरिता आदि का जो वर्णन है, वह सारा का सारा भारतीय काव्य-साहित्य और रतिशास्त्र का अनुसरण करते हुए चलता है। प्राकृत रति का स्थूल सूक्ष्म नाना वैचित्र्यमय सु-निपुण वर्णन सर्वदा प्राकृत प्रेम के दृष्टान्त पर अप्राकृत प्रेम का एक आभास देने के लिए ही लिखा गया था, इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता। एसा प्रतीत होता कि—आरम्भ में यह भारतीय प्रेम-कविता की धारा के साथ अविछिन्न रूपमें ही निःसृत हुआ था पार्थक्य की रेखा तो खींची गई बहुत बाद में। परवर्ती काल में गौड़ीय गोस्वामियों द्वारा जब राधातत्त्व मजबूती से प्रतिष्ठित हो गया, तब भी साहित्य के अन्दर राधा अपनी छाया-सहचरी मानवी नारी को सोलहों आने नहीं छोड़ सकी। काया और छाया ने अबिनाबद्ध भाव से एक मिश्र-रूप की सृष्टि की है। गौड़ीय वैष्णव-साहित्य के विवेचन के प्रसंग में हम वंगीय राधा के मिश्ररूप का परिचय एक बार फिर देने की चेष्टा करेंगे।

अष्टम अध्याय

धर्म और दर्शन में राधा

बारहवीं सदी में धर्ममत से मिली-जुली हुई श्रीराधा की जो प्रतिष्ठा हम ऊपर देख आए हैं, उससे किसी स्पष्ट दार्शनिक मतवाद का मिश्रण नहीं है, अर्थात् राधा तब तक किसी विशेष दार्शनिक तत्व का विग्रह नहीं है। लेकिन बारहवीं सदी के इस साहित्य में—विशेष करके लीलाशुक के 'कृष्णकर्णामृत' और जयदेव के गीतगोविन्द काव्य में हम एक चीज की प्रधानता पाते हैं, वह है लीलावाद की प्रधानता। परवर्ती काल के राधा-वाद के विवेचन के प्रसंग में हम देखेंगे कि इस लीलावाद की प्रतिष्ठा और प्रधानता के साथ राधावाद की प्रतिष्ठा और प्रधानता अभिन्नरूप से युक्त है। हम ऊपर पूर्ववर्ती काल के जितने प्रकार के वैष्णव तथा शैवशाक्त शक्तिवाद पर विचार कर आये हैं, उसके अन्दर देखा है कि लीला बहिःसृष्टि को लेकर होती है, स्वरूपशक्ति से लीला का वैसा कोई सम्बन्ध नहीं है। पुराणादि में लक्ष्मी से लीला-विलास का आभास कहीं-कहीं मिलता है। श्री सम्प्रदाय के अन्दर इस लीला-विलास के पक्ष को और भी प्रधानता मिली है। बारहवीं सदी में आकर हमने देखा कि स्वरूप-शक्ति राधा और कृष्ण में जो अप्राकृत लीला है, उसी के आस्वादन को ही वैष्णवों में 'चरम प्राप्ति' के तौर पर स्वीकार किया गया है। जयदेव के समय किसी दार्शनिक मतवाद के प्रभाव में परिकरवाद की प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि न रहने पर भी देखते हैं कि राधा-कृष्ण के युगल से अपने को जरा दूर हटा कर लीला-दर्शन, लीला-आस्वादन और लीला का जय-गान—यही मानो भक्त के लिए चरम प्रार्थनीय वस्तु हो गई है। गीतगोविन्द के श्लोक में जो देखा—

राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः।

धर्म के पक्ष में यही मानो गीतगोविन्द का मूल स्वर है। सभी जगह इस विचित्र लीला की महिमा गाई गई है। इस लीला की विशेषता है लीलामय का माधुर्य। जयदेव ने कृष्ण के मधुरिपु, कंसद्विष् आदि विशे-षणों का बहुत बार व्यवहार किया है, लेकिन ऐसा मानो उनकी व्रज-माधुरी को एक द्वन्द के अन्दर से समधिक प्रस्फुटित करने के निमित्त ही

किया गया है। हम पहले कह आये हैं कि मधुर रस का घनीभूत विग्रह ही राधा है; अतएव राधा का आविर्भाव और प्रतिष्ठा सभी जगह मधुर रस के आधार पर ही हुई है। इस युग के वैष्णव साहित्य के हमने जो दो विशेष लक्षण बताये अर्थात् लीलावाद और मधुररस की प्रधानता की बात, ये दोनों लक्षण विल्वमंगल ठाकुर के 'कृष्ण-कर्णामृत' ग्रंथ में भी सुस्पष्ट हैं। विल्वमंगल ठाकुर का वह 'लीलाशुक' विशेषण विशेष रूप से लक्षणीय है। साधक कवि का परिचय है—मधुर वृन्दावन-लीला को निकट के कदम्ब से देखना और आस्वादन करना और शुक की भाँति मधुर काव्य-काकली में उसी के माधुर्य का वर्णन करना। इस माधुर्यरूपिणी देवी के आविर्भाव से भगवान् श्रीकृष्ण का सब कुछ ही मधुर है। यहाँ कृष्ण चिरकिशोर हैं। यह किशोरावस्था 'कामावतारांकुरम्' और 'मधुरिमस्वाराज्यम्' है। यहाँ 'कमला' भी इस अनन्त-माधुर्य की ही विषय मात्र है। इसीलिए हम यह प्रार्थना देखते हैं—

तरुणारुण-करुणामय-विपुलायत-नयनं
कमलाकुच-कलशीभर-विपुलीकृतपुलकम् ।
मुरलीरवतरलीकृत-मुनिमानसनलिनं
मम खेलतु मदचेतसि मधुराधरममृतम् ।।१८

इसी माधुर्य रस के सिन्धु श्रीकृष्ण के—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोर्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम् ।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ।।९२

चैतन्य के पूर्ववर्ती युग में दो और कवियों ने राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में कविता लिखकर प्रसिद्धि पाई थी; वे हैं विद्यापति और चण्डीदास। इनकी कविता में प्रकाशित राधा-तत्त्व गौड़ीय वैष्णव धर्म में प्रचारित राधा-तत्त्व पर विचार करने से सुस्पष्ट हो जायगा। इसलिये इस विषय पर हम अलग से विचार नहीं कर रहे हैं।

गौड़ीय-सम्प्रदाय के पहले निम्बार्क-सम्प्रदाय के अन्दर हम श्रीराधा को कृष्ण के साथ अभिन्नभाव से उपास्य के रूप में स्वीकृत होते देखते हैं। निम्बार्क तैलंग ब्राह्मण थे। उनके काल के बारे में बहुत मतभेद दिखाई पड़ता है। वे रामानुजाचार्य के बाद हुए थे। चार प्रसिद्ध-वैष्णव सम्प्र-दायों में अन्यतम यह निम्बार्क सम्प्रदाय सनकादि-सम्प्रदाय या हंस-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। निम्बार्क दाक्षिणात्य ब्राह्मण होने पर भी वृन्दावन में रहते थे और बहुत सम्भव है कि इसीलिए कृष्णशक्ति के रूप में लक्ष्मी

श्री, नीला आदि की जगह गोपिनी राधा को ही निम्बार्क ने प्रधानता दी है। भगवान् श्रीकृष्ण को ही निम्बार्क ने परमब्रह्म स्वीकार किया है। इस परमब्रह्म श्रीकृष्ण की विविध शक्तियों के सम्बन्ध में निम्बार्क ने अपने प्रसिद्ध ब्रह्मसूत्र के भाष्य 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' नामक ग्रंथ में जो कुछ लिखा है, वह एक प्रकार से रामानुजाचार्य के विवेचन के ही अनुरूप है। पूर्ववर्तियों की तरह निम्बार्क सम्प्रदाय के लेखकों ने भी श्रीकृष्ण भगवान् को 'रमापति', 'श्रीपति', 'रमामानसहंस' आदि के रूप में विशेषित किया है। लेकिन श्रीकृष्ण के वामांग-विहारिणी के रूप में प्रेम-प्रदायिनी राधा की श्रेष्ठता ही प्रतिपादित की गई है। निम्बार्करचित 'दशश्लोकी' के पाँचवें श्लोक में हम देखते हैं—

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ।।

"वृषभानुनन्दिनी (राधिका) देवी को स्मरण करता हूँ—जो अनुरूप-सौभगा के रूप में (कृष्ण के) बायें अंग में आनन्द से विराज रही हैं; जो हजार सखियों के द्वारा सदा परिसेवित होती हैं और जो सारी मनः-कामनाएँ पूरी करती हैं।" पुरुषोत्तमाचार्य ने 'दशश्लोकी' पर 'वेदान्तरत्न-मंजूषा" नामक जो भाष्य लिखा है, उसमें उन्होंने वृषभानुसुता राधिका के "अनुरूपसौभगा', 'देवी', 'सकलेष्टकामदा' आदि विशेषणों की जिस प्रकार से श्रुति-पुराणादि का उल्लेख करके व्याख्या की है, वह यामुनाचार्य के 'चतुः श्लोकी' या रामानुजाचार्य के 'गद्यत्रय' के लक्ष्मी के लिए प्रयुक्त इस प्रकार के विशेषणों में वेंकटनाथ कृत व्याख्या के ही अनुरूप है।[1] यहाँ वृष-भानु-नन्दिनी राधा पंचरात्र या पुराणादि में वर्णित विष्णु की 'अनपायिनी' शक्तिमात्र हैं। राधा-कृष्ण की युगलमूर्ति जिन हजार सखियों के द्वारा सदा परिसेवित होती है, इसकी व्याख्या करते हुए पुरुषोत्तमाचार्य ने एक मार्के की बात कही है। ये स्वपरिचारिका सखियाँ भक्त स्थानीय हैं; ये भक्तगण 'सकलेष्टकाम' की पूर्ति के लिए इस युगल की सदा सेवा करते हैं। श्लोकोक्त 'मुदा' पद राधिका की 'निरतिशय प्रेमानन्दमूर्ति' का द्योतक है। 'विराजमाना' पद का तात्पर्य है स्वरूप के रूप में और विग्रह में राधिका प्रेम कारुण्य आदि गुण से शोभित या दीप्तिमती हैं। राधा की यह नित्यप्रेमानन्द-स्वरूपता कृष्ण के साथ 'अन्योऽन्यसाहित्यविधानपर' नित्य सम्बन्ध और प्रेमोत्कर्ष को लक्ष्य करके ही 'ऋक्परिशिष्ट' का वचन

---

(१) इस ग्रन्थ का ९२–९३ पृष्ठ देखिए।

उद्धृत किया गया है—'राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका'। इस राधातत्त्व और लक्ष्मीतत्त्व के अन्दर भी एक स्पष्ट अन्तर का उल्लेख पाते हैं। लक्ष्मी का ऐश्वर्याधिष्ठातृत्व है, व्रजस्त्री का प्रेमाधिष्ठातृत्व है, व्रजस्त्री का प्रेमाधिष्ठातृत्व और उसके चरण के स्मरण में ही प्रेमदातृत्व है, इसीलिए लक्ष्मी की अपेक्षा इस व्रजवधू की ही प्रधानता मानी गई है।

निम्बार्काचार्य ने अपने 'प्रातःस्मरणस्त्रोत्र' में राधाकृष्ण के बारे में लिखी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'कृष्णाष्टक', 'राधाष्टक' आदि अष्टकों की भी रचना की थी।

सोलहवीं शताब्दी में वृन्दावन में गौड़ीय वैष्णव गोस्वामियों के विवेचन में ही राधातत्त्व का पूर्ण विकास हुआ। यहाँ गौड़ीय वैष्णव गोस्वामियों से गौड़ीय बैष्णव मतवाद अवलम्बी वैष्णव गोस्वामियों को समझना चाहिये, केवल गौड़ देश के वैष्णव गोस्वामियों को ही नहीं समझना चाहिए, क्योंकि षड्गोस्वामियों में प्रसिद्ध गोस्वामी गोपाल भट्ट दक्षिण देशवासी थे। 'चैतन्य-चरितामृत' में चैतन्यदेव से गोदावरी के तीर पर भक्त राय रामानन्द से राधातत्व के बारे में जो गुह्य और विस्तृत विचार हुआ था, उसे देखने से लगता है कि गौड़ीय गोस्वामियों द्वारा प्रचारित यह राधातत्व-ज्ञान रामानन्द में अर्थात् दक्षिणदेशीय वैष्णवों में प्रचलित था। लीलाशुक के 'कृष्णकर्णामृत' में भी इस विश्वास को पुष्ट करने की सामग्री मिलती है। लेकिन भक्त-चूड़ामणि कृष्णदास कविराज के दिये हुए विवरण को कहाँ तक सच माना जा सकता है, यह विचारणीय है। लेकिन इस प्रसंग में एक और तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने लायक है। श्रीमान् महाप्रभु के राधाभाव नामक जिस अवस्था की बात हम जानते हैं उसका मधुरतम परिचय हमें 'चैतन्यचरितामृत' ग्रंथ में मिलता है। 'चैतन्यचरितामृत' में वर्णित महाप्रभु के सारे 'दिव्यभाव' और भावान्तरों को देखने पर पता चलता है कि महाप्रभु के राधा-भाव का सम्यक् विकास दाक्षिणात्य भ्रमण के बाद ही हुआ था। दाक्षिणात्य भ्रमण के काल में महाप्रभु की बहुतेरे दक्षिणदेशीय वैष्णवों से मुलाकात हुई थी और निराले में इष्टगोष्ठी हुई थी। राय रामानन्द के साथ ही इस निभृततत्वालोचना और रसास्वादन की पराकाष्ठा दिखायी पड़ती है। इसके बाद से ही महाप्रभु का भावान्तर लक्षणीय है। इसके बाद से हम उन्हें सदा राधाभाव में लीन पाते हैं। अतएव महाप्रभु के इस राधाभाव के विकास में राय रामानन्दादि दाक्षिणात्य वैष्णवों का प्रभाव रहना असम्भव नहीं है। यह बात जरूर है कि रामानन्द के मुँह से 'चैतन्यचरितामृत' में कविराज गोस्वामी ने जिन

साध्य-साधन-तत्त्व, पंचरस-तत्त्व और राधातत्त्व पर विचार विमर्श दिया है, उसे देखने से संशय होता है कि, गौड़ीय वैष्णव धर्म के प्रसिद्ध तत्त्वों को ही शायद कविराज गोस्वामी ने राय रामानन्द के मुँह में डाल दिया है। ऐतिहासिक दृष्टि से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि गौड़ीय वैष्णवों द्वारा प्रचारित राधातत्त्व के अनुरूप तत्त्व अस्फुट आकार में दक्षिण देश में भी प्रचारित था, विचार-विमर्श के समय इसीलिए चैतन्य और रामानन्द में गहरी एकता दिखाई पड़ती थी।

मुख्यतः सनातन, रूप और जीवगोस्वामी की संस्कृत में लिखी विविध पुस्तकों के आधार पर ही गौड़ीय वैष्णवों का दार्शनिक मत बना है। इनमें जीवगोस्वामी की रचनाओं के अन्दर ही श्रीराधा की दार्शनिक प्रतिष्ठा है। इसलिए जीवगोस्वामी के सनातन और रूप, इन दोनों बड़े पितृव्यों का अनुगामी होने पर भी हम पहले जीवगोस्वामी का अनुसरण करके राधातत्त्व को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करेंगे। 'श्रीकृष्ण-सन्दर्भ' और 'प्रीति-सन्दर्भ' में जीवगोस्वामी ने राधातत्त्व पर जो विचार किया है, वह बहुत कुछ रूपगोस्वामी के 'संक्षेप-भागवतामृत' और 'उज्ज्वल-नीलमणि' का अनुसरण करके लिखा गया है; लेकिन रूपगोस्वामी के ग्रंथ में जिन बातों का संक्षेप में उल्लेख है, जीवगोस्वामी ने उन्हें अधिक विस्तृत दार्शनिक मतवाद के अन्दर ग्रहण करने की चेष्टा की है। इसीलिए तत्त्वा-लोचन के लिए हम प्रधानतः जीवगोस्वामी के 'षट्-सन्दर्भ' को ही ले रहे हैं। यह दार्शनिक तत्त्व साहित्य और रसशास्त्र के अन्दर किस प्रकार समधिक परिपुष्ट हुआ है, इस पर हम आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

जीवगोस्वामी कृत 'तत्त्व-सन्दर्भ', 'भगवत्-सन्दर्भ', 'परमात्म-सन्दर्भ', 'कृष्ण-सन्दर्भ', 'भक्ति-सन्दर्भ' और 'प्रीति-सन्दर्भ' इन छः संदर्भों में ही गौड़ीय वैष्णवों के सारे मतवाद तथा राधावाद की दार्शनिक प्रतिष्ठा है। इन 'षट्-सन्दर्भों' में विवेचित मतामत कितना जीवगोस्वामी का है, इसका निर्णय करना भी कठिन है। प्रत्येक सन्दर्भ के विवेचन के पूर्व जीवगोस्वामी ने ग्रंथ के सम्बन्ध में जो संक्षिप्त भूमिका दी है, उसे पढ़ने से पता चलता है कि इस ग्रंथ में आलोचित तथ्यों को गोस्वामी गोपाल भट्ट ने ही पहले संग्रह किया था, लेकिन स्वयं इसका इतना उपयोग नहीं किया। इन बिखरे तथ्यों का भली-भाँति संकलन करके एक दार्शनिक तत्त्वालोचना के तौर पर प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा और उपदेश जीवगोस्वामी ने अपने ज्येष्ठतात-द्वय रूप और सनातन से पाया था। इसलिए यहाँ गोपाल भट्ट की

देन कितनी है और जीवगोस्वामी की देन कितनी है, इसका स्पष्ट निर्धारण संभव नहीं है।[१]

इस प्रसंग में दो-एक बातों को याद रखना चाहिये, 'षट्-संदर्भ' में जीवगोस्वामी (गोपालभट्ट की हो, चाहे जीवगोस्वामी की हो) के अपने जोरदार विचार नहीं हैं। एक प्रकार से हम यहाँ पुराणादि के मतों का एक सार-संकलन और उसके स्थलविशेष की कुछ-कुछ नई व्याख्या पाते हैं। इसीलिए जीवगोस्वामी ने अपने विवेचन के प्रारम्भ में ही शास्त्र के तौर पर पुराणों की श्रेष्ठ प्रामाणिकता प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इन पुराणों में श्रीभागवत-पुराण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। जीवगोस्वामी का सारा विवेचन मुख्यतः भागवत-पुराण का अवलम्बन करके ही किया गया है। भागवत-पुराण की व्याख्या के बारे में जीव-गोस्वामी ने अपने पूर्वाचार्य श्रीधर-स्वामी का ही सर्वत्र अनुसरण किया है। इसीलिए हम देखेंगे कि जीवगोस्वामी ने अपने संदर्भों में जिन तत्त्वों की अवतारणा की है, उनमें प्रायः सभी पूर्ववर्तियों के विवेचन में मिलते हैं। उन्होंने जहाँ जितना विवेचन अपनी ओर से किया है, उसे भी पुराणों की प्रामाणिकता से ही सुप्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। अतएव शक्ति-तत्त्वादि के क्षेत्र में हम देखेंगे कि हमारे पूर्ववर्णित पुराणादि की ही भाँति घुमाफिरा कर पुराने प्रसंग नये आलोक में दिखाई पड़ रहे हैं। पूर्ववर्ती मतामत या मतसादृश्य के बारे में हम आगे विस्तारपूर्वक विवेचन करना चाहेंगे।

गौड़ीय गोस्वामियों द्वारा व्याख्यात राधा-तत्त्व को भलीभाँति समझने के लिए हमें पहले गौड़ीय वैष्णवों के शक्तितत्त्व को भलीभाँति समझना होगा; और इस शक्तितत्त्व को समझने के लिए गोस्वामियों द्वारा व्याख्यात ब्रह्मतत्त्व, परमात्मतत्त्व और भगवत्तत्त्व को समझ लेना होगा। श्री-मद्भागवत में ही हमें इस परमतत्त्व के निम्नलिखित तीन रूप या स्तर के आभास मिलते हैं।

---

(१) **जयतां मथुराभूमौ श्रीलरूपसनातनौ ।**
यौ विलेखयतस्तत्त्वज्ञापकौ पुस्तिकामिमाम् ।।
कोऽपि तद्बान्धवो भट्टो दक्षिणद्विजवंशजः ।
विविच्य व्यालिखद् ग्रन्थं लिखिताद्वृद्धवैष्णवैः ।।
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्तव्युत्क्रान्तखण्डितम् ।
पर्यालोच्याथ पर्यायं कृत्वा लिखति जीवकः ।।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।

जो अद्वय ज्ञान है, उसी को तत्त्व जानने वाले तत्त्व कहते हैं; वह अद्वय-ज्ञानतत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् कहलाता है। इसमें ब्रह्मतत्त्व है परमतत्त्व की सब प्रकार की शक्ति आदि की विकासरहित निर्विशेष अवस्था; ब्रह्म के अन्दर ही शक्ति आदि का न्यूनतम विकास होता है; सर्वोत्तम अभिव्यक्ति जो तत्त्व है, वही पूर्णभगवत्तत्त्व है। जिस तत्त्व के अन्दर शक्ति का पूर्णतम विकास होता है वह जिस तत्त्व के अन्दर शक्ति का न्यूनतम विकास होता है, उससे श्रेष्ठ है। इसीलिए गौड़ीय मतानुसार ब्रह्म और भगवान् अंश और अंशी समझे जाते हैं। ब्रह्मतत्त्व भगवत्तत्त्व के अन्तर्गत एक तत्त्व है। इसीलिए उपनिषदादि में वर्णित ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् की 'तनुभा'—पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण की अंगच्छटा के तौर पर ही वर्णित होते हैं।[1] इसीलिए गीता में पुरुषोत्तम भगवान् ने कहा है—"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्—'मैं ही ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ।' इस ब्रह्मत्त्व के बारे में कहा गया है कि, मुनि-ऋषिगण अपनी साधना के द्वारा 'तत्-स्वरूपता' को प्राप्त होने पर भी उस 'तत्-स्वरूपता' के अन्दर जो स्वरूप-शक्ति की विचित्र लीला है, उसे ग्रहण नहीं कर सके। अतएव वे सामान्य भाव से लक्षित परमतत्त्व को 'अविविक्त-शक्ति-शक्तिमत्ता-भेदतया'—अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् को अलग ग्रहण नहीं करके पूरी तरह अभेदरूप में ग्रहण किया है। यह सामान्य भाव से लक्षित अभेदरूप में प्रतिपाद्यमान तत्त्व ही ब्रह्मतत्त्व है। वही तत्त्व फिर अपनी स्वरूपभूता विचित्रशक्ति के बल पर जब एक 'विशेष' रूप धारण करता है और अन्यान्य शक्ति-समूहों के (अर्थात् स्वरूपभूता नहीं है ऐसी जीवशक्ति और मायाशक्ति आदि के) मूलाश्रय के रूप में अवस्थान करता है—यही नहीं, उनकी स्वरूपभूता आनन्दशक्ति भक्तिरूप धारण करके जिन भागवत परमहंसों

---

(१) **यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्यस्य तनुभा इत्यादि ।**
ब्रह्म अंगकान्ति ताँर विविशेष प्रकाशे ।
सूर्य येन चर्म्मचक्षे ज्योतिमय भासे ।।
चरितामृत (मध्य, २० अध्याय)
ताहार अङ्गेर शुद्ध किरणमण्डल ।
उपनिषद् कहे तारे ब्रह्म सुनिर्म्मल ।।
चर्म्मचक्षे देखे यैछे सूर्य्य निर्व्विशेष । इत्यादि ।—वही
(आदि २)

को परिभावित किया है—उनकी अन्तरिन्द्रिय और बहिरिन्द्रिय में जो आनन्दमय के रूप में परिस्फुरित होते हैं—जो अपनी विविध विचित्र शक्ति और शक्तिमान् इन दोनों भेदों में प्रतिपद्यमान हैं—वही भगवान् कहलाने के योग्य हैं।[1] अतएव हम देखते हैं कि आनन्दमात्र के रूप में वही एक मात्र विशेष्य हैं और दूसरी सारी शक्तियाँ उनका विशेषण हैं। इस अनन्तशक्ति-विशेषण के द्वारा जो विशिष्ट हैं, वही भगवान् हैं। ऐसी विशेषता प्राप्त होने के कारण पूर्णाविर्भावहेतु यही भगवान् ही अखंड-तत्त्व हैं, और ब्रह्म 'अप्रकटित-वैशिष्ट्याकार'हेतु उसी भगवान् के ही 'असम्यगाविर्भाव' हैं। जीवगोस्वामी ने 'भगवत्-सन्दर्भ' के सारे विवेचनों के अन्त में भगवान् का एक सुन्दर संक्षिप्त वर्णन दिया है। इस वर्णन में कहा गया है कि 'जो सच्चिदानन्दैकरूप, स्वरूपभूत-अचिंत्यविचित्र-अनन्तशक्तियुक्त हैं, जो धर्म होकर भी धर्मी हैं, निर्भेद होकर भी भेदयुक्त हैं, अरूपी होकर भी रूपी हैं, व्यापक होकर भी परिच्छिन्न हैं, जो परस्पर विरोधी अनन्त गुणों के निधि हैं; जो स्थूलसूक्ष्मविलक्षण स्वप्रकाशाखंड स्वरूपभूत श्रीविग्रह हैं, स्वानुरूपा स्वशक्ति की आविर्भावलक्षणा लक्ष्मी के द्वारा जिनका वामांश रंजित है, जो स्वप्रभाविशेषाकार-रूप परिच्छद और परिकर-सहित निज धाम में विराजमान हैं, जो स्वरूपशक्ति के विलासरूप अद्भुतगुणलीलादि द्वारा आत्माराम मुनिगणों के चित्त को भी लीलारस से चमत्कृत करते हैं, जो स्वयं सामान्य प्रकाशाकार में ब्रह्मतत्त्व के रूप में अवस्थित हैं, जो जीवाख्यतटस्थाशक्ति के और जगत्-प्रपंच के मूलीभूत मायाशक्ति के आश्रय हैं, वही भगवान् हैं।" "भग" शब्द का अर्थ है ऐश्वर्य; विविध विचित्र शक्ति ही सारे ऐश्वर्यों को देती है, इसीलिए पूर्ण विकसित शक्तिमान् पुरुष ही भगवान् है।

(१) **तदेकमेवाखण्डानन्दस्वरूपं तत्त्वं थुत्कृतपारमेष्ठ्यादिकानन्दसमुदयानां परमहंसानां साधनवशात् तादात्म्यापन्ने सत्यामपि तदीयस्वरूपशक्ति-वैचित्र्यां तद्ग्रहणासमर्थे चेतसि यथा सामान्यतो लक्षितं तथैव स्फुरद् वा तद्वदेवाविविक्तशक्तिशक्तिमत्ताभेदतया प्रतिपाद्यमानं वा ब्रह्मेति शब्द्यते। अथ तदेकं तत्त्वं स्वरूपभूतयैव शक्त्या कमपि विशेषं धर्तुं परासामपि शक्तीनां मूलाश्रयरूपं तदनुभवानन्दसन्दोहरन्तर्भावितताद‍ृशब्रह्मानन्दानां भागवतपरमहंसानां तथानुभवैकसाधकतम-तदीयस्वरूपानन्द-शक्तिविशेषात्मक-भक्तिभावितेष्वन्तर्बहिर-पीन्द्रियेषु परिस्फुरद् वा तद्वदेव विविक्तताद‍ृशशक्तिशक्तिमत्ताभेदेन प्रतिपाद्यमानं वा भगवानिति शब्द्यते।**

—'भगवत्-सन्दर्भ'।

यही भगवान् जीव और जड़ जगत् रूप प्रकृति के संस्रव में परमात्मा के रूप में प्रतिभात होते हैं। चित्-अचित् के अन्तर्यामी के रूप में वही पुरुष हैं—वही कर्त्ता हैं। जो भगवान् हैं, वे केवल स्वरूप-शक्ति में ही विलास करते हैं, वे 'स्वरूपशक्त्येकविलासमय' हैं, अतएव विश्वप्रपंचादि मामलों में वे स्वयं अहेतु हैं, लेकिन जगत्प्रपंच के मामले में उनके स्वयं निरासक्त होने पर भी उनके अंशलक्षण परमात्मा-पुरुष ही प्रकृति-जीव-प्रवर्तक के रूप में सर्गस्थित्यादि के हेतु हुआ करते हैं। भगवान् के परमात्मा-रूप अंशपुरुष में ही जगत्-ब्रह्माण्ड स्थित है। गीता में भी कहा गया है, 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।' अतएव परमात्मा जीव और जगत् के हेतु-कर्त्ता हैं—जिन्होंने आत्मांशभूतजीव के अन्दर प्रवेश करके देहादि और देहादि-उपलक्षित तत्त्व-समूहों को संजीवित किया है, और उनकी प्रेरणा से प्रेरित होकर जीव और प्रधानादि सभी तत्त्व अपने अपने कार्य कर रहे हैं। यह परमात्मा सर्वजीवनियन्ता है; जीव में आत्मत्व है, उसीकी प्रतीक्षा में उसके नियन्ता का परमात्मत्व है; इसीलिए परमात्मा शब्द से बोध होता है कि वह जीव के ही सहयोगी हैं। संक्षेप में इस ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् के विवरण देते हुए जीवगोस्वामी ने कहा है, कि शक्तिसमह के द्वारा लक्षित धर्म के अतिरिक्त जो केवल ज्ञान है, वही ब्रह्म है, प्रचुर-चित्-शक्ति का अंशरूप जो जीवशक्ति है और दूसरी जो मायाशक्ति है—इन दोनों शक्तियों से युक्त जो पुरुष हैं, वही परमात्मा हैं, और जो परिपूर्ण सर्वशक्तियुक्त हैं वही भगवान् हैं।

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन तीनों तत्त्वों पर हमने ऊपर जो संक्षेप में विचार किया उससे पता चला कि शक्ति-प्रकाश के प्रकार-भेद और तारतम्य को लेकर एक ही अद्वय-अखंड परमतत्त्व की वे तीन विभिन्नावस्था हैं। इस परमतत्त्व के अन्दर जो अचिंत्य अनन्तशक्ति निहित है वह उपनिषदादि से लेकर (तुलनीय—'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' आदि) सभी शास्त्रों में मानी गई है। जिस दशा में इन शक्तियों का अस्तित्त्व और लीला-विचित्रता कुछ भी अनुभव में नहीं आती है, वही ब्रह्मावस्था है; और जो स्वरूपशक्ति के साथ प्रत्यक्ष रूप से लीलामग्न हैं, जीवशक्ति और मायाशक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट न होने पर भी उन शक्तियों के मूलाश्रय-स्वरूप शक्तियों के पूर्णतम विकास में लीलानन्दमय महैश्वर्यशाली पुरुषोत्तम हैं, वही भगवान् हैं और स्वरूपशक्ति से युक्त न रहकर जीवशक्ति और मायाशक्ति से प्रत्यक्ष सम्बन्धयुक्त तत्त्व ही परमात्मा है।

गौड़ीय वैष्णवों के मतानुसार पहले हम देखते हैं कि लीलामय भगवान्

की जो अचिन्त्य अनन्तशक्ति है, श्रुति-पुराणादि में व्याख्यात और प्रख्यात इस सत्य को बहुत अधिक प्रधानता दी गई है। भगवान् की इस अचिन्त्य अनन्तशक्ति को साधारणतः तीन हिस्सों में बाँटा गया है—अन्तरंगा स्वरूपशक्ति, तटस्था जीवशक्ति और बहिरंगा मायाशक्ति। शक्ति का यह त्रिधाभेद मुख्यतः विष्णु-पुराण के एक वचन पर ही आधारित है—जहाँ शक्ति को परा, क्षेत्रज्ञा और अविद्या कहा गया है।[1] स्वरूप-शक्ति का अवस्थान प्रकृति के उस पार है, अतएव यह अप्राकृत नित्य गोलोकधाम की वस्तु है। जीवशक्ति और मायाशक्ति दोनों ही प्रकृति के वश में हैं—दोनों ही इसलिए प्राकृतिक शक्ति हैं। भगवान् स्वयं ही सभी प्रकार की शक्ति के मूल आश्रय हैं, उसी अर्थ में तटस्था जीवशक्ति भी उन्हीं की शक्ति है। लेकिन स्वरूपशक्ति ही एकमात्र उनकी स्वरूपभूता है, यह उनकी आत्ममाया है। जीवमाया और गुणमाया रूपा जीवशक्ति और मायाशक्ति का संस्रव भगवदंशपुरुष परमात्मा से है, अतएव भगवान् से इन दोनों शक्तियों का सम्बन्ध बिलकुल परोक्ष है।

भगवान् की इस अनन्त शक्ति को त्रिविधा न कहकर चतुर्विधा भी कहा जा सकता है। एक ही परमतत्त्व स्वाभाविक अचिन्त्यशक्ति के द्वारा चतुर्धा अवस्थान करता है; प्रथमतः सर्वदा स्वरूप में अवस्थान, द्वितीयतः तद्रूपवैभव, तृतीयतः जीव और चतुर्थतः प्रधान या प्रकृति में। पूर्ण ब्रह्म सनातन भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में परमतत्त्व के प्रथम अवस्थान हैं, पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूपभूत विभिन्न अवतारादि वैभव और शुद्धसत्त्वमय वैकुण्ठादि धाम और उस धाम में भगवान् के नित्यपरिकरगण, ये ही सब परमतत्त्व के द्वितीय रूप में अवस्थान हैं। अपनी अचिन्त्यशक्ति के बल पर वे जिस प्रकार अपने नित्यस्वरूप में वर्त्तमान रहते हैं, उसी प्रकार उस स्वाभाविक अचिन्त्यशक्ति के बल पर ही अपने को विभिन्न प्रकार के अवतार के रूप में प्रकट करते हैं, अपने स्वरूप को ही धाम और परिकरादि के रूप में विस्तृत करते हैं। इन दोनों रूपों में अवस्थान उनकी स्वरूप-शक्ति के द्वारा साधित होता है। उनकी तटस्था शक्ति के द्वारा उनकी जीव के रूप में परिणति होती है, बहिरंगा मायाशक्ति के द्वारा उनकी जगत् के रूप में परिणति होती है। यह जो एक परमतत्त्व का नित्यस्वरूप में अवस्थान है, अवतारादि और धाम तथा परिकरादि आत्मवैभव के रूप में द्वितीय अवस्थान है, और जीव तथा जगत् के रूप में परिणति इस तत्त्व को सूर्य के विभिन्न अवस्थान या परिणति के दृष्टान्त

(१) देखिए इस ग्रन्थ का पृ०।

में समझाने की चेष्टा की गई है। सूर्य जिस तरह पहले अपने अन्तर्मण्डल के तेज के रूप में अवस्थान करता है, द्वितीयतः उस अन्तर्मण्डल के तेज के ही ऐश्वर्य से या विस्तार से उसके संलग्न तेजोमंडल के रूप में अवस्थान करता है, तृतीयतः उस मंडल से निकलने वाली रश्मि के रूप में और चतुर्थंतः उसकी प्रतिच्छवि के रूप में अवस्थान। यहाँ सूर्य के अन्तर्मण्डल के तेज के अनुरूप परमतत्त्व के स्वरूप का अवस्थान है, मंडल है तद्रूपवैभव के रूप में अवस्थान, जीव है मंडलबहिर्गत रश्मिस्थानीय और जगत् है प्रतिच्छवि स्थानीय,।[१] हम विष्णु-पुराण में देख आए हैं कि इसी को ही एक-देशस्थित अग्नि की विस्तारिणी ज्योत्स्ना की भाँति कहा गया है। श्रुति में भी कहा गया है कि एक उन्हीं के भास के द्वारा सभी प्रकाश पाते हैं। अगर कहा जाय कि ब्रह्म सर्वव्यापक है, सर्वव्यापक ब्रह्म के इस प्रकार के चतुर्धा अवस्थान की संभावना नहीं है, तो इसके जवाब में कहा जा सकता है कि ब्रह्म की 'अचिन्त्य' शक्ति के द्वारा सब कुछ संभव हो सकता है, जो कुछ दुर्घट है उसे घटित करने की सामर्थ्य ही तो शक्ति का 'अचिन्त्यत्व' है, 'दुर्घटघटकत्वं चाचिन्त्यत्वम्।' 'अचिन्त्य' होने के कारण ब्रह्म की यह शक्ति कल्पनामात्र नहीं है। ये शक्तियाँ 'स्वाभाविकी' हैं, इस बात पर पूर्ववर्ती सभी वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति गौड़ीय वैष्णवों ने भी जोर दिया है। एक पक्ष से विचार करने पर शक्तिमात्र ही 'अचिन्त्य' है, क्योंकि शक्तिस्वरूप कभी भी मनुष्य के ज्ञानगोचर नहीं है। संसार में 'मणिमंत्रादि' की जो शक्ति है वह भी तो 'अचिन्त्यज्ञानगोचर' है। 'अचिन्त्य' शब्द का तात्पर्य है जिसके विषय में कोई भी ज्ञान तर्कयुक्त नहीं है, केवल कार्यफल प्रमाण से ही जो गोचरीभूत होता है। इसीलिए कहा गया है—"अचिन्त्या भिन्नाभिन्नत्वादिविकल्पैश्चिन्तयितुमशक्याः सन्ति।" भिन्न-अभिन्न इत्यादि विकल्प के द्वारा जिसकी चिन्ता नहीं की जा सकती है, केवल आर्थापत्ति के द्वारा ही जो ज्ञानगोचर होता है, वही 'अचिन्त्य' है।

परमतत्त्व के इस चतुर्धा अवस्थान के अन्दर से हमें परमतत्त्व की त्रिविधा शक्ति की बात मालूम हुई। स्वरूप-शक्त्याख्या अंतरंगा शक्ति के द्वारा वे पूर्ण-भगवान् के स्वरूप में और वैकुण्ठादि स्वरूप-वैभव के रूप में अवस्थान करते हैं, रश्मिस्थानीय तटस्था शक्ति के द्वारा 'चिदे-

---

(१) **एकमेव तत् परमतत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या सर्वदैव स्वरूप-तद्रूपवैभव-जीवप्रधानरूपेण चतुर्धावतिष्ठते। सूर्यान्तिर्मण्डलस्थतेज इव मण्डल-तद्बहिर्गतरश्मि-तत्प्रतिच्छविरूपेण। —"भगवत्सन्दर्भ"।**

'कात्मशुद्ध-जीव' के रूप में और मायाख्या बहिरंगा शक्ति के द्वारा प्रतिच्छविगत वर्णशाबल्यस्थानीय बहिरंगवैभव जड़ात्म-प्रधान (प्रकृति) के रूप में अवस्थान करते हैं।

भगवान् की बहिरंगी मायाशक्ति के बारे में 'षट्-संदर्भ' में हमें जो विवेचन मिलता है वह एक प्रकार से पुराणादि में वर्णित माया-तत्त्व की ही प्रतिध्वनि है। हमने देखा है कि पुराणादि में माया को भगवान् की 'अपरा' शक्ति कहा गया है। माया के इस 'अपरा' रूप को गौड़ीय वैष्णवों के नाना प्रकार से और भी बढ़ा लिया है। उनके मतानुसार माया 'तदपाश्रया' शक्ति है, 'अप्' का अर्थ है अपकृष्ट, अतएव 'अपाश्रया' का अर्थ हुआ अति अपकृष्ट रूप में जिसका आश्रय है। इसका तात्पर्य यह है कि अपनी अपकृष्ट स्थिति के कारण माया कभी भी भगवान् के साक्षात् स्पर्श में, यहाँ तक कि साक्षात् दृष्टि के सामने भी नहीं आती है, उसे निलीय भाव से अर्थात् ओट में आत्मगोपन करके रहना पड़ता है। भागवतपुराण में कहा गया है, भगवान् की ओर मुँह करके रहने में विशेष रूप से लज्जित हो यह माया बहुत दूर हट जाती है।[1] यह बहिरंगा मायाशक्ति श्रीभगवान् की बहिर्द्वारसेविका दासी की भाँति है; और अंतरंगा स्वरूप-शक्ति श्रीभगवान् की पटरानी जैसी है। दासी जिस प्रकार गृहपति की आश्रिता होती है, उसके आश्रय में ही रहकर वह मानो प्रभु से दूर रहकर प्रभु की ही तृप्ति के लिए बाहरी आँगन में सभी प्रकार के सेवाकार्य करती है, मायाशक्ति ठीक वैसी ही है; भगवान् की आश्रिता होकर वह भगवान् की बहिर्द्वारिका सेविका की भाँति सृष्टि आदि कार्यों में लगी रहती है। माया का भगवान् से कोई सीधा सम्बन्ध तो है ही नहीं, तदंशभूत-पुरुष से अर्थात् परमात्मा से भी 'विदूरवर्तितयैवाश्रितत्वात्'—बहुत दूर रहकर आश्रित होने के लिए माया का बिलकुल 'बहिरंगसेवित्व' है। घर की महरी जिस तरह महिषी के द्वारा वशीभूत होकर रहती है, वह किसी प्रकार भी गृहपति के शान्ति-भंग का कारण नहीं बन सकती, भगवान् भी उसी प्रकार अपनी चिच्छक्ति या स्वरूपशक्ति द्वारा माया को वशीभूत रखकर सभी प्रकार की प्राकृत-गुण-स्पर्श-हीन की भाँति अपने में, केवल अपने रूप में अवस्थित हैं।[2] पहले हम भागवत-पुराण में 'ऋतेऽर्थं यत प्रतीयेत' आदि श्लोक[3] में माया की जो संज्ञा देख

---

(१) **मायापरैत्यभिमुखे च विलज्जमाना इत्यादि।** २।७।४७ **(बंगवासी)**

(२) **मायां व्यूदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि ।।भागवत,** १।७।२३

(३) **देखिए इस ग्रन्थ का ६४ पृष्ठ।**

आए हैं जीवगोस्वामी न उसकी व्याख्या में कहा है, अर्थ—अर्थात् परमार्थ-स्वरूप मेरे सिवा ही जो प्रतीत होता है, मेरी प्रतीति से जिसकी प्रतीति का अभाव है, मेरे बाहर ही जिसकी प्रतीति है—मगर अपने आप जो प्रतीत नहीं हो सकता है—अर्थात् मदाश्रयत्व के विना जिसकी कोई स्वतः प्रतीति नहीं है—वही मेरी माया है—जीवमाया और गुणमाया। 'यथा भासः' और 'यथा तमः' इन दोनों दृष्टान्तों से माया के जीवमाया और गुणमाया दोनों रूप व्यंजित हुए हैं। आयुर्वेद के पंडितों ने भी इस जगद्योनिरूपा नित्यप्रकृति माया को अचिन्त्य चिदानन्दैकरूपी भास्वर पुरुष की प्रतिच्छाया के रूप में वर्णित किया है। इस प्रसंग में हमें माया की दो स्वतन्त्र वृत्तियों का भी उल्लेख मिला। इन दोनों प्रकार की मायाओं को 'गुणमाया' और 'जीवमाया' कहते हैं। सृष्टि आदि के मामले में त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही गुणमाया है, इस गुणमाया को ही जगद्ब्रह्माण्ड के गौण-उपादान के रूप में स्वीकार किया गया है। जीवमाया जीव को भगवद्विमुख करके उसके स्वरूप के ज्ञान को आवृत कर देती है और जागतिक वस्तु ही उसे आसक्त कर डालती है। सृष्टि-कार्य में मुख्य निमित्त-कारण हैं ईश्वर; लेकिन जीवविमोहनकारिणी इस जीवमाया को सृष्टिकार्य में गौण निमित्त-कारण स्वीकार किया गया है।

हम पहले ही देख आए हैं कि वैष्णवगण परिणामवादी हैं; जीव और जगत् ब्रह्म के ही परिणाम हैं, विवर्त्त नहीं। सत्यसंकल्प, सत्यपरायण ईश्वर का परिणाम होने के कारण सृष्टि आदि लीलात्रयी की सत्यता है, वे भ्रममात्र के रूप में मिथ्या नहीं हैं।[१] यहाँ मायासृष्टि इन्द्रजालविद्या के द्वारा निर्मित मिथ्यासृष्टि नहीं मालूम होती; 'मीयते' अर्थात् 'विचित्रं निर्मीयते अनया' इसी अर्थ में माया; माया का यहाँ विचित्रार्थकरशक्तिवाचित्व है। सृष्टि परमात्मा का ही परिणाम है, मगर स्वयं ईश्वर अपरिणामी है; उसी अपरिणत ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति के द्वारा जो परिणाम है वह 'सन्मात्रतावभासमान-रूप' जो स्वरूपव्यूह है—वही स्वरूपव्यूहरूप द्रव्याख्यशक्ति द्वारा ही घटित होती है, स्वरूप से ही परिणाम का बोध नहीं होता है।[२]

---

(१) **परमात्म-संदर्भ, ७१**

(२) **तत्र च अपरिणतस्यैव सतोऽचिन्त्यया तया शक्त्या परिणाम इत्यसौ सन्मात्रतावभासमानस्वरूपव्यूहरूपद्रव्याख्यशक्तिरूपेणैव परिणमते—न तु स्वरूपेणेति गम्यते। परमात्म-संदर्भ,७३॥**

साधारणतः माना जाता है कि चित् और अचित्, जीव और जड़ जगत् दोनों ही ब्रह्म की एक मायाशक्ति की सृष्टि हैं, लेकिन गौड़ीय वैष्णवों ने जीवसृष्टि का अवलम्बन करके भगवान् की जो शक्ति है उसे भगवान् की एक पृथग्भूता विशेष शक्ति कहकर ग्रहण किया है। विष्णु-पुराण में इस जीवभूता विष्णु-शक्ति को क्षेत्रज्ञाख्या अपरा शक्ति कहा गया है। गीता में हम देखते हैं कि भगवान् ने अपनी प्रकृति को परा और अपरा दो हिस्सों में बाँटा है। जड़-जगदात्मिका प्रकृति ही अपरा प्रकृति है और जीवभूता प्रकृति परा प्रकृति है।[1] इस जीव-शक्ति को तटस्था कहने का एक गहरा तात्पर्य है। समुद्र की तटभूमि एक ओर जिस तरह ठीक-ठीक समुद्र के अन्दर भी नहीं है और दूसरी ओर बाहर भी नहीं है, जीव भी ठीक उसी तरह स्वरूप-शक्ति के अन्तर्गत नहीं है और पूरी तरह स्वरूप-शक्ति के बाहर की मायाशक्ति के अधीन भी नहीं है। एक ओर स्वरूप-शक्ति, दूसरी ओर बहिरंगा मायाशक्ति, इन दोनों की बीच की होने के कारण जीव-शक्ति तटस्था-शक्ति के रूप में ख्यात है। मायाशक्ति के भी परे और अविद्यापराभवादि दोषों के द्वारा परमात्मा का भी लेपाभाव है, अतएव दोनों की कोटि में ही जीव के प्रवेश का अभाव है, दूसरी ओर जीव में दोनों कोटि में ही प्रवेश करने की सामर्थ्य है, इसीलिए जीव-शक्ति तटस्था शक्ति है। इस विषय में भागवत में एक सुन्दर श्लोक है। इस श्लोक में कहा गया है कि, वह जीव जब मुग्ध होकर माया का आलिंगन करता है तब वह माया के गुणों की ही सेवा करके तद्धर्मयुक्त हो जाता है और स्वरूपविस्मृत होकर जन्ममरणरूप संसार को प्राप्त होता है। इसके बाद वह जब फिर त्वग्विनिर्मुक्त सर्प की भाँति उस माया का परित्याग करके प्राप्तैश्वर्यवान् होता है[1] तब अणिमादि अष्टगुणित परम ऐश्वर्य से ऐश्वर्य-वान् होकर अपरिच्छन्नरूप से पूजनीय होता है।[2] इसी प्रकार से जीवशक्ति का दोनों कोटि में प्रवेश भी है— दोनों कोटि में अप्रवेश भी है।

---

(१) अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ७।५

(२) स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः॥
१०।८७।३८ (वंगवासी)

जीव नामक तटस्था शक्ति असंख्य है। इस जीवशक्ति के दो वर्ग हैं, एक वर्ग अनादि काल से भगवद्-उन्मुख और दूसरा अनादि काल से ही भगवद्-विमुख है। इन दोनों वर्गों के कारण हैं, स्वभावतः भगवद्-ज्ञान-भाव और भगवद्-ज्ञान का अभाव। इनमें प्रथम वर्ग का जीव अंतरंग शक्ति के विलास के द्वारा अनुगृहीत होकर वैकुण्ठ में नित्य-भगवत्-परिकरत्व को प्राप्त करता है, दूसरे वर्ग का जीव भगवद्-विमुखता दोष के कारण माया के द्वारा परिभूत होकर संसारी होता है। केवल जड़तम अज प्रकृति से अथवा केवल अज पुरुष से जीव का जन्म नहीं हो सकता है; वायु के द्वारा विक्षुब्ध जल से जिस प्रकार अनगिनत बुलबुले उठते हैं उसी प्रकार प्रकृति-पुरुष दोनों के मिलन से सोपाधिक जीव की उत्पत्ति होती है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति अज है, शुद्ध जीवरूप पुरुष भी अज है। इन दोनों अजों से किसी प्रकार की उत्पत्ति संभव नहीं है। वास्तव में इन दोनों के अन्दर से ही परमात्मा ही सभी जन्मों के कारण हैं। प्रकृति के सभी विकार जब महाप्रलय में लीन होते हैं तब सुप्तवासना के कारण जीवाख्या शक्तियाँ परमात्मा में लीन होती हैं। सृष्टि के समय ये परमात्मलीन शक्तियाँ विकारिणी प्रकृति के प्रति आसक्त होकर क्षुभितवासना होकर सोपाधिकावस्था को प्राप्त होती हैं और जीव के रूप में जन्मग्रहण कर चारों ओर घूमती हैं।

माया का कार्य है केवल जीव-विमोहन—जीव में स्वरूप-विस्मृति उत्पन्न करना। गीता में भी कहा गया है, अज्ञान के द्वारा ही ज्ञान आवृत होता है, उसीसे सारे जीव मोह को प्राप्त होते हैं। इस जीव-विमोहन कार्य के लिए माया खुद ही विलज्जमाना है, उसका यह जीवविमोहन कार्य भगवान् को अच्छा नहीं लगता, इस बात को समझ कर और मेरे सभी कपटाचारों को भगवान् जानते हैं इस बात को जानकर ही मानों यह माया भगवान् की नजरों के सामने रहने में लज्जित होती है। केवल अविवेकी जन ही इस माया के अधीन होकर दुःख भोग करते हैं।[१] इसलिए जीव की ईश्वर-प्रपत्ति ही इस माया के हाथों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है।

यह जीवशक्ति मायाशक्ति के संस्पर्श में आकर माया के द्वारा अभि-भूत हो जाती है सही में, लेकिन जीवशक्ति और मायाशक्ति स्वरूप में विभिन्न हैं; क्योंकि जीवशक्ति चैतन्य-स्वभावा है, मायाशक्ति जड़स्वभावा।

(१) **विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।**
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥ भागवत, २।५।१३

नित्य अणुस्वभाव जीव चिन्मय परमात्मा का रश्मिस्थानीय चित्-कण है। इसीलिए जीवशक्ति को बहुधा चिच्छक्ति भी कहते हैं। मगर यह चिच्छक्ति भगवान् की स्वरूपभूता चिच्छक्ति नहीं है, यह शक्ति जड़-शक्ति नहीं है—चेतन शक्ति है—इस साधारण अर्थ में ही इसे चिच्छक्ति कहते हैं। वास्तव में अणुस्वभाव जीव भगवान् का ही अंश है सही में, मगर शुद्धस्वरूप में अवस्थित स्वरूपशक्ति श्रीकृष्ण का अंश नहीं है, जीवशक्तियुक्त कृष्ण का ही अंश है।[1] प्रश्न हो सकता है कि पूर्ण भगवान् कृष्ण केवल मात्र स्वरूपशक्ति-युक्त होकर शुद्ध रूप में अवस्थान करते हैं, तो उनसे जीवशक्ति का किसी प्रकार का सम्पर्क किस प्रकार से संभव हो सकता है? इसके उत्तर में हम परमात्मसंदर्भ में देखते हैं कि, सभी तत्त्वों में एक 'परस्पर अनुप्रवेश' है। शक्तिमान् परमात्मा के अन्दर भी जीवशक्ति ने अनुप्रवेश किया है और इस अनुप्रवेश के कारण ही भगवान् भी जीवशक्ति में युक्त रहते हैं।[2]

अब हम भगवान् की स्वरूपशक्ति के बारे में विचार करेंगे। इस स्वरूप-शक्ति के साथ विचित्र लीलाविलास में ही भगवान् की ऐश्वर्य और माधुर्य में पूर्णता है। भगवान् शब्द से वीर्य, यशः आदि जिन छः गुणों का बोध होता है ये षड्गुण स्वरूप-शक्ति के ही भिन्न-भिन्न विकास मात्र हैं। स्वरूप-शक्ति का विकास होने के कारण ये षड्गुण भगवान् में किसी प्रकार से आरोपित गुण नहीं है, इनसे भगवान् का नित्य समवाय-सम्बन्ध है। एक अर्थ में शक्तिमात्र ही माया है। जिसके द्वारा परिमाण किया जाता है (मीयते अनया इति माया)—अर्थात् जिसके द्वारा भगवान् भगवद्रूप में परिमित, अनुभूत या लक्षित होते हैं वही उनकी माया है। अतएव उसी अर्थ में स्वरूप-शक्ति भी भगवान् की माया है। इसीलिए कहा गया है, "मायाख्या स्वरूपभूता नित्यशक्ति से युक्त होने के कारण सनातन विष्णु को भी मायामय कहते हैं।"[3] स्वरूपशक्ति उनकी

---

(१) जीवशक्तिविशिष्टस्यैव तव जीवोऽंशः, न तु शुद्धस्येति गमयति। जीवस्य तच्छक्तिरूपत्वेनैवांशत्वमित्येतद्व्यंजयति ॥

परमात्म-सन्दर्भ, ३९

(२) सर्वेषामेव तत्त्वानां परस्परानुप्रवेशविवक्षयैक्यं प्रतीयत इत्येवं शक्तिमति परमात्मनि जीवाख्यशक्त्यनुप्रवेशविवक्षयैव तयोरैक्यपक्षे हेतुरित्यभिप्रैति। परमात्म-सन्दर्भ, ३४

(३) भगवत्-संदर्भ में उद्धृत 'चतुर्वेदशिखा' नाम्नी श्रुति। 'महा-संहिता' में कहा गया है—'आत्ममाया तदिच्छा स्यात्'।

आत्ममाया है। भगवान् की आत्ममाया का तात्पर्य है भगवदिच्छा। इस इच्छा के अन्दर ज्ञान और क्रिया इन दोनों ही वृत्तियों के होने के कारण आत्ममाया भी ज्ञान और क्रिया इन दोनों वृत्तियों के द्वारा ही उपलक्षित है। यह आत्ममाया या स्वरूप-शक्ति ही भगवान् की 'चिच्छक्ति' है।

गुणमयी माया-प्रकृति के उसपार अवस्थित विशुद्ध भगवत्तत्त्व में स्वरूप-शक्ति की वृत्ति के अलावा दूसरी कोई शक्ति-वृत्ति नहीं है। इस स्वरूप-शक्ति की वृत्ति गणना करते हुए हम पहले देखते हैं कि, भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द स्वरूप हैं; तो भगवान् को पूर्ण-स्वरूप में तीन धर्म मिले—सत्, चित् और आनन्द। भगवत्-स्वरूप के इन तीन धर्मों का अवलम्बन करके भगवान् की स्वरूप-शक्ति भी त्रिधा हुई—संधिनी, संवित् और ह्लादिनी। हम ऊपर विष्णु-पुराण का एक श्लोक उद्धृत कर आए हैं; वहाँ कहा गया है—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लाद-तापकरी-मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥

१।१२।६९

"सबकी संस्थितिरूप तुममें ह्लादिनी, संधिनी और संवित् ने एकरूप धारण किया है, ह्लादकरी, तापकरी और मिश्रा शक्तियाँ गुणवर्जित तुममें नहीं हैं।" यहाँ ह्लादकरी शक्ति का अर्थ है मनःप्रसादोत्त्था सात्विकी—अर्थात् सत्त्वगुणात्मिका शक्ति, तापकरी का अर्थ है 'विषयवियोगादिषु तापकरी', अर्थात् तामसी शक्ति, और मिश्रा का अर्थ है तदुभयामिश्रा विजयजन्या राजसी। गुणवर्जित भगवान् में इन सारी गुणमयी शक्तियों का कोई स्पर्श नहीं है, केवल उनके स्वरूप के सत्, चित् और आनन्दांश का अवलम्बन करके संधिनी, संवित् और ह्लादिनी शक्तियाँ हैं। संधिनी शक्ति है 'सतता'—अर्थात् सत्ताकरी, संवित् है 'विद्याशक्ति', और ह्लादिनी है आह्लादकरी। इनमें 'ह्लादिनी वह शक्ति है जिसके द्वारा भगवान् स्वयं ह्लादकरूप होकर भी आह्लादित होते हैं और दूसरों को आह्लादित करते हैं। उसी तरह स्वयं सत्तारूप होकर भी भगवान् जिसके द्वारा सत्ता धारण करते हैं और धारण कराते हैं, वही 'सर्वदेशकाल द्रव्यादि प्राप्तिकरी' संधिनी है, और स्वयं ज्ञानरूप होकर भी भगवान् जिसके द्वारा खुद जानते हैं और दूसरों को जनाते हैं—वही संवित्-शक्ति है। इसके भीतर फिर उत्तरोत्तर गुणोत्कर्ष द्वारा संधिनी, संवित् ,ह्लादिनी—इस क्रम से ही शक्तियों को जानना होगा; तीनों शक्तियों में गुणोत्कर्ष में संधिनी से संवित् प्रधाना है—क्योंकि सत्ता के एक परम उत्कर्ष के द्वारा ही संवित् को पाया जाता है। फिर इस

संवित् के चरम उत्कर्ष के द्वारा ही विशुद्ध आनन्दानुभूति होती है; अतएव गुणोत्कर्ष में ह्लादिनी शक्ति ही तीनों शक्तियों में श्रेष्ठ है।

भगवान् की इस स्वरूपभूता मूल शक्ति के अन्दर एक स्वप्रकाशतालक्षणवृत्ति विशेष है; उस स्वप्रकाशतालक्षणवृत्तिविशेष के द्वारा जब भगवान् के स्वरूप का या स्वरूपशक्ति का विशिष्ट आविर्भाव होता है तो उसी को 'विशुद्धसत्त्व' कहते हैं। स्वप्रकाशतालक्षण स्वरूपशक्ति के वृत्तिविशेष को ही 'सत्त्व' कहते हैं (अत्र सत्त्वशब्देन स्वप्रकाशतालक्षण स्वरूपशक्तिवृत्तिविशेष उच्यते), त्रिगुणात्मिका माया के स्पर्शाभाव के कारण ही (अर्थात् प्राकृत सत्त्व रज तम के स्पर्शाभाव के हेतु) यह विशुद्ध सत्त्व है। यह विशुद्धसत्त्व सत्तामात्र नहीं है, विशुद्धसत्त्व का प्रकाश सम्पूर्णरूप से अन्यनिरपेक्ष है। अतएव भगवान् के स्वप्रकाश ज्ञापन-ज्ञानवृत्तिप्रयुक्त यह संवित् है। इस विशुद्ध सत्त्व में जब संधिनी-अंश प्रधान होता है तब यह 'आधार-शक्ति' नाम ग्रहण करती है। संविद्-अंश प्रधान होने पर यह 'आत्मविद्या' होती है और ह्लादिनी-सारांश प्रधान होने पर यह 'गुह्याविद्या' होती है; और अगर विशुद्धसत्त्व में एक ही साथ इन तीनों शक्तियों की प्रधानता होती है तो भगवान् की 'मूर्ति' होती है। पूर्वोल्लिखित 'आधार-शक्ति' के ारा ही भगवान् का धाम प्रकाश पाता है, और पूर्वोक्त मूर्ति के द्वारा ही (अर्थात् विशुद्ध सत्त्व में युगपत् शक्तित्रय की प्रधानता के ारा ही) श्रीविग्रह प्रकाश पाता है, विशुद्धसत्त्व ही 'वसुदेव' है, इस वसुदेव से उत्पन्न श्रीविग्रह ही 'वासुदेव' हैं। श्री भगवान् के ही शक्त्यंश की प्रकाश होने के कारण पुराण में मूर्ति को धर्मपत्नी के तौर पर वर्णन किया गया है, इस विशुद्धसत्त्व के अन्दर ह्लादिनी आदि की प्रधानता के द्वारा ही श्री आदि का प्रादुर्भाव समझना होगा। ये श्री आदि भगवान् की सम्पद्-रूपिणी हैं। अमर्त शक्तिमात्र के रूप में उनकी भगवद् विग्रह आदि के साथ ऐकात्म में स्थिति है, और सम्पत् आदि की अधिष्ठात्री के रूप में मूर्त ये देवियाँ भगवान् के आवरण के रूप में अवस्थान करती हैं। एवंभूता अनन्तवृत्तिकाया स्वरूप-शक्ति ही भगवद्धामांशवर्तिनी लक्ष्मी हैं। लक्ष्मी का विष्णु से स्वरूप में अभेदत्व की बात सभी पुराणों में कही गई है; लक्ष्मी और परमेश्वर का पति-पत्नी के रूप में जो वर्णन है वह उपचारत: भेदकथनेच्छा से ही किया गया है। वास्तव में एक ही स्वरूपशक्तित्व और शक्तिमत्व इन दो रूपों में विराज करता है, इसमें शक्ति जिसकी स्वरूपभूता है, वही शक्तिमत्व प्रधानता द्वारा भगवान् है, वही स्वरूप शक्तित्व-प्राधान्य में विराजमान होने पर लक्ष्मी-संज्ञा

प्राप्त होती है।[1] तो लक्ष्मी भगवान् की समग्र शक्ति की विग्रह हैं। यह लक्ष्मी अनन्त-स्ववृत्तिभेद से अनन्ता हैं। पुराणादि में श्री, पुष्टि, गिर्, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि आदि जिन विविध विष्णु-शक्तियों का उल्लेख पाते हैं वे एक ही स्वरूपशक्ति का भेद मात्र हैं। प्रथम प्रवृत्ति-आश्रयरूपा भगवान् की स्वरूपभूता अंतरंगा महाशक्ति ही महालक्ष्मी हैं। श्री—आदि उसी महालक्ष्मी की ही विभिन्न वृत्तिरूपा हैं। भगवान् की शक्ति जिस तरह साधारण तौर से अप्राकृत और प्राकृत भेद के कारण दो प्रकार की है— श्री-आदि शक्ति का भी उसी प्रकार अप्राकृत और प्राकृत भेद के कारण दो रूप हैं। जैसे श्री महालक्ष्मी के अंश के रूप में भागवती सम्पत् हैं और दूसरी ओर प्राकृत के रूप में 'जगती सम्पत्' हैं। इसी प्रकार 'इला', 'लीला' रूपिणी भी हैं और 'भू' रूपिणी भी। इसी प्रकार महालक्ष्मी के अन्तर्गत जो भेदशक्ति है वह विद्यारूपिणी है—यह 'बोध-कारण' है और यह संविन् शक्ति की ही वृत्तिविशेष है। अप्राकृत मातृभावादि जो प्रेमानन्द-वृत्तियाँ हैं उनके अन्दर भगवान् के विभुत्वादि की विस्मृति के कारण एक भेदबोध की प्रतीति है—यह वही 'विद्यारूपिणी' भेद है; और प्राकृत में यही भेदशक्ति अविद्या के रूप में अभिव्यक्त होती है, यही संसारियों के स्व-स्वरूप-विस्मृति-आदि के हेतुरूप आवरणात्मक वृत्तिविशेष है। इसी महालक्ष्मी के संधिनी, संवित् और ह्लादिनी तीन भेद हैं। भक्ति की आधार-शक्तिरूपा मूर्ति, विमला, जया, योगा, प्रह्वी, ईशाना आदि को उसी महा लक्ष्मी का ही अंशविशेष समझना होगा। इनमें 'संधिनी' हैं सत्ता, 'जया' उत्कर्षिणीशक्ति, 'योगा' है सर्वाधिकारिता-शक्ति की हेतु। इनका जिस तरह अप्राकृत रूप और वृत्ति है, उसी तरह प्राकृत रूप और वृत्ति भी है।

श्रीभगवान् की यह स्वरूप-शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है, एक अपने स्वरूप में और दूसरी अपने स्वरूप-विभव में। हमने देखा है कि भगवान् की स्वरूपशक्ति के अन्दर स्वप्रकाशतालक्षण वृत्तिविशेष है, वही विशुद्धसत्त्व है। इसी विशुद्धसत्त्व से ही पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण के धाम, परिकर, सेवकादिरूप वैभव का विस्तार होता है। लीला-पार्षदगण भी उनके इस स्वरूप वैभव के अन्तर्गत हैं; अपने उसी वैभव के साथ ही रसमय श्रीकृष्ण की लीला-वैचित्र्य होता है। इस वैभव में प्रथम है

---

(१) **अथैकमेव स्वरूपं शक्तित्त्वेन शक्तिमत्वेन च विराजतीति यस्य शक्तेः स्वरूपभूतत्वं निरूपितं तच्छक्तिमत्त्व-प्राधान्येन विराजमानं भगवत्-संज्ञामाप्नोति। तच्च व्याख्यातं तदेव च शक्तित्व-प्राधान्येन विराजमानं लक्ष्मी-संज्ञामाप्नोतीति। —भगवत्-सन्दर्भ।**

धामतत्त्वा। भगवान् और उनका धाम दोनों एक हैं; क्योंकि वैकुण्ठादि धाम उनके स्वरूप के ही शुद्ध सत्त्वमय विस्तार हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परे विरजा नाम की एक नदी प्रवाहित होती है। सत्त्व, रज और तम इन प्राकृतगुणों से रज या तम के विगत होने के कारण यह विरजा नदी है। इस विरजा के उस पार परव्योम है, इस परव्योम में ही विशुद्ध सत्त्वमय वैकुण्ठादि का अवस्थान है। इस धाम में गृह-प्रासाद, वन, उपवन-तरुलता, फलफूल, पशु-पक्षी सब कुछ हैं। वे सभी अप्राकृत दिव्यरूप में अवस्थान कर रहे हैं। भगवान् का आविर्भावमात्र ही जिस प्रकार उनका जन्म है, उसी प्रकार वैकुंठ की कल्पना और वैकुंठ का आविर्भाव मात्र प्राकृतवत् कृत्रिम नहीं है। इसीलिए भगवान् जिस प्रकार नित्य हैं, उसी प्रकार भगवद्-धाम भी नित्य है। वहाँ के पार्षद, परिकर, सेवक-भक्त सभी नित्य हैं, वहाँ की लीला भी इसीलिए नित्य है। ये नित्यभक्त पार्षद्गण इसीलिए भगवत्-सदृश और कालातीत हैं। ये धाम और सेवक पार्षदादि सभी स्वरूपान्तःपाती होने पर भी एक भेदलक्षणा वृत्ति का आश्रय करके विभिन्नरूपों में प्रकाशित होते हैं। ये विभिन्न प्रकार के श्रीभगवान् के ही प्रकाश-विशेष-वैचित्र्य प्रकट करने के लिए हैं।

इस धाम के बारे में वैष्णवगणों में अनेक विस्तृत विवरण हैं। हम संक्षेप में कह सकते हैं कि, वैकुंठादि धामों में सर्वोच्च धाम है गोलोक; इसी गोलोक से ही गोकुल बना है। इस सर्वोच्च धाम में ही द्विभुजमुरली-धारी गोपवेश में श्रीकृष्ण की नित्य लीला होती है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण के शरीर और लीला के अप्रकटत्व और प्रकटत्व हैं, उसी प्रकार उनके धाम के भी अप्रकटत्व और प्रकटत्व हैं। अप्रकट गोलोक या गोकुल और प्रकट गोलोक या गोकुल स्वरूपतः एक ही हैं। श्रीकृष्ण की अनन्त अचिन्त्य शक्ति के द्वारा युगपत् यह प्रकट और अप्रकट धाम और लीला विस्तारित होते है। श्रीकृष्ण की लीला-विचित्रता के अनुसार इस कृष्णलोक के भी त्रिधा प्रकाश हैं—द्वारका, मथुरा और वृन्दावन; तीनों धामों म श्रीभगवान् की लीला भी तीन प्रकार की है, परिकरादि भी तीन प्रकार के हैं। प्रकट धाम में जिस प्रकार यमुनादि नदियां, कुंज-निकुञ्ज, कदम्ब-अशोक, गोप-गोपी, धेनु-वत्स, शुकसारी आदि हैं, अप्रकट धाम में भी इसी प्रकार सब कुछ है; एक दूसरे का 'प्रकाशविशेष' मात्र है। द्वारका-मथुरा में यादवगण ही कृष्ण के लीला-परिकर हैं, और सर्वोत्तम वृन्दावन-लीला में गोप-गोपीगण ही कृष्ण के नित्य-परिकर हैं। श्रीकृष्ण की भांति ये गोपगोपीगणों के भी प्रकट-अप्रकट वपु हैं।

स्वरूप में भगवान् 'रसमय' हैं; उनकी यह रसमयता श्रुति आदि में परिगीत हुई है। भगवान् की इस रसमयता का कारण है उनकी स्वरूप-शक्ति के अन्दर की श्रेष्ठ ह्लादिनी-शक्ति। हमने पहले ही देखा है कि, इस ह्लादिनी-शक्ति के दो काम हैं। एक है ह्लादस्वरूप भगवान् को ही आह्लादित करना, दूसरा है, दूसरों को ह्लाद दान करना। तो इस ह्लादिनी शक्ति का जीव-कोटि और भगवान् कोटि दोनों में ही प्रवेश है। भगवत् कोटि में अवस्थित ह्लादिनी भगवान् को विचित्र लीलारस के दान के द्वारा रसमय कर रही है, और जीव कोटि में प्रवेश करके वह ह्लादिनी पवित्र भक्त के हृदय में आविर्भूत होकर विशुद्धतम आनन्द का विधान कर रही है। यह भगवन्मुख जीवगत विशुद्ध आनन्द ही भक्ति है। भक्त का जो भक्ति-जनित आनन्द है और भगवान् का जो लीला-जनित आनन्द है— ये दोनों एक ही शक्ति की ही दो कोटियों के दो व्यापार हैं। भगवान् में ह्लादिनी रसरूपिणी है—भक्त-हृदय में ह्लादिनी भक्ति-रूपिणी है। स्वरूपशक्ति की सारभूता यह जो ह्लादिनी-शक्ति है उसी की सारघन मूर्त्ति हैं राधा—नित्य प्रेमस्वरूप की ही नित्य प्रेम-स्वरूपिणी। इसीलिए राधा केवल प्रेमरूपिणी नहीं हैं, राधा ही नित्य प्रेमदात्री हैं। पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण में राधा अनन्त ह्लादिनीशक्ति के रूप में अवस्थान करती हैं। लेकिन उसी अनन्त ह्लादिनी-शक्ति का कणमात्र नित्य अणुस्वभाव चित्कण जीवके भीतर गिरकर उसे प्रेमभक्ति से आप्लुत कर रखता है, इसीलिए राधा भगवान् की प्रेमकल्पलता हैं और भक्त की भी प्रेमकल्पतरु हैं।[१]

हम पहले देख आए हैं कि, श्रीभगवान् की समग्र स्वरूपशक्ति का साधारण नाम लक्ष्मी या महालक्ष्मी है। यह लक्ष्मी भगवान् के ऐश्वर्य, कारुण्य, माधुर्य आदि सभी शक्तियों की आधारभूता हैं। लेकिन हम भगवान् की सारी शक्तियों में ह्लादिनी-शक्ति की श्रेष्ठता देख आए हैं। इसीलिए ह्लादिनी का घनीभूत विग्रह राधिका ही कृष्णशक्ति के रूप में

(१) तुलनीय— **कृष्णके आह्लादे ताते नाम ह्लादिनी।**
सेइ शक्तिद्वारे सुख आस्वादे आपनि॥
सुखरूप कृष्ण करे सुख आस्वादन।
भक्तगणे सुख दिते ह्लादिनी कारण॥
चरितामृत (मध्य ८म)

और भी— ह्लादिनी कराय कृष्णे आनन्दास्वादन।
ह्लादिनी द्वाराय करे भक्तेर पोषण।
वही, (आदि, ४ र्थ)

श्रेष्ठ हैं। एक दृष्टि में राधिका और दूसरी व्रजवधुएं सभी लक्ष्मी या लक्ष्मी का अंश हैं। वृन्दावन में लक्ष्मी की परिणति राधिका तथा दूसरी व्रज-गोपियों के रूप में हुई है। लेकिन दूसरी दृष्टि में लक्ष्मी से व्रजवधुएं, विशेष करके राधिका ही श्रेष्ठ हैं। ह्लादिनी-शक्ति ही कृष्ण की सारी शक्तियों में सारभूता शक्ति है। सारी शक्तियों की सारभूता होने के कारण इसमें ऐश्वर्य, कारुण्य सब कुछ है मगर माधुर्य में ही इसकी चरम स्फूर्ति है। जिस प्रकार पायसादि दूध से बनने पर भी उससे श्रेष्ठ हैं, ठीक उसी प्रकार राधिका लक्ष्मी-शक्ति के सारांश का घनीभूत विग्रह, होने के कारण लक्ष्मी से श्रेष्ठ हैं। इसीलिए कृष्णधाम गोलोक में लक्ष्मी की प्रतिमूर्ति रुक्मिणी का अवस्थान केवल द्वारका-मथुरा में ही है, सर्वोत्तम धाम व्रज-भमि या वृन्दावन में गोपियों के साथ केवल राधा ही वास करती हैं।

कृष्ण की आठों महिषियों में भी स्वरूपशक्ति है। वे स्वरूपभूत विभिन्न शक्तियों की विग्रह हैं। इनमें रुक्मिणी भगवान् के एकान्त अनु-रूपत्व के हेतु स्वयं लक्ष्मी हैं। सत्यभामा भूशक्ति या अन्य मतानुसार उनकी 'प्रेमशक्ति-प्रचुर भूशक्तित्व' हैं। श्रीयमुना कृपा-शक्ति-रूपत्व हैं, इत्यादि। वृन्दावन में सभी व्रजदेवियाँ भगवान् की स्वरूपशक्ति-प्रादुर्भाव-रूपा हैं। अतएव वे सभी 'वृन्दावन-लक्ष्मी' हैं।[1] 'गोपाल तापनी' में गोपियों को 'आविद्याकला प्रेरक' कहा गया है। 'आ' का अर्थ है 'सम्यक्', विद्या परम प्रेमरूपा है, उनकी कला उनकी वृत्तिरूपा है, उसके प्रेरक अर्थ में तत्तत् क्रियाओं में प्रवर्तक हैं। ह्लादिनी ही गुह्यविद्या है, इस ह्लादिनी की रहस्य लीला में प्रवर्तक हैं व्रजवधुएं। ये सभी नित्यसिद्धा हैं। ह्लादिनी की सारवृत्तिविशेष है प्रेम, उसी प्रेमरस के ही सारविशेष ने इन व्रज-देवियों में प्रधानता पाई है, इसीलिए इन व्रजदेवियों का महत्त्व है।[2] ये व्रजदेवियां 'आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविता' हैं। इस प्रेमप्राचुर्य के प्रकाशहेतु श्रीभगवान् का भी इनमें परमोल्लास का प्रकाश होता है, उसी परमोल्लास के द्वारा ही श्रीभगवान् में रमणेच्छा उत्पन्न होती है।

ऐसी 'परममधुरप्रेमवृत्तिमयी' व्रजगोपियों में राधिका प्रेम सारांशोद्रेक-मयी हैं। अतएव इसी राधिका में ही 'प्रेमोत्कर्षपराकाष्ठा' है। ऐश्वर्यादि दूसरी शक्तियां इस प्रेमवैशिष्टच का ही अनुगमन करती हैं, इसीलिए श्रीवृन्दावन में श्रीराधिका में ही स्वयं लक्ष्मीत्व है। धामों में जिस प्रकार

---

(१) श्रीकृष्ण- सन्दर्भ।

(२) आसां महत्त्वन्तु ह्लादिनीसारवृत्तिविशेषप्रेमरससारविशेष-प्राधान्यात्।
वही

वृन्दावनधाम ही सर्वोच्च और सर्वोत्तम है, भगवद्-रूप का भी जिस प्रकार कृष्णरूप में वृन्दावन में ही सर्वपूर्णत्व और सर्वश्रेष्ठत्व है—भगवत्-शक्ति के रूप में उसी प्रकार श्रीराधा का ही सर्वश्रेष्ठत्व है। वृन्दावन में श्रीकृष्ण भी जिस प्रकार एक परमतत्त्वमात्र नहीं हैं, उनके दिव्यवपु सौन्दर्य, माधुर्यादि गुण जिस प्रकार सत्य और नित्य हैं, श्रीराधा भी उसी प्रकार एक शक्तितत्त्व मात्र नहीं हैं, वे भी सत्य और नित्य-विग्रहवती हैं। प्रेम-पराकाष्ठा में मिलित यह जो अप्राकृत वृन्दावन-धाम का युगलरूप है वही भक्तों के लिए आराध्यतम वस्तु है। इस वृन्दावन में श्रीकृष्ण और राधा नित्य-किशोर-किशोरी हैं, नित्य-किशोर-किशोरी की यह नित्य-प्रेमलीला ही एकमात्र आस्वाद्या है। कहा जा सकता है कि, दोनों एक होकर भी लीला के बहाने दो हैं—अभेद में ही भेद हैं। अचिंत्य शक्ति के बलसे ही इस अभेद में लीला विलास से भेद है, यही अचिंत्य भेदाभेद है।

हमने देखा कि कृष्ण की जो पूर्णरसस्वरूपता है वही उनकी ह्लादिनी-शक्ति के सहारे दूसरे के अन्दर प्रेम-भक्ति के रूप में संचारित होती है। जिसके अन्दर इस ह्लदिनी का जितना संचार होता है वह उतना ही भक्त होता है। राधिका स्वयं पूर्णह्लादिनीरूपा हैं, अतएव राधिका में ही प्रेमभक्ति की प्रकाश-पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है, और इसीलिए राधिका कृष्ण की सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। हमने पहले यह भी देखा है कि ह्लादिनी-शक्ति संवित्-शक्ति का ही चरमोत्कर्ष है; इसलिए कृष्णप्रेम चिद्वस्तु है यह चिदानन्द-स्वरूप है। कृष्ण और उनके भक्त में जो प्रेम है उसमें भिन्न-भिन्न भेद या तारतम्य हैं। कृष्णेंद्रिय-प्रीति-इच्छा ही प्रेम है। यह प्रीति भक्त के चित्त में नाना क्रियाओं के रूप में अपने को प्रकट करती है; चित्त को उल्लसित करने में, ममताबोध से युक्त करने में, आश्वस्त करने में, प्रियत्व के अतिशयत्व के कारण रूठने में, द्रव करने में, स्वविषय के प्रति प्रत्यभिलाषातिशय के द्वारा युक्त करके प्रतिक्षण स्वविषय को नव-नवत्व द्वारा अनुभव कराने में, असमोर्ध्व चमत्कार के द्वारा उन्मत्त करने में।[१] उल्लास की मात्राधिक्य-व्यंजिका जो प्रीति है उसीका नाम है 'रति';[२] इस रति से एकमात्र प्रेमास्पद के प्रति ही तात्पर्यबोध और दूसरे सभी

---

(१) **प्रीतिः खलु भक्तचित्तमुल्लासयति ममतया योजयति विस्रंभयति प्रियत्वातिशयेनाभिमानयति द्रावयति स्वविषयं प्रत्यभिलाषातिशयेन योजयति प्रतिक्षणमेव स्वविषयं नवनवत्वेनानुभावयति असमोर्ध्वचमत्कारेणोन्मादयति ।**

(२) **तत्रोल्लासमात्राधिक्यव्यञ्जिका प्रीतिः रतिः । वही ।**

विषयों के प्रति तुच्छत्वबोध उत्पन्न होता है, ममताबोध के आतिशय्य के आविर्भाव से समृद्ध जो प्रीति है वही 'प्रेम' कहलाती है।[१] इस प्रेम का आविर्भाव होने से तत्प्रीतिभंग के हेतु-समूह उसके उद्यम या स्वरूप को फिर बाधा नहीं दे सकते; अर्थात् तब संसार में कोई भी बाधाविघ्न इस प्रीति के पथ को रुद्ध नहीं कर सकता है। विस्रम्भातिशयात्मक प्रेम ही 'प्रणय' है।[२] इस प्रणय के उदय होने पर संभ्रमादि योग्यता में भी तदभाव होता है। प्रियत्वातिशयाभिमान के द्वारा कौटिल्याभासपूर्वक भाव-वैचित्री का दान करके जो प्रणय होता है वही 'मान' है।[३] अब हम देखते हैं कि प्रियता की अतिशयता के हेतु अभिमान आया है, इस अभिमान के द्वारा प्रणय में कौटिल्य या वक्रता (वाम्यता) आई है; यही कौटिल्य भाव-वैचित्री प्रदान करता है।

मान उत्पन्न होने पर स्वयं भगवान् भी उसके प्रणय-क्रोध से भय पाते हैं। जो प्रेम चित्त को अतिशय द्रवित करता है वही स्नेह है।[४] इस स्नेह के संजात होने पर प्रिय के संबंध-आभास से ही महावाष्पादि-विकार, प्रिय-दर्शनादि से अतृप्ति, प्रिय की परमसामर्थ्य के होते हुए भी उसकी किसी अनिर्दिष्ट अनिष्ट की आशंका आदि का उदय होता है। अतिशय अभिलाषात्मक स्नेह ही 'राग' में परिणत होता है,[५] चित्त में इस राग के संजात होने पर क्षणिक विरह से भी अत्यन्त असहिष्णुता दिखाई देती है, प्रिय से परम दुःख भी सुख प्रतीत होता है—उसके वियोग से सब कुछ विपरीत हो जाता है। इस राग में राग के विषय को (अर्थात् प्रेमास्पद को) जो प्रतिक्षण नए-नए प्रकार से अनुभूत कराता है, खुद भी प्रतिक्षण नए नए रूप धारण करता है—वही अनुराग है।[६] इस अनुराग के संचारित होने पर परस्पर वशीभाव की अतिशयता होती है, प्रेमवैचित्त्य (प्रिय के निकट रहने पर भी विरहानुभूति), प्रिय-सम्बन्धी अन्यान्य प्राणिरूपों में भी जन्मने की आकांक्षा, विप्रलंभ में विस्फूर्ति आदि का उदय होता है। यह

---

(१) **ममतातिशयाविर्भावेन समृद्धा प्रीतिः प्रेमा। वही**

(२) **विश्रम्भातिशयात्मकः प्रेमा प्रणयः। वही।**

(३) **प्रियत्वातिशयाभिमानेन कौटिल्याभासपूर्वकभाववैचित्रीं दधत् प्रणयो मानः।—वही।**

(४) **चेतोद्रवातिशयात्मकः प्रेमैव स्नेहः।—वही**

(५) **स्नेह एवाभिलाषातिशयात्मको रागः।—वही**

(६) **स एव रागोऽनुक्षणं स्वविषयं नवनवत्वेनानुभावयन् स्वयं नवनवीभवन्ननुरागः।—वही**

अनुराग ही असमोर्ध्वचमत्कार के द्वारा उन्मादक होने पर महाभाव रूप में परिणत होता है।[१] यह महाभाव ही राधिका का स्वरूप है। भक्त के तौर पर अगर हम विचार करें तो कहा जा सकता है प्रेम-निर्यास-रूप में महाभाव की पराकाष्ठा भी एकमात्र राधिका के अलावा और किसी के लिए संभव नहीं है; इसीलिए श्रीराधिका प्रेमपराकाष्ठा-रूपिणी हैं। श्रीकृष्ण की पटरानियों के लिए महाभाव-उन्मुख अनुराग तक ही प्रेम की अन्तिम सीमा है, इसके बाद उनका कोई अधिकार नहीं है, इसके बाद ही गोपियों के प्रेम का वृन्दावन है—इस प्रेम-वृन्दावन की वृन्दावनेश्वरी हैं राधिका—व्रज की गोपियों को महाभाव का अधिकार है, लेकिन इस महाभाव का जो पराकाष्ठा रूप 'अधिरूढ़-महाभाव' है वह एक मात्र राधिका के अलावा और किसी के लिए संभव नहीं है।

गुणान्तर के उत्कर्ष के तारतम्य के द्वारा प्रीति में जो तारतम्य और भेद होता है वह दो प्रकार का है; एक, भक्त के चित्त के संस्कार के द्वारा, और दूसरा भगवान् सम्बन्धी अभिमान विशेष के द्वारा। ऊपर हमने प्रेम के घनिष्ट से घनिष्टतम अवस्था की जो क्रमपरिणति देखी वह चित्त-संस्कार द्वारा सम्बन्धित प्रेमोत्कर्ष का तारतम्य है। तदभिमान के वश प्रीति का जो तारतम्य है उसका अवलम्बन करके ही वैष्णवों के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये पांच रसतत्त्व हैं। इन पांच रसों में भी पूर्व पूर्व-पूर्व रसों के गुण-बाद बाद में होते हैं शान्तादि सभी रसों के सारगुण घनीभूत होने पर कान्तारस की पुष्टि होती है। कृष्णदास कविराज ने अपने चैतन्य-चरितामृत में शान्तादि रस किस प्रकार से मधुर में रूपान्तरित होते हैं यह बड़े सुन्दर ढंग से समझाया गया है। वहां उन्होंने कहा है—

पूर्व पूर्व रसेर गुण परे परे हय।
दुइ तिन गणने पंच पर्यन्त बाड़य॥
गुणाधिक्ये स्वादाधिक्य बाड़े प्रति रसे।
शान्त दास्य सख्य वात्सल्य गुण मधुरेते बैसे॥
आकाशादिर गुण येमन पर पर भूते।
दुइ तिन गणने बाड़े पंच पृथिवीते॥

मध्यलीला के उन्नीसवें अध्याय में इस तत्त्व की कविराज गोस्वामी ने और भी अच्छी व्याख्या की है। वहाँ कहा गया है—

---

(१) **अनुराग एवासमोर्ध्वचमत्कारेणोन्मादको महाभावः।—वही**

केवल स्वरूप-ज्ञान हय शान्तरसे ।
पूर्णैश्वर्य प्रभुज्ञान अधिक हय दास्ये ।।
ईश्वरज्ञाने संभ्रम गौरव प्रचुर ।
सेवा करि कृष्णे सुख देन निरन्तर ।।
शान्तेर गुण दास्ये आछे अधिक सेवन ।
अतएव दास्यरसे हय दुइ गुण ।।
शान्तेर गुण दास्येर सेवन सख्ये दुइ हय ।
दास्येर संभ्रम गौरव सेवा सख्ये विश्वासमय ।।
कान्धे चड़े कान्धे चड़ाय करे क्रीड़ा रण ।
कृष्णे सेवे कृष्णे कराय आपन सेवन ।।
विश्रम्भ-प्रधान सख्य गौरव-सम्भ्रमहीन ।
अतएव सख्यरसेर तिनगुण चिन ।।
ममता अधिक कृष्णे आत्मसम ज्ञान ।
अतएव सख्यरसे वश भगवान् ।।
वात्सल्ये शान्तेर गुण दास्येर सेवन ।
सेइ सेइ सेवनेर इहा नाम पालन ।।
सख्येर गुण असंकोच अगौरव सार ।
ममता आधिक्ये ताड़न भर्त्सन व्यवहार ।।
आपनाके पालक ज्ञान, कृष्णे पाल्य ज्ञान ।
चारिरसेर गुणे वात्सल्य अमृत समान ।।
से अमृतानन्दे भक्त डुबेन आपने ।
कृष्णभक्तवश गुण कहे ऐश्वर्यज्ञानी गणे ।।
मधुर रसे कृष्णनिष्ठा सेवा अतिशय ।
सख्ये असंकोच लालन ममताधिक्य हय ।।
कान्तभावे निजांग दिया करेन सेवन ।
अतएव मधुर रसे हय पंचगुण ।।
आकाशादिर गुण येन पर पर भूते ।
एक दुइ क्रमे बाड़े पंच पृथिवीते ।।
एइ मत मधुरे सब भाव समाहार ।
अतएव स्वादाधिक्ये करे चमत्कार ।।

कान्तारस की भी जो प्रीति है वह कामसाम्य में कामादि-शब्द के द्वारा ही वर्णित होती है; लेकिन 'स्मराख्य-काम-विशेष' प्राकृत काम से बिलकुल अलग है। इन दोनों में मुख्य भेद यह है कि काम-सामान्य

चेष्टा 'स्वीयानुकूल्यतात्पर्या' है, और शुद्ध प्रीति-चेष्टा 'स्वीयानुकूल्यतात्पर्या' 'प्रियानुकूल्यतात्पर्या' है। प्रियानुकूल्य-तात्पर्यता या 'कृष्णसुखैक-तात्पर्यता' ही वृन्दावन के गोपी-प्रेम की विशेषता है। यह जो 'कृष्ण सुखैक-तात्पर्या' शुद्ध प्रीति है उसका भी परम प्रकाश कृष्णमयी राधिका में है। कृष्ण में परानिष्ठा, कृष्ण-सेवा, कृष्ण में सम्भ्रममुक्त परम-स्वजन भव और समभाव, कृष्ण में ममताधिक्य, सांगसंगदान के द्वारा कृष्ण का सुख उत्पादन इन सारी वृत्तियों और चेष्टाओं की अवधि या शेषसीमा राधिका में है।

राधिका में ही प्रेम-प्रकाश की विशेष सीमा है—अथवा राधिका ही प्रेम-स्वरूपता का सत्य और नित्य विग्रह हैं—इसलिए रसमय श्रीकृष्ण के सारे रसमयत्व की अनुभूति और आस्वादन की परम स्फूर्ति राधिका के द्वार पर है। अचिंत्यशक्ति के बल पर इस अभेद में भेदलीला के अन्दर से ही अप्राकृत वृन्दावन में नित्य परम-प्रेमलीला होती है।

हमने पहले ही कहा है कि रूपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ में कृष्ण-शक्ति के रूप में राधा के सम्बन्ध में जितना दार्शनिक विवेचन किया है जीवगोस्वामी ने अपने संदर्भों में उसी का अनुसरण करके विस्तृत किया है। जीवगोस्वामी ने श्रीमद्‌भागवत पुराण को ही ब्रह्म-सूत्रादि की प्रकृष्टतम व्याख्या के रूप में स्वीकार करने के कारण राधा-कृष्ण तत्त्वालोचन के प्रसंग में ब्रह्मसूत्र का अलग से कोई उल्लेख नहीं किया है, भागवत पुराण को ही उन्होंने तत्त्व के सम्बन्ध में श्रेष्ठ प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। परवर्ती काल में एकमात्र बलदेव विद्याभूषण ने गोस्वामियों द्वारा प्रतिष्ठित गौड़ीय वैष्णव धर्ममत का अनुसरण करके 'गोविन्दभाष्य' नाम से ब्रह्मसूत्र का एक भाष्य लिखा था। इस भाष्य में कृष्ण के शक्तितत्त्व और राधातत्त्व का प्रसंगवश जितना विवेचन किया है, वह एक प्रकार से पूर्वोक्त विवेचन के ही अनुरूप है। ब्रह्म की अचिंत्य अनन्त शक्ति है—वे ब्रह्म की स्वाभाविकी हैं—अर्थात् स्वरूप सम्बन्धिनी शक्ति हैं। यह शक्ति तीन हिस्सों में बटी है—परा, क्षेत्रज्ञा अपरा और अविद्यारूपिणी मायाशक्ति। भगवान् की सृष्टि आदि लीला किसी अभाव से जात नहीं हैं, वे आनन्द प्राचुर्य से नृत्य की भांति हैं। अतएव उनकी सृष्टि आदि लीलाएं 'स्वरूपा-नन्द-स्वाभाविकी' हैं। यजुर्वेद में कहा गया है कि श्री और लक्ष्मी भगवान् की दो पत्नियां हैं। यहां कोई कोई कहते हैं कि, श्री रमा देवी हैं, और लक्ष्मी भागवती सम्पत् हैं। दूसरे कहते हैं कि, श्री वाग्‌देवी हैं और लक्ष्मी रमा देवी हैं। ये श्रीशक्ति नित्य-पराशक्ति है; वे प्रकृति के द्वारा अस्पृष्ट

परव्योम में भगवान् के साथ विराज करती हैं; और भगवान् जब अपने को प्रपंच में स्वधाम में प्रकट करते हैं तब श्री भी अपने नाथ के 'कामादि' के विस्तारार्थ अनुगता होती हैं।[1] यहाँ काम शब्द का अर्थ है 'शृंगाराभिलाष', आदि शब्द से तदनुगुणा तत्परिचर्या का बोध होता है। 'आयतन' शब्द से श्री की व्याप्ति और भक्त मोक्षानन्द-विस्तार का बोध होता है। परमात्मा से अभेद के हेतु यह पराशक्ति श्री भी विभुत्वसम्पन्ना है। कहा जा सकता है कि, श्री अगर परा के रूप में विष्णु के साथ अभिन्न समझी जाती हैं तो श्री की विष्णु सम्बन्धिनी भक्ति संभव नहीं होती, क्योंकि अपने प्रति अपनी भक्ति कैसे संभव है? इसके उत्तर में कहा गया है कि श्री भगवान् से अभिन्न होने पर भी भगवान् के विचित्र-गुणरत्नाकरत्व के हेतु और भगवान् श्री के भी मूलतत्त्व होने के कारण परतत्त्व भगवान् में श्री का आदर अवश्यम्भावी है--अतएव तद्भक्ति का लोप नहीं हो रहा है। ऐसी कोई शाखा नहीं है जो वृक्ष का आदर नहीं करती है--ऐसी चन्द्रप्रभा नहीं है जो चन्द्र का आदर नहीं करती है।[2]

श्री भगवान् और उनकी पराशक्ति में जिस 'काम' और शृङ्गाराभिलाष की बात कही गई, इस प्रसंग में और भी प्रश्न हो सकता है कि--विषय-आश्रय के भेद और आलम्बन, उद्दीपनादि विभावभेद से ही रत्यादि स्थायि-भाव और उसको फलस्वरूप शृङ्गाराभिलाष संभव हो सकता है; अभेदतत्त्व में तो इसकी कोई संभावना नहीं है। इसके उत्तर में कहा गया है कि, यद्यपि शक्ति और उसका आश्रय (अर्थात् शक्तिमान्) ये दोनों अभिन्न हैं तथापि तीन कारणों से उनके अन्दर कामादिगुणों का उदय सिद्ध हो रहा है; पहली बात है, अभेद के होते हुए भी पुरुषोत्तम के ही शक्ति का आश्रय होने के कारण, दूसरी बात है, शक्ति युवतीरत्न के रूप में उपस्थित होती है इसलिए, और तीसरी बात है, ये कामादि पुरुषोत्तम के स्वारामत्त्व और पूर्त्यादि के अनुगुण हैं इसलिए। अथर्वोपनिषद् में कहा गया है, "जो काम के द्वारा काम की कामना करता है वही सकामी होता है, और जो अकाम के द्वारा काम की कामना करता है वह अकामी होता है।" 'अकाम' शब्द का 'अ' यहाँ सादृश्यार्थ में नञ् है; तो 'अकाम' के द्वारा शब्द का अर्थ हुआ, कामतुल्य प्रेम के द्वारा भगवान् और उनकी शक्ति के अन्दर

---

(१) कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः।

(२) सत्यप्यभेदे विचित्रगुणरत्नाकरत्वेन स्वमूलत्वेन च श्रियः परस्मिन्नादरात्तद्भक्तेरलोपः। न खलु वृक्षमनाद्रियमाणा शाखास्ति न च चन्द्रं तत्प्रभा। (३ अ, ३ पा)

का यह प्रेम 'आत्मानुभवलक्षण' है, अर्थात् स्वरूपानन्द के अन्दर जो विचित्र लहर है उसके अन्दर से विचित्ररूप में आत्मोपलब्धि ही इस प्रेम का लक्षण है। इस प्रकार के आत्मानुभव-लक्षण प्रेम का जो विषय है (अर्थात श्रीविग्रहा राधादि की भाँति स्वरूपशक्ति) उसकी कामना करके भगवान अपने स्वारामत्व और पूर्णत्व का कभी भी अतिक्रमण नहीं करते हैं; स्वात्मभूता श्री आदि के स्पर्शजनित जो उदग्र आनन्द है वह आपही अपने सौन्दर्य वीक्षण की भाँति है।[१] वास्तव में परतत्त्व नित्य ही 'पराख्य-स्वरूपशक्ति विशिष्ट' है; यह परतत्त्व जब स्वप्राधान्य से स्फूर्ति पाता है तभी वह पुरुषोत्तम की संज्ञा पाता है; और जब परतत्त्व पराख्यशक्ति के प्राधान्य के कारण स्फूर्ति प्राप्त करता है तब वह धर्मादि संज्ञा पाता है। पराशक्ति ही भगवान् के ज्ञान-सुख-कारुण्य-ऐश्वर्य-आदि के माधुर्य-धर्मरूपा होकर स्फुरित होती है। वह शक्ति ही शब्दाकार में नामरूपा, धरादि-आकार में धामरूपा होकर प्रकट होती है; और वही पराशक्ति 'ह्लादिनीसार-समवेत-संविदात्मक' (अर्थात् ह्लादनी का सार धनीभूत होकर जिस गहरे संवित् को उत्पन्न करता है वही संवेदात्मक) युवतीरत्न के रूप में श्रीराधादि के अन्दर विग्रहवती होती है। इसलिए शक्ति और शक्तिमान् रूप राधा-कृष्ण का अभेद सत्य होने पर भी अखण्ड अद्वय-स्वरूप के अन्दर 'विशेषविजृम्भित' भेदकार्य के द्वारा राधादिरूप विभाव का वैलक्षण्य विभावित होने पर ही शृंगाराभिलाष सिद्ध होता है। पराशक्ति की यह जो राधादि के रूप में धर्मादिरूपता है यह किसी कारण की अपेक्षा करके बाद में घटती है ऐसी बात नहीं, यह धर्मादिरूपता ही अनादि-सिद्ध है; अतएव इस प्रेमाभिलाष के द्वारा श्रीभगवान् की पूर्णस्वरूपता को कोई हानि नहीं पहुँची।

---

(१) **तेनात्मानुभवलक्षणेन विषयकामना खलु स्वारामत्वं पूर्णताञ्च नातिक्रामतीति स्वात्मकश्रीस्पर्शादुदग्रानन्दस्तु स्वसौन्दर्यवीक्षणादेरिव बोध्यः।**
(३अ, ३पा)

नवम अध्याय

पूर्वालोचित प्राचीन भारतीय विविध शक्तितत्त्व और गौड़ीय राधातत्त्व

हमने ऊपर पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण के विविधशक्ति-तत्त्व का विवेचन करके राधातत्त्व के सम्बन्ध में जो विचार किया वही गौड़ीय वैष्णवमत के अनुसार राधिका का दार्शनिक परिचय है। इस दार्शनिक ढांचे में पुराने उपाख्यान और किम्वदन्तियां, सूक्ष्मसुकुमार-कविकल्पना का अजस्र दान और भक्त-हृदय का परम श्रेयोबोध तथा विचित्र रम्यबोध एकत्र समाविष्ट होकर श्रीराधा की सौन्दर्यमयी और प्रेममयी मूर्ति को बहु-विचित्रता और विस्तारप्रदान किया है। राधा के इस बहु विचित्र रूप का परिचय देने के पहले ऊपर राधा के बारे में हमें जितना दार्शनिकतत्त्व मिला हमारे पूर्वालोचित शक्तितत्त्व से वह कहां कितना मेल खाता है, उसकी योजना में कहां अभिनवत्व या वैशिष्ट्य है इसके बारे में यहाँ थोड़ा सा विवेचन कर लेना जरूरी है। इस विवेचन के अन्दर से विभिन्न-युगों में कल्पना किया गया लक्ष्मीतत्त्व किस प्रकार से क्रमशः राधातत्त्व में परिणत हुआ है वह धारा भी समझ में आ जायगी।

हमने ऊपर राधातत्त्व के विषय में जो कुछ लिखा और जिस राधा-तत्त्व का वैष्णव साहित्य और अलंकार-ग्रंथों में बहुविचित्र विस्तार देखते हैं, उस राधातत्त्व में हमें कई चीजें दिखाई पड़ती हैं—

(१) भगवान् की स्वाभाविक अचिंत्य अनन्त शक्तियों में तीन प्रधान ह। प्रथम स्वरूपशक्ति; द्वितीय, जीवशक्ति और तृतीय मायाशक्ति। इनमें पहली अप्राकृत है और बाकी दोनों प्राकृत हैं।

(२) इस अप्राकृत स्वरूपशक्ति की सारभूता शक्ति है ह्लादिनी शक्ति, उसी ह्लादिनी-शक्ति का सारभूत विग्रह है श्रीराधा का तनु।

(३) ह्लादिनी-शक्ति-विग्रहा श्रीराधा के साथ ही नित्य-वृन्दावन में श्रीभगवान् नित्य-लीला करते हैं।

(४) एक ओर रस, दूसरी ओर प्रेम-भक्ति के रूप में राधिका का भगवत् कोटि और जीवकोटि इन दोनों में ही विस्तार है। जिस प्रकार राधा भगवान् की आनन्द-विधायिनी हैं, उसी प्रकार प्रेमभक्ति के दान में जीव के प्रति कृपा-वितरण में भी राधिका ही मुख्य करण और कारण हैं।

(५) प्रेमरूपिणी राधा के द्वार पर ही कृष्ण का स्वरूपानुभव होता है; परम विषय के रूप में कृष्ण के स्वरूप की उपलब्धि के स्थल में राधिका ही अनादिसिद्ध मूल आश्रय हैं।

हम पहले विभिन्न शास्त्रों के व्याख्यान में शक्तितत्त्व के सम्बन्धमें जो विवेचन कर आए हैं उसे इस प्रसंग में याद रखने से दिखाई पड़ेगा कि राधातत्त्व के बहुतेरे दार्शनिक उपादान पूर्ववर्तियों के मतवाद में बिखरे हुए हैं। हम ऊपर उल्लिखित उपादान के सम्बन्ध में अलग अलग संक्षेप में विचार करेंगे।

(१) पंचरात्र से लेकर सभी शास्त्रों में हमें शक्ति के मुख्यतः दो भेद मिलते हैं; पंचरात्र में शक्ति को पराशक्ति और प्राकृतशक्ति के रूप में वर्णित होते देखते हैं। यह पराशक्ति भगवान् की समवायिनी शक्ति है, यही गौड़ीयगण की स्वरूपशक्ति है। पंचरात्र के मतानुसार भी इस समवायिनी पराशक्ति से सृष्टिकार्य का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, सृष्टि आदि कार्य भगवान् की प्राकृतशक्ति के द्वारा साधित हो रहे हैं, यह प्राकृत शक्ति ही माया है। काश्मीर शैवदर्शन में भी हम इसी तरह के सिद्धांत की बात देख आए हैं, वहाँ भी परम शिव की शक्ति को समवायिनी-शक्ति और परिग्रहा-शक्ति में बाँटा गया है। परिग्रहा-शक्ति ही प्राकृत मायाशक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीता और विष्णुपुराणादि में इस परा स्वरूपशक्ति और जड मायाशक्ति के बीच में जीवभूता क्षेत्रज्ञाख्या शक्ति का उल्लेख मिला, इसीसे तटस्था-जीव-शक्ति का उद्भव होता है।

(२) पूर्वालोचित सर्वक्षेत्रों के शक्तितत्त्व के अन्दर हम देख आए हैं कि, शक्ति आनन्दरूपिणी है। यह आनन्द ही सर्वशक्तियों का सारभूत है यह बात साफ-साफ वर्णित या व्याख्यात न होने पर भी हम देखते हैं कि शक्ति के और और जो भी व्यापार और वृत्तियाँ क्यों न हों, अपने मूल-रूप में वह परमानन्दरूपिणी हैं। वैष्णव, शैव और शाक्त मत में सर्वत्र इसका आभास मिलेगा। काश्मीर शैवसिद्धान्त में आनन्दशक्ति परम शिव की पंचशक्तियों में एक अलग शक्ति है; पुराणादि में इस मत की प्रति-ध्वनि मिलती है। लेकिन परम शिव की आनन्दशक्ति के रूप में एक अलग शक्ति स्वीकार करने की अपेक्षा शक्ति की मूल वृत्ति से उनके आनन्द-मयित्व की प्रधानता प्रायः सर्वत्र स्वीकार की गई है। इस शक्तिवाद पर प्रतिष्ठित होकर कृष्ण की चरमोत्कर्ष प्राप्त शक्ति राधा ने ह्लादिनी-रूपत्व प्राप्त किया है। यह बात अवश्य है कि इसपर प्रेमभक्ति के आदर्श की प्रधानता होने के कारण और प्रेमस्वरूपता तथा ह्लादस्वरूपता

के एक ही होने के कारण राधिका के ह्लादिनी रूप ने उत्तरोत्तर प्रधानता पाई है । इसी प्रसंग में हम शैवशाक्ततंत्र और योग-शास्त्रादि में व्याख्यात एक और तत्त्व की ओर दृष्टि आकर्षित करना चाहते हैं । हम इन शास्त्रों में बहुतेरे स्थलों पर देखते हैं कि शक्ति षोडशकलात्मिका हैं । कृष्ण की इस षोडशकलात्मिका शक्ति से सोलह गोपियों का उद्भव हुआ है, उसका उल्लेख हम पहले कर आए हैं । तंत्र और योग ग्रंथों में हम यह भी देखते हैं कि चन्द्र की सोलह कलाएँ विकारात्मिका हैं, अतएव परिवर्त्तनशीला हैं । लेकिन इन विकारात्मिका सोलह कलाओं के अतिरिक्त चन्द्र की एक अपनी कला भी है । इस कला को चन्द्र की 'सप्तदशी कला' कहते हैं; यह सप्तदशी कला ही चन्द्र की अमृत-कला है, यही परमानन्द-मयी है । तंत्र या योग-शास्त्र की भाषा में विकारात्मिका सोलह कलाएँ 'प्रवृत्ति-राज्य' की वस्तुएँ हैं, और आनन्दरूपिणी, अमृतरूपिणी सप्तदशी कला 'निवृत्ति-राज्य' की वस्तु है । इसी को वैष्णवों की भाषा में अप्राकृत वृन्दावन धाम की वस्तु कहा जा सकता है । योग-तंत्रादि की दृष्टि से कहा सकता है कि अमृतरूपिणी चन्द्र की अपनी सप्तदशी कला ही राधिका है, यह अविकारभाव से स्वरूप में अवस्थान करके अमृतात्मक आश्रय के रूप में विषय को नित्यानन्द से निमग्न रख रही है ।

इस प्रसंग में हम यह भी देख सकते हैं कि आत्ममाया और योगमाया का अवलम्बन करके ही भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सारी प्रेमलीलाएँ करते हैं । इस योगमाया ने गौड़ीय वैष्णव साहित्य में 'पौर्णमासी' रूप धारण किया है । यह 'पौर्णमासी' प्रेम-संघटन में परमाभिज्ञा वर्षीयसी रमणी के रूप में चित्रित की गई है । रूपगोस्वामी के 'विदग्ध-माधव' और 'ललित-माधव' नाटकों में इस भगवती पौर्णमासी को सावित्री जैसी रूपशालिनी, सन्दीपनि मुनि की जननी, देवर्षि नारद की शिष्या, वक्षःस्थल पर काषाय वस्त्र-धारिणी और मस्तक पर काश के फूल की भाँति शुभ्र केश-धारिणी के रूप में वर्णन किया गया है ।[१] नाना प्रकार से राधा-कृष्ण का मिलन कराना ही उनका काम है; लेकिन मिलन-लीला में उनका कोई स्थान या अधिकार नहीं है । योगमाया के इस 'पौर्णमासी' नाम की क्या सार्थकता है ? सोलह कला की पूर्णिमा के उदय के बाद सप्तदशी कला से स्वरूपलीला होती है । 'पौर्णमासी' का क्या यही तात्पर्य है ? श्रीकृष्ण की प्रेमलीला में वैशाखी-पूर्णिमा, झूलन पूर्णिमा, रास पूर्णिमा, दोल (होली) पूर्णिमा आदि

---

(१) **दोनों नाटकों के प्रथम अंक ।**

पूर्णिमाओं का आविर्भाव इस प्रसंग में देखा जा सकता है। पौर्णमासी या पूर्णिमा ही सोलह कलाओं की पूर्ति द्वारा मानो सप्तदशी कला की अमृत-मयी लीला के लिए क्षेत्र तैयार कर देती है।

(३) राधा कृष्ण की स्वरूपशक्ति के रूप में शक्तिमान् कृष्ण से अभिन्न हैं; लेकिन अभेद में कभी भी लीला संभव नहीं होती, इसलिए हम देखते हैं कि वैष्णवगणने नाना प्रकार से अभेद में ही एक भेद मान कर लीला की स्थापना की है। भारतीय शक्तिवाद पर विवेचन करते हुए हमने शुरू से ही देखा है कि इस अभेद में एक भेद-विश्वास लेकर ही समग्र भारतीय शक्तिवाद की प्रतिष्ठा हुई है। यह अभेद में भेदवाद कहीं भी किसी दृढ़ दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित है ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह बात धर्मविश्वास के क्षेत्र में भारतीय मानस की एक विशेष प्रवणता के रूप में ही बारम्बार आत्मप्रकट हुई है।

हमने पहले देखा है कि वैष्णवों ने और विशेष करके गौड़ीय वैष्णवों ने स्वरूप-लीलावाद को विशेष प्रधानता दी है। क्या पंचरात्र में, क्या काश्मीर-शैव-सिद्धान्त में हम ने शक्तिवाद के प्रसंग में जो लीला देखी है, वहाँ स्वरूपलीला की बात कम, प्राकृत मायाशक्ति के द्वारा सृष्टि आदि लीला की बात मुख्य मानी गई है। ब्रह्मसूत्र के 'लोकवत् तु लीला-कैवल्यम्' सूत्र के भाष्य में प्राचीन वैष्णवों ने जगत्-प्रपंच-लीला की बात ही कही है। इस स्वरूपलीला पर कोई जोर-दबाव नहीं है। इसीलिए प्राचीन वैष्णवों ने शक्ति और शक्तिमान् के भेद को स्पष्टतः सत्य नहीं माना है। कहीं इस भेद को औपचारिक सत्य, कहीं भेद का अवभास मात्र, और कहीं भेद का भान मात्र कहा गया है। लेकिन हम देखते आये हैं कि बारहवीं सदी के लीलाशुक और जयदेव की काव्य-रचना में ही स्वरूप-लीला की प्रतिष्ठा दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार की स्वरूपलीला की प्रतिष्ठा पर ही गौड़ीय वैष्णवों का सारा साध्य-साधन-तत्त्व प्रतिष्ठित है। इसीलिए हम देखते हैं कि गौड़ीय वैष्णवों ने राधा-कृष्ण के भेद को केवल औपचारिक भेद का अवभास या भान नहीं कहा है। उन्होंने इस अभेद में भेद को भी सत्य कहा है, लीला को भी उन्होंने सत्य और नित्य स्वीकार किया है। परिकर के रूप में इस लीला का स्मरण और लीला का आस्वादन—यही गौड़ीय भक्तों का परम साधन और साध्य है। श्रीकृष्ण की गोपलीला के प्रसार और प्रतिष्ठा का अवलम्बन करके ही इस स्वरूप-लीलावाद का क्रम-प्रसार और क्रम-प्रतिष्ठा हुई है।

इस प्रसंग में एक और भी बात देखी जा सकती है। लीलावाद के क्रम-प्रसार और प्रतिष्ठा के मूल में शक्ति का प्रेम-रूपिणीत्व है, तंत्रादि में स्वरूप-लीलावाद का कोई खास विकास न होने का कारण है कि शक्ति वहाँ 'शक्ति' या 'बल' ही रह गई है । लेकिन यदि हम वैष्णवशास्त्र में विष्णु-शक्ति का क्रमविकास देखें तो पता चलेगा कि धीरे-धीरे शक्ति पहले प्रेमोन्मुखी होकर अंत में प्रेममात्रता में परिणत हुई; शक्ति ज्यों-ज्यों प्रेम के रूप में बदलती गई, स्वरूप-लीला की स्फूर्ति और लीलावाद की उतनी ही प्रतिष्ठा होने लगी। तंत्रादि में वर्णित शक्ति के अन्दर जहाँ-तहाँ सौन्दर्य-माधुर्य का आभास होने पर भी उनकी अनन्तबलयुक्त क्रियात्मकत्व ने प्रधानता पाई है। लेकिन विष्णुशक्ति श्री या महालक्ष्मी के अन्दर के सौंदर्य-माधुर्य का पक्ष ही बड़ा होकर दिखाई पड़ा है। राधा में आकर शक्ति विशुद्ध ह्लादिनी के रूप में परिणत हुई। इस ह्लादिनी का सार है प्रेम, प्रेम का सार है भाव, भाव का सार है महाभाव—श्रीराधा महाभाव-स्वरूपा हैं। प्रेम-सौंदर्य में यह महाभाव-स्वरूपिणी राधा तंत्रादि में वर्णित शक्ति से रूप और गुण में बहुत कुछ अलग हो गईं। इसके फलस्वरूप राधातत्त्व वास्तव में शक्ति तत्त्व को छोड़कर और कुछ नहीं है, यह बात धीरे-धीरे मानों यवनिका के अन्तराल में विलीन हो गई। प्रेम में राधा इस तरह रूपान्तरित हो गई हैं कि तत्त्वालोचन न करने से वैष्णव-साहित्यादि में वर्णित राधा को शक्ति के रूप में पहचाना ही नहीं जा सकता। यही राधा का वास्तविक 'कमलिनी' रूप है। शक्ति-तत्त्व से शुरू करके क्रम-विकास के फलस्वरूप रूप-रस-वर्ण-गंध-सौंदर्य-प्रेम के पूर्णशतदल के रूप में प्रस्फुरण हुआ है। पुराणादि में गोपियों को लेकर व्रजधाम में इस लीला का क्रमशः प्रसार—श्रीराधिका के साथ इस लीला की यही परिपूर्णता है।

(४) राधिका भगवत्-कोटि और जीव-कोटि दोनों ही में विचरण करती हैं। यह बात प्राचीन धारा ही की नवपरिणति है। जीव को कृष्ण-प्रेम के द्वारा अनुगृहीत करने में ह्लादिनी-रूपिणी राधिका ही कारण हैं। हम अपने पूर्वालोचित लक्ष्मीतत्त्व के अन्दर भी इस तत्त्व को देख आये हैं। विशेष रूप से श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में परिगृहीत लक्ष्मीतत्त्व के विवेचन के प्रसंग में हमने विस्तृत रूप से लक्ष्य किया है कि किस तरह से लक्ष्मी जीव और भगवान् के बीच में करुणामूर्ति में और प्रेममूर्ति में विराजमाना हैं; करुणा से विगलित होकर जीव को भगवन्मुखी करा रही है और प्रेम के बलपर भगवान् को जीवोन्मुखी कर रहीं है। इसी की परिणति राधिका के भक्तिरूप में जीवानुग्रह में हुई है—और रसमयी के रूप में कृष्ण की मनःकामना की पूर्ति

में। यही तत्त्व परवर्ती काल में गोविन्द अधिकारी के शुक-सारी के द्वन्द्व में बड़े सुन्दर ढंग से प्रकट हुआ है—

शुक बले आमार कृष्ण जगतेर गुरु ।
सारी बले आमार राधा वांछाकल्पतरु ।।

श्रीसम्प्रदाय के लक्ष्मीतत्त्व के विवेचन के प्रसंग में हमने कहा है कि एक असीम करुणामूर्ति में जीव और भगवान् के बीच 'मध्यस्थ' के रूप में शक्ति का यह जो अवस्थान है, यही भारतीय शक्तिवाद की विशेषता है, सभी तरह के भारतीय शक्तिवाद के अन्दर ही हम शक्ति के इस प्रकार के एक विशेष कार्य को देख सकते हैं।

(५) राधा के द्वार पर ही कृष्ण के स्वरूपानन्द अनुभव का चरम उत्कर्ष होता है, यह तत्त्व भी भारतीय शक्तिवादकी एक विशेष परिणति है। शक्ति के सान्निध्य के बिना शिव शव हो जाते हैं, भारतीय शक्तिवाद के इस बहुप्रचलित कथन के अन्दर ही राधावाद का यह तत्त्व निहित है। काश्मीर शैवदर्शन के विवेचन के प्रसंग में हमने देखा है कि शक्ति के द्वार पर परमशिव की आत्मोपलब्धि का तत्त्व काश्मीर शैवदर्शन में बड़े सुन्दर ढंग से विकसित हुआ है। वहाँ शक्ति को परमशिव की 'विमल-आदर्श-रूपिणी' कहकर वर्णन किया गया है। शक्ति-रूपी दर्पण में परमशिव का प्रतिफलन होता है और उस परम-प्रतिफलन के अन्दर से ही परमशिव का स्वरूपानुभव होता है। शक्ति परमशिव की सभी इच्छाओं या कामों को पूर्ण करती है इसीलिए शक्ति को कामेश्वरी कहा गया है। इस विषय पर हम पहले ही विस्तारपूर्वक विचार कर आए हैं; इसलिए यहाँ उनकी पुनरुक्ति नहीं की।

—:०:—

दशम अध्याय

दार्शनिक राधातत्त्व के विविध विस्तार

जीवगोस्वामी ने श्रीराधातत्त्व को जहाँ तक संभव है एक दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि उनके इस तत्त्वालोचन की प्रेरणा और संभवतः उनके अनेक तथ्य और तर्क रूप, सनातन और गोपालभट्ट आदि से लिये गए थे। रूपगोस्वामी में काव्य और दर्शन का अपूर्व समन्वय हुआ था; इसीलिए उन्होंने राधा को काव्य और अलंकार की अपनी दृष्टि से नाना प्रकार से प्रसारित कर लिया था। गौड़ीय गोस्वामियों के आविर्भाव के बहुत पहले ही वृन्दावन-मथुरा-द्वारका में श्रीकृष्ण की विचित्र लीला काव्य-पुराणादि में बहु प्रकार से पल्लवित हो उठी थी। सोलहवीं शताब्दी के पहले राधा की कहानी भी पल्लवित हो उठी थी। वृन्दावन के गोस्वामियों को जब राधा-कृष्ण तत्त्व की व्याख्या करनी पड़ी तो श्रीकृष्ण की विचित्रलीला से सम्बन्धित उपाख्यानों को उन्हें लेना पड़ा और उनके मूलसिद्धान्त से संगति रखकर व्याख्या करनी पड़ी। इस चेष्टा के फलस्वरूप श्रीकृष्ण को केन्द्रित करके उनकी पुरुषोत्तम मूर्ति के चारों ओर नित्य नूतन तत्त्व निर्मित हो रहे थे। श्रीविष्णु से विविध शक्ति के संस्रव की बात हम पहले देख आए हैं। विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं से मिलकर अनेक महिषी और प्रेयसियों का आविर्भाव हुआ है। इनके प्रति श्रीकृष्ण के प्रेम में तारतम्य अवश्य ही था; उसी प्रेम के तारतम्य को लेकर विविध तत्त्वों का उद्भव हुआ है। अतएव गौड़ीय वैष्णव धर्म के बहुतेरे प्रेमतत्त्व मूलतः दार्शनिक प्रयोजन या धर्म के प्रयोजन से उत्पन्न नहीं हुए, ये लीला को सत्य और नित्य मानकर और पुराणादि में वर्णित कहानियों को भी अभ्रान्त मानकर बहुतेरे स्वविरोधों के सम्मुखीन हुए थे; उस विरोध और असंगति को दूर कर सारी लीलाओं को यथासंभव दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने में गोस्वामियों को इसके बहुतेरे तत्त्वों को नए सिरे से गढ़ना पड़ा है।

हम पुराणादि में कृष्ण की विवाहित अनेक पत्नियों का उल्लेख देख आए हैं, इनमें आठ पत्नियों की कहानी ही प्रसिद्ध है। विदर्भ-राज भीष्मक की कन्या रुक्मिणी कृष्ण की विवाहिता पत्नियों में सर्वत्र श्रेष्ठ

बताई गई हैं। सत्यभामा, जाम्बवती आदि दूसरी पत्नियों की संख्या और नामों की तालिका के विषय में हरिवंश और पुराणादि में कठोर ऐक्य नहीं दिखाई पड़ता है। बंकिमचन्द्र ने दिखाया है कि भिन्न-भिन्न तालिकाओं में कृष्ण की जिन पत्नियों के नाम मिलते हैं उनकी संख्या बाइस होती है।[१] यह हुई कृष्ण की विवाहिता पत्नियों की बात। व्रजलीला के प्रसार के साथ अनगिनत गोपियों के साथ कृष्ण के प्रेम-सम्बन्ध के उल्लेख मिलते हैं। राधा भी इन्हीं में से एक गोपी है। इस पौराणिक विवरण और दार्शनिक विवरण में एक संगति स्थापित करना जरूरी है, इसलिए गोस्वामियों ने सभी प्रकार की वल्लभाओं को नाना प्रकार से श्रेणी-विभक्त करके लीला-विस्तार में उनके लिए अलग अलग स्थानों का निर्देश किया है और इस द्वारा श्रेणीभेद श्रीराधा की ही श्रेष्ठता सिद्ध करने की चेष्टा की है।

रूपगोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रंथ के 'कृष्णवल्लभा' अध्याय में कहा है कि जो वल्लभाएँ साधारण गुणसमूहयुक्त हैं और जो विस्तीर्ण प्रेम और सुमाधुर्य सम्पद् के अग्रभाग में आश्रय लिए हुए हैं वे ही कृष्ण-वल्लभा हैं। इन कृष्ण-वल्लभाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है—स्वकीया और परकीया। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि कृष्ण की विवाहिता, पति-आदेश-तत्परा और पातिव्रत्य में अचल स्त्रियाँ ही स्वकीया हैं और कृष्ण की गोपी प्रेयसीगण सभी कृष्ण की परकीया वल्लभाएँ हैं। रूपगोस्वामी के मतानुसार द्वारकापुरी में श्रीकृष्ण की स्वकीया महिषियों की संख्या ही सोलह हजार आठ है, इनमें रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, कालिन्दी, शैव्या, भद्रा, कौशल्या और माद्री ये ही प्रधाना हैं; अतएव ये पट्टमहिषी के रूप में ख्यात हैं। इनमें रुक्मिणी ऐश्वर्य में श्रेष्ठ और सत्यभामा सौभाग्य में अधिक हैं।

वास्तव में कृष्ण की सभी प्रेयसियाँ स्वकीया हैं, व्रजकन्याएँ सभी स्वकीया हैं; कारण यह है कि यथार्थ में इन व्रजकन्याओं ने अपना देह-मन सर्वस्व कृष्ण को अर्पण किया था। कृष्णार्पण ही उनका यथार्थ अर्पण है, प्रकट रूप में उनकी पति आदि की प्राप्ति एक भान मात्र है—इस विषय में आगे हम विशद विचार करेंगे, इसलिए यहाँ अधिक नहीं लिखना चाहते। इस स्वकीया और परकीया के अलावा कृष्ण की एक 'साधारणी' नायिका हैं कुब्जा। बहु-नायक-निष्ठा नायिकाओं को साधारणी कहा गया है। लेकिन कुब्जा बहु-नायक-निष्ठा नहीं है, एकमात्र कृष्ण के प्रति प्रीति होने के कारण कुब्जा भी कृष्ण-वल्लभा के रूप में गण्य है।

---

(१) **कृष्ण-चरित्र, तृतीय खण्ड, ७म परिच्छेद देखिए।**

प्रकट लीला में गोपियों का परकीयापन स्वीकार किया गया है। परकीया दो प्रकार की होती हैं—'कन्या' और 'परोढ़ा'। धन्या आदि जो अविवाहिता व्रज-कुमारियाँ कृष्ण के प्रति आसक्त थीं वे ही कन्या हैं, और जो गोपियाँ दूसरे गोपगणों द्वारा विवाहिता होने पर भी कृष्ण के प्रति आसक्त थीं, वे ही परोढ़ा हैं। ये परोढ़ा व्रजसुन्दरियाँ ही कृष्ण-वल्लभाओं में श्रेष्ठ हैं। ये शोभा, सद्‌गुण और वैभव से सर्वातिशायिनी हैं, ये रमादेवी से भी अधिक प्रेमसौन्दर्य-भर-भूषिता हैं। ये परोढ़ा गोपियाँ तीन प्रकार की हैं—'साधनपरा', 'देवी' और 'नित्यप्रिया'। पूर्वजन्म की साधना से जो भक्तादि गोपीदेह पाते हैं, वे ही साधनपरा गोपी हैं। ये साधनपरा गोपियाँ दो प्रकार की होती हैं—'यौथिकी' और 'अयौथिकी'। जो अपने गण के साथ साधन में रत होती हैं, वे यौथिकी हैं। यौथिकी दो प्रकार की होती हैं—'मुनि' और 'उपनिषद्'। पद्मपुराण में हम देखते हैं कि गोपाल-उपासक दंडकारण्यवासी मुनियों ने ही श्रीकृष्ण का सौंदर्य-माधुर्य आस्वादन करने की कामना लेकर साधना द्वारा गोपीदेह लाभ किया था। उपनिषद्‌गण के सम्बन्ध में कहा गया है कि, जो अखिल महा-उपनिषद्‌गण गोपियों का असमोर्ध्व सौभाग्य देखकर श्रद्धा के साथ तपस्या करके प्रेमाढ्या गोपी के रूप में व्रज में पैदा हुए थे, वे ही उपनिषद्-गण हैं। कोई भी भक्त जब गोपीभाव से वद्धराग होकर साधन में रत होता है और उत्कंठा के कारण गोपियों का अनुग-भाव से भजन करते-करते गोपीभाव और गोपीदेह लाभ करता है तब वही अयौथिकी गोपी कहलाती हैं। इस प्रकार की गोपियों में प्राचीनागण सुदीर्घ काल की साधना के फलस्वरूप 'नित्यप्रिया' गोपियों के साथ सालोक्य प्राप्त होती हैं। नवीनागण मर्त्यामर्त्य बहुतेरी योनियों में भ्रमण करने के बाद व्रज में आकर गोपी के रूप में जन्म लेती हैं।

हमने पहले देखा है कि जीव में उभयकोटि में (अर्थात् जीवकोटि और भगवत्-कोटि) प्रवेश करने की सामर्थ्य है। प्रेम-भक्ति के बल पर साधन-भजन द्वारा जीव पहले भगवान् के स्वरूपभूत धाम में प्रवेश करने का अधिकार पाता है और उस धाम में अपनी साधना के उपयोगी भगवान् का लीलापरिकरत्व पाता है। इन साधक भक्तों में जो उत्तम अधिकारी हैं, वे ही धामश्रेष्ठ व्रजधाम में प्रवेश करके अपनी आकांक्षाओं के अनुसार कृष्ण-वल्लभा के रूप में गोपीदेह पाते हैं। अतएव गोपियों में दो प्रकार की गोपियाँ हैं। जो नित्यकाल के लिए मधुर वृन्दावन में श्रीकृष्ण की लीलासंगिनी है, वे ही नित्यप्रिया गोपी हैं, दूसरे प्रकार की गोपियाँ जीव के ही साधनलब्ध

दिव्यप्रेमवपु हैं। यह साधनपरा-गोपीतत्त्व ही जीव का साध्य है, नित्यप्रिया-गोपीत्व कभी भी साध्य वस्तु नहीं है, यह नित्यसिद्ध है।

इन साधनपरा गोपियों और नित्यप्रिया गोपियों के बीच में और एक प्रकार की गोपियों का उल्लेख किया गया है; इन्हें 'देवी' कहा जाता है। जब-जब पूर्णभगवान् श्रीकृष्ण अंशरूप में देवयोनि में जन्म लेते हैं, तब उनके संतोष-साधन के लिए नित्यप्रियाओं के अंशों का भी जन्म होता है, यही देवी नाम से ख्यात हैं। कृष्णावतार में यही देवियाँ गोपकन्या के रूप में नित्यप्रियागणों की प्राणतुल्य सखी-स्थानीय होती हैं। नित्यप्रिया गोपियों में राधा, चन्द्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैव्या, भद्रा, तारा, चित्रा, गोपाली, धनिष्ठा और पालिका आदि प्रधान हैं। राधा आदि आठ प्रधान गोपियाँ यूथेश्वरी कहलाती हैं, क्योंकि, इनमें से प्रत्येक का एक यूथ है और उस यूथ में तद्भावभाविनी असंख्य गोपियाँ हैं। इनमें राधा और चन्द्रावली का ही प्राधान्य है। इन दोनों में सर्वांश में राधा का ही उत्कर्ष है। अब हम देखते हैं कि राधा ही कृष्ण-वल्लभाओं में सर्वांश श्रेष्ठ हैं—सर्वथाधिका हैं। ये महाभावस्वरूपा और गुणसमूह के द्वारा 'अतिवरीयसी' हैं। प्रेम-सौन्दर्य की पराकाष्ठा इस राधा का कवित्वमय वर्णन करते हुए रूपगोस्वामी ने कहा है—यह वृषभानु-नन्दिनी (१) 'सुष्ठुकान्तस्वरूपा', (२) धृतषोडशशृंगारा और (३) द्वादशाभरणाश्रिता हैं। पहले 'सुष्ठुकान्तस्वरूपा' का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जिस राधिका के रूपोत्सव से त्रिभुवन विधूनित होता है, उस राधिका के केशदाम संकुचित हैं, दीर्घ नयनों वाला मुख चंचल है, कठोर कुचों से वक्षःस्थल सुन्दर है, मध्यदेश क्षीण है, स्कन्धदेश अवनमित है, हस्तयुगल नखरत्नशोभित हैं। राधिका के सोलहों शृंगारों में देखते हैं कि राधिका स्नाता हैं, उनके नासाग्र में मणियाँ हैं, वे नीलवसन पहने है, उनके कटितट पर नीवी हैं, मस्तकपर बँधी वेणी है, कानों में उत्तंस हैं, वे चन्दनादि से चर्चितांगी हैं, वे कुसुमितचिकुरा माल्यधारिणी हैं, पद्महस्ता हैं, उनके मुखकमल में ताम्बूल, चिकुर पर कस्तूरी विन्दु है, वे कज्जलित-नयना हैं, सुचित्रा अर्थात् कपोल आदि चित्रित है, चरणों में महावर है और ललाट पर तिलक है। राधिका के द्वादश आभरण हैं, माथे पर मणीन्द्र, कानों में स्वर्णमय कुण्डल, नितम्ब पर काँची, गले में स्वर्णपदक, कानों पर स्वर्णशलाका, करों में वलय, कंठ में कंठभूषण, उँगलियों में अंगूठियाँ, वक्ष पर तारानुकारी हार, भुजों पर अंगद, चरणों में रत्ननूपुर, पैरों की उँगलियों में तुंग अंगुरीयक।

इस वृन्दावनेश्वरी के अनन्त गुण हैं। उनमें से कुछ मुख्य-मुख्य गुण उल्लिखित हुए हैं, जैसे, मधुरा, नववया, चलापांगा, उज्ज्वलस्मिता, चारु-सौभाग्य-रेखाढ़्या, गंधोन्मादित-माधवा (अर्थात् जिसके अंग के सुगंध से माधव पागल हो उठते हैं), संगीतप्रसराभिज्ञा, रम्यवाक्, नर्मपंडिता, करुणापूर्णा, विदग्धा, पटवान्विता (चातुर्यशालिनी), लज्जाशीला, सुमर्यादा, धैर्यगांभीर्यशालिनी, सुविलासा, महाभाव-परमोत्कर्षतर्षिणी, गोकुलप्रेम वसति (अर्थात् गोकुलवासी सभी के स्नेह प्रीति की बस्ती स्वरूप), जगच्छ्रेणीलसद्‌यशा (अर्थात् जिसके यश से सारा संसार व्याप्त है), गुर्वर्पितगुरुस्नेहा (गुरुजनों की अत्यन्त स्नेहपात्री), सखीप्रणयितावशा, कृष्णप्रियावलीमुख्या, सन्नता-श्रवकेशवा (सर्वदा ही केशव जिसकी आज्ञा के अधीन हैं) हैं, आदि।

हमने देखा है कि यूथेश्वरीगण में वृन्दावनेश्वरी राधिका ही प्रधान हैं। इस वृन्दावनेश्वरी राधिका के यूथ में जो सखियाँ हैं, वे सभी सर्वगुण-मंडिता हैं और ये सुभ्रूगण अपने अनन्तविध विलास-विभ्रम द्वारा सर्वदा श्रीकृष्ण का मन आकर्षित करती हैं। ये सखियाँ भी पाँच प्रकार की हैं— सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परमश्रेष्ठ-सखी। कुसुमिका, विन्ध्या, धनिष्ठा आदि साधारण सखियाँ हैं, कस्तूरिका, मणिमंजरिका आदि कतिपय गोपियाँ नित्यसखी हैं, शशिमुखी, वासंती, लासिका आदि प्राणसखी हैं। इन प्राणसखियों ने वृन्दावनेश्वरी राधिका के प्रायः स्वरूपता को भी पाया है। कुरंगाक्षी, सुमध्या, मदनालसा, कमला, माधुरी, मंजुकेशी, कन्दर्प-माधवी, मालती, कामलता, शशिकला आदि राधा की प्रियसखी हैं; परमश्रेष्ठ सखियों में ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, तुंगविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी और सुदेवी ये आठों 'सर्वगणाग्रिमा' हैं।

वृन्दावन की राधा-कृष्णलीला में इन सखियों का एक मुख्य स्थान है। ये सखियाँ लीला-विस्तारिणी हैं। प्रेम का एकमात्र विषय-स्वरूप राधिका श्रीकृष्ण की प्रेम-आश्रय हैं। इस विषयाश्रय का अवलम्बन करके जो लीला होती है| उसे इन सखियों ने अनन्त वैचित्र्य और माधुर्य से अनन्त विस्तार दान किया है। उन्होंने प्रेम को बनाकर बिगाड़ा और बिगाड़कर बनाया है। इस बनाने-बिगाड़ने और चतुराई और चपलता के द्वारा प्रेमलीला का सूक्ष्म-सुकुमार रम्यत्वदान में निरन्तर विस्तार किया है। ये कभी कृष्ण का पक्ष लेती हैं तो कभी राधा का। जैसे खंडिता की दशा में राधा के प्रति इनकी सहानुभूति और अनुराग और श्रीकृष्ण के प्रति विद्वेष देखा जाता है। दूसरी और मान (रूठना) की दशा में ये कृष्ण के प्रति अनुरागिणी और राधा के प्रति विरागिणी होती हैं। वास्तव

में सखियों का मानो राधा से अलग अस्तित्व ही नहीं है—ये मानो राधिका का ही क्रमविस्तार है; प्रेमस्वरूपिणी की ही हास्य-लास्य छल-बल में विलास-चातुर्य में एक प्रेमज्योति का परिमंडल हैं। इसीलिए सखीरूपा गोपियों को राधिका का कायव्यूहरूप कहते हैं। हमने पहले जिस प्रकार विष्णु को वासुदेवादिव्यूह में प्रकाश देखा है, यहाँ राधिका का भी सखी-मंजरी आदि विभिन्न व्यूहों में प्रकाश देखते हैं। ये मानो मूल राधिका-स्वरूप प्रेमकल्पलता की पल्लव सदृश हैं। इन सखियों में कभी भी कृष्णसंगसुखस्पृहा नहीं थीं; राधिका से कृष्ण के मिलन में ही उन्हें परम आनन्द मिलता था। इसी-लिए राधिका से कृष्ण के मिलन के लिए ही सखियाँ सारी चेष्टाएँ करती थीं। किसी लता के पल्लवादि में जल न देकर लता की जड़ में ही पानी डालने से जैसे उस मूल के रस ही पल्लवों में रस की पुष्टि होती है, राधिका रूपी प्रेमकल्पलता की पल्लवसदृश सखियाँ भी उसी तरह परिपुष्टि पा रही हैं[1]। इस विषय में चैतन्यचरितामृत में कहा गया है—

सखी बिनु एइ लीलार पुष्टि नाहि हय।
सखी-लीला विस्तारिया सखी आस्वादय॥
सखी बिनु एइ लीलाय अन्येर नाहि गति।
सखी-भावे येइ तारे करे अनुगति॥
राधाकृष्ण-कुंजसेवा-साध्य सेइ पाय।
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय॥
सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन।
कृष्णसह निजलीलाय नाहि सखीर मन॥
कृष्णसह राधिकार लीला ये कराय।
निज केलि हैते ताहे कोटि सुख पाय॥
राधार स्वरूप कृष्ण-प्रेमकल्पलता।
सखीगण हय तार पल्लव पुष्प पाता॥
कृष्णलीलामृते यदि लताके सिञ्चय।
निज सेक हइते पल्लवाद्येर कोटि सुख हय॥

मध्य—८म।

रूपगोस्वामी ने वृन्दावनेश्वरी राधिका की श्रेष्ठता 'रति'-विश्लेषण के द्वारा भी सिद्ध की है। तारतम्य भेद से रति तीन प्रकार की होती है—

---

(१) तुलनीय—ठाकुराणीर कथा—क्षेत्रमोहन वन्द्योपाध्याय (मोहितलाल मजुमदार सम्पादित) पृ० २२३।

साधारण, समञ्जसा और समर्था। इनमें जो रति गहरी नहीं होती, प्रायः कृष्ण के दर्शन द्वारा ही जो रति उत्पन्न होती है, और जो संभोग इच्छा का ही निदान है—वह रति साधारण रति है। भागवत-पुराण में वर्णित कुब्जा का प्रेम ही साधारण रति का दृष्टान्त है। श्रीकृष्ण के रूप-गुण का दर्शन करने से ही कुब्जा में कृष्ण-संभोग की इच्छा का उद्रेक हुआ था; इसीलिए उसने कृष्ण के उत्तरीय-वस्त्र को खींचते हुए उसने कहा था—'हे प्रेष्ठ, यहाँ कुछ दिन मेरे साथ रहो और मेरे साथ रमण करो; हे अम्बुजेक्षण, तुम्हारा साथ छोड़ने का मुझे उत्साह नहीं हो रहा है।'[१] कुब्जा के इस प्रेम का भाव बहुत कुछ कृष्ण को उपपति के रूप में स्वीकार करने जैसा है। यह रति दो दृष्टियों से हेय है; एक गहराई की कमी के कारण यह रति संभोग की इच्छा में ही परिणत होती है; संभोग की इच्छा में ह्रास होने से इस रति में भी ह्रास होता है। दो, संभोग की इच्छा में आत्मेन्द्रिय-पूर्ति-इच्छा रहती है। कृष्ण के संगसुख के द्वारा स्वयं प्रीति प्राप्त करूँगी, कुब्जा की यही इच्छा थी। अतएव सुखैकतात्पर्य न होने के कारण यह प्रीति निकृष्ट है।

समंजसा रति में पत्नीभाव का अभिमान रहता है। गुणादि के सुनने से यह उत्पन्न होती है, इससे कभी-कभी संभोग की तृष्णा उत्पन्न होती है। रुक्मिणी आदि की कृष्ण के प्रति जो रति है, वही समंजसा रति है। समंजसा रति में कभी-कभी निज-सुख-स्पृहा की संभावना रहती है, लेकिन समर्था रति में निज-सुख-स्पृहा नहीं रहती है। जो रति साधारणी और समंजसा से एक अनिवर्चनीय विशेषत्व प्राप्त करती है, जिस रति से तदात्म की प्राप्ति होती है, उसी को समर्था रति कहते हैं। इस रति के उत्पन्न होने पर उससे कुल, धर्म, धैर्य, लज्जादि सब कुछ भूल जाता है, अर्थात् रति-विरोधी कुल, धर्म, धैर्य, लज्जादि बाधाएँ सोलहों आने उपेक्षित होती हैं। यह रति 'सान्द्रतमा' है—अर्थात् भावान्तर से इसके अन्दर कभी प्रवेश संभव नहीं होता है। स्वरूपसिद्धा व्रजबालाओं में कारण-निरपेक्ष भाव से यह रति स्वभावतः उत्पन्न होती है। यह रति 'अद्भुतविलासोर्मि' की 'चमत्कारकरश्री' है—इससे संभोग की इच्छा का विशेष या पार्थक्य नहीं है। अतएव इसमें अलग से कोई स्व-संभोगेच्छा नहीं है—इसके, सभी उद्यम 'कृष्णसौख्यार्थ' हैं।

यह समर्था रति ही प्रौढ़ा होकर अर्थात् समधिक परिणति प्राप्त करके महाभावा दशा को लाभ करती है। यह रति धीरे-धीरे दृढ़ होकर प्रेम

---

(१) भागवत, १०।४८।७

स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव के रूप में परिणत होती है। जैसे बीज (ईख का बीज या अंकुर) बोने से क्रमपरिणति के उपरान्त उससे रस, रस से गुड़, गुड़ से खाँड, खाँड से चीनी, चीनी से सिता (मिश्री) और उससे सितापला बनती है, उसी तरह से रति से प्रेम, प्रेम से राग, राग से अनुराग और अनुराग से महाभाव उत्पन्न होता है।[१] हम जीवगोस्वामी के प्रीति-सन्दर्भ में प्रीति या रति से प्रेम, स्नेह, मान आदि की उत्पत्ति और इस प्रेम-स्तर-विशेष के संक्षिप्त लक्षणों का विवेचन कर आए हैं। रूप-गोस्वामी ने कहा है, ध्वंस के सर्वथा कारण रहते हुए भी जिसका ध्वंस नहीं होता युवक-युवतियों के इस प्रकार के भावबन्धन को प्रेम कहते हैं।[२] प्रेम जब परमा काष्ठा प्राप्त करके 'चिद्दीपदीपन' होता है, अर्थात् प्रेमविषयोपलब्धि का प्रकाशक होता है[३] और हृदय को द्रवीभूत करता है तब उसका नाम होता है स्नेह।[४] स्नेह जब उत्कृष्टता प्राप्ति के द्वारा नए-नए माधुर्य लाता है, मगर स्वयं अदाक्षिण्य (अकौटिल्य) धारण करता है तो उसे मान कहते हैं।[५] मान अगर विस्रम्भ (अर्थात् विश्वास या भ्रमराहित्य) प्रदान करता है तो उसे प्रणय कहते हैं।[६] प्रणयोत्कर्ष के हेतु चित्त में अधिक दुःख भी जब सुख के रूप में अनुभूत होता है तो उस प्रेम को

---

(१) प्रेम क्रमे बाडि हय स्नेह, मान, प्रणय।
राग अनुराग भाव महाभाव हय॥
यैछे बीज इक्षुरस गुड़खण्डसार।
सर्करा सिता मिछरि शुद्ध मिछरि आर॥
इहा तैछे क्रमे निर्म्मल क्रमे बाड़े स्वाद।
रति प्रेमादि तैछे बाड़ये आस्वाद॥

चैतन्यचरितामृत (मध्य, २३य)

(२) सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥

(३) चिच्छब्देन प्रेमविषयोपलब्धिरुच्यते।...सा चिदेव दीपस्तं दीपय ि उद्दीप्तं करोतीति। —विश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत 'आनन्दचन्द्रिकाटीका'

(४) आरुह्य परमां काष्ठां प्रेमा चिद्दीपदीपनः।
हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते॥

(५) स्नेहस्तूत्कृष्टतावाप्त्या माधुर्यमानयन्नवम्।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते॥

(६) मानो दधानो विस्रम्भं प्रणयः प्रोच्यते बुधैः॥

राग कहते हैं।[१] सदानुभूत प्रिय को भी जो राग नित्य नवत्व प्रदान करके अनुभूति को भी नित्य नवत्व प्रदान करता है उसे ही अनुराग कहते हैं।[२] अनुराग अगर 'यादवाश्रयवृत्ति' हो स्व-संवेद्यदशा प्राप्त होकर प्रकट हो तो उसे ही भाव कहते हैं।[३] भाव में प्रेम के प्रत्येक स्तर के सभी गुण वर्तमान हैं; यही प्रेम-प्रकाश की पराकाष्ठा है। यहाँ अनुराग के 'स्व-संवेद्यदशा' प्राप्ति का तात्पर्य है अनुराग की निजोत्कर्षदशा-प्राप्ति। इस भाव के तीन स्वरूप हैं; पहला, ह्लादांश में 'स्वसंवेदरूपत्व', दूसरा संविदंश में 'श्रीकृष्णादिकर्मकसंवेदनरूपत्व', इसके बाद तदुभयांश में 'संवेद्यरूपत्व', अर्थात् एक में विशुद्ध प्रेमानन्दानुभव, दूसरे में प्रेमानन्द के विषय के रूप में कृष्ण-विषयक ज्ञान, तीसरे में इस प्रेमानुभूति और चैतन्य का एक अपूर्व मिश्रण। भाव में इसलिए त्रिधा सुख मिलता है; प्रथमतः अनुराग का चरमोत्कर्ष है। इसी तरह एक श्रीकृष्णानुभवरूप प्रथम सुख है, इसके बाद प्रेमादि के द्वारा अनुभूतचर होकर भी सम्प्रति श्रीकृष्ण अनुरागोत्कर्ष के द्वारा अनुभूत हो रहे हैं, ऐसा द्वितीय सुख; इसके बाद श्रीकृष्णानुभवनरूप यह अनुरागोत्कर्ष अनुभूत होता है, ऐसा तृतीय सुख। शीतोष्णपदार्थ में शैत्यादि के उत्कर्षसीमवन्त चन्द्र-सूर्य जैसे अपने निकट या दूर जो कुछ है, उन सब को शीतल या उष्ण करते हैं, उसी तरह अनुरागोत्कर्षरूप भाव श्रीराधा के हृदय में सम्यक् उदित होकर राधा को जिस तरह प्रेमानन्दमयी करता है, उसी तरह यावतीय साधक भक्त और सिद्ध भक्तगणों के चित्त को भी श्रीराधा का प्रेमानन्द ही विलोड़ित करता है, यही ऊपर के 'यावदाश्रयवृत्ति' शब्द का तात्पर्य है। वृत्ति शब्द का अर्थ है सान्निध्यवशतः हृद्विलोड़न-रूप व्यापार या क्रिया।[४] इन भावों में जो भाव कृष्णवल्लभागण में एकमात्र व्रजदेवी में ही संभव है उसी भाव को महाभाव कहते हैं। यह महाभाव श्रेष्ठ अमृतस्वरूप श्री धारण करके चित्त को अपना स्वरूप प्राप्त कराती है।[५] यह महाभाव रूढ़ और अधिरूढ़ के रूप में दो प्रकार का होता है। जिस महाभाव से सारे सात्त्विक भाव (स्तम्भ, स्वेद,

---

(१) दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते॥

(२) सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते॥

(३) अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेद् भाव इत्यभिधीयते॥

(४) विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका देखिए।

(५) वरामृतस्वरूपश्रीः स्वं स्वरूपं मनो नयेत्॥

रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और पुलक) उद्दीप्त होता है, उसे रूढ़ महाभाव कहते हैं। जब अनुभाव रूढ़ महाभाव के अनुभवों से भी एक विशिष्टता प्राप्त करते हैं तो उसे अधिरूढ़ महाभाव कहते हैं।

इस रूढ़ और अधिरूढ़ महाभाव के सम्बन्ध में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने 'उज्ज्वलनीलमणि-किरण' में कहा है—जहाँ कृष्ण के सुख में पीड़ा की आशंका से क्षणभर के लिए भी असहिष्णुतादि होती है—वही रूढ़ महाभाव है। करोड़ ब्रह्माण्डगत समस्त सुख भी जिसके सुख का लेश-मात्र नहीं होता, सारे बिच्छुओं-सर्पों के दंशन का दुःख भी जिसके दुःख का लेशमात्र नहीं होते, कृष्ण के मिलन-विरह से इस प्रकार का दुःख-सुख जिस दशा में होता है उस दशा को ही अधिरूढ़ महाभाव कहते हैं।[1]

इस अधिरूढ़ महाभाव के 'मोदन' और 'मादन'—दो प्रकार के भेद हैं। मोदन और मादन की व्याख्या करते हुए जीवगोस्वामी ने अपनी 'लोचनरोचनी' टाका म कहा है—मोदन हर्षवाचक है, अतएव मोदनाख्य की पर्याप्ति हर्षानुभूति में ही होती है। मादन 'दिव्यमधुविशेषवन्मत्तताकर' है, दिव्यमद्य विशेष जिस प्रकार की मत्तता पैदा करता है, मादनाख्य महा-भाव में भी उसी तरह की एक मत्तता है। श्रीकृष्ण-मिलन से जितने प्रकार की आनन्द-वैचित्री पैदा हो सकती है, मादनाख्य महाभाव में उन सभी का युगपत् अनुभव है। रूपगोस्वामी ने कहा है कि जिससे सकान्त-कृष्ण के चित में भी क्षोभ उत्पन्न होता है और विपुल प्रेमसम्पदा की अधिकारिणी कृष्णकान्ताओं के प्रेम की अपेक्षा भी प्रेमाधिक्य व्यक्त हो, वही मोदनाख्य महाभाव है। यह मोदनाख्य महाभाव कृष्णकान्ताओं में एकमात्र राधा के यूथ में ही संभव है। यही ह्लादिनी शक्ति का श्रेष्ठ सुविलास है। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि कान्ताओं के साथ कुरुक्षेत्र में रहने के समय भी राधा के दर्शन से कृष्ण में चित्त-क्षोभ उत्पन्न हुआ था; दूसरी बात है, कृष्ण के दर्शन से राधा में जो प्रेमातिशयता दिखाई पड़ी थी, उससे रुक्मिणी आदि के प्रेम से राधाप्रेम का सर्वथा आधिक्य प्रमाणित था। विश्लेष-दशा में या विरह में यह मोहन ही मोदन नाम धारण करता है। इस मोहन-भाव से कान्तालिंगित कृष्ण की मूर्च्छा, असहनीय कष्ट स्वीकार करके भी कृष्ण सुख की कामना, ब्रह्माण्डक्षोभकारित्व, पक्षी आदि प्राणियों का भी रोदन,

---

(१) कृष्णस्य सुखे पीड़ाशंकया निमिषस्यापि असहिष्णुतादिकं यत्र स रुढ़ो महाभावः कोटिब्रह्मांडगतं समस्तसुखं यस्य सुखस्य लेशोऽपि न भवति, समस्तवृश्चिकसर्पादिदंशन-कृत-दुःखमपि यस्य दुःखस्य लेशो न भवति सोह-धिरूढ़ो महाभावः।

मृत्यु स्वीकारपूर्वक निज शरीरस्थ भूत के द्वारा कृष्ण-संग-तृष्णा, दिव्योन्माद आदि बहुतेरे अनुभावों का वर्णन पंडितों ने किया है। जीवगोस्वामिकृत प्रीति का विवेचन करते हुए हम संक्षेप में इसपर विचार कर आए हैं। मादन ह्लादिनी का सार है, यह 'सर्वभावोद्गमोल्लासी' है—अर्थात् यह रति से लेकर महाभाव तक सभी प्रकार के प्रेमवैचित्र्य का जो उल्लास है, उसका युगपत् अनुभव कराता है; यही परात्पर है। एकमात्र राधा को छोड़कर दूसरे किसी में यह मादनाख्य महाभाव संभव नहीं होता है। इसीलिए श्रीराधिका 'कान्ताशिरोमणि' हैं।[1]

मुख्यतः जीवगोस्वामी का अनुसरण करके कृष्णदास कविराज ने चैतन्यचरितामृत ग्रंथ में राधिका का एक सुन्दर संक्षिप्त वर्णन दिया है। हम नीचे उसे उद्धृत कर रहे हैं—

प्रेमेर स्वरूप देह प्रेम-विभावित ।
कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठ जगते विदित ।।
सेइ महाभाव हय चिन्तामणिसार ।
कृष्णवांछा पूर्ण करे एइ कार्य्य जार ।।
महाभाव चिन्तामणि राधार स्वरूप ।
ललितादि सखी ताँर कायव्यूह रूप ।।
राधा प्रति कृष्णस्नेह सुगंधि-उद्वर्त्तन ।
ताहे सुगंध देह उज्ज्वल वरण ।।
कारुण्यामृत धाराय स्नान प्रथम ।
तारुण्यामृत धाराय स्नान मध्यम ।।
लावण्यामृत धाराय तदुपरि स्नान ।
निजलज्जा-श्याम-पट्टशाटी परिधान ।।
कृष्ण-अनुराग द्वितीय अरुण वसन ।
प्रणय-मान-कंचुलिकाय वक्षः आच्छादन ।।
सौन्दर्य कुंकुम सखी-प्रणय-चन्दन ।
स्मितकान्ति-कर्पूर तिने अंगविलेपन ।।
कृष्णेर उज्जवलरस मृगमदभर ।
सेइ मृगमदे विचित्रित कलेवर ।।
प्रच्छन्न-मान वाम्य धम्मिल्य-विन्यास ।
धीराधीरात्मक-गुण अंगे पटवास ।।

(१) सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः ।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा ।।

राग-ताम्बूलरागे अधर उज्ज्वल ।
प्रेम-कौटिल्य नेत्र-युगले कज्जल ।।

सुद्दीप्त सात्त्विक-भाव हर्षादि संचारी ।
एइ सब भाव-भूषण सर्व अंगे भरि ।।

किलकिंचितादि-भाव-विंशति भूषित ।
गुणश्रेणी-पुष्पमाला सर्व्वांगे पूरित ।।

सौभाग्यतिलक चारु ललाटे उज्ज्वल ।
प्रेम-वैचित्त्य रत्न हृदये तरल ।।

मध्य-वयःस्थिता सखी स्कन्धे करन्यास ।
कृष्णलीला मनोवृत्ति सखी आशपाश ।।

निजांग-सौरभालये गर्व पर्य्यंक ।
ताते बसि आछे सदा चिन्ते कृष्णसंग ।।

कृष्ण-नाम-गुण-यश अवतंस काने ।
कृष्ण-नाम-गुण-यश प्रवाह वचने ।।

कृष्णके कराय श्याम-रसमधु पान ।
निरन्तर पूर्ण करे कृष्णेर सर्वकाम ।।

कृष्णेर विशुद्ध प्रेम रत्नेर आकर ।
अनुपम गुणगण पूर्ण-कलेवर ।।[1]

अप्राकृत वृन्दावन धाम के श्री राधाकृष्ण की नित्यलीला को साहित्य में रूपायित करते हुए वैष्णव कवियों को मनुष्य का दृष्टान्त और मनुष्य की भाषा को ही अपनाना पड़ा है। यह राधा कृष्ण-प्रेम भी इसीलिए

---

(१) अठारहवीं शताब्दी के प्रथम भाग में रचित ध्रुवदास के निम्न-लिखित पद इस प्रसंग में तुलनीय हैः—

महाभाव सुख-सार-स्वरूपा, कोमल सील सुभाउ अनूपा ।
सखी हेत उदवर्तन लावैं, आनन्द रस सों सबै अह्लावैं ।।
सारी लाज की अति ही धनी, अँगिया प्रीति हिये कसि तनी ।
हाव-भाव-भूषण तन बने, सौरभ गुनगन जात न गने ।।
रसपति रस कों रचिपचि कीनों, सो अंजन लै नैननि दीनों ।
मेंहदी-रंग अनुराग सुरंगा कर अरु चरण रचे तिहि रङ्ग ।। इत्यादि

मानवीय प्रेम-लीला के सभी वैचित्र्य माधुर्य में प्रकट हुआ है। आलंकारिक दृष्टि लेकर रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रंथ में और उनके बाद के कविकर्णपूर ने 'अलंकार-कौस्तुभ' ग्रंथ में जब इस प्रेम को रसकी मूर्ति प्रदान की, तब उन्होंने 'रति' को ही स्थायी भाव के रूप में ग्रहण किया है। दूसरी ओर अलंकारशास्त्र-सम्मत नायक-नायिका के सभी प्रकार के भेदों पर विचार करके कृष्ण और राधा को ही श्रेष्ठ नायक-नायिका के तौर पर ही स्वीकार किया गया है। अगाध असीम नित्यप्रेम लीला का विस्तारकारी इस राधा-कृष्ण के अन्दर प्रवाहित रस का वर्णन करते हुए श्रेष्ठ नायिका के रूप में वर्णित श्रीराधा के जिन अनुभावादि का वर्णन किया गया है और रतिरूप स्थायी भाव के जो व्यभिचारी भावादि वर्णित हुए हैं, उनके अन्दर भारतीय अलंकारशास्त्र और कामशास्त्र का मिश्रण हुआ है। गोस्वामियों ने बारम्बार इस बात को स्मरण करा दिया है कि राधा और दूसरी व्रजदेवियों से श्रीकृष्ण की यह लीला प्राकृत काम नहीं है; लेकिन काम न होने पर भी 'काम-क्रीड़ा साम्य' में इसे काम कहा गया है और साहित्यक रूप या और आलंकारिक विश्लेषण में इसे प्राकृत काम-क्रीड़ा के अनुरूप भाव से ग्रहण किया गया है। इसके फलस्वरूप राधा को परिपूर्ण प्रेममयी बनाने में जिस चेष्टा और लीला द्वारा प्राकृत काम का वैचित्र्य और सर्वातिशयिता प्रकट होती है, राधा के प्रति वे सभी आरोपित हुए हैं। भारतीय कामशास्त्रों में एक श्रेष्ठ नायिका में जो देहधर्म और मनोधर्म वर्णित हुए हैं, हम उन सभी को राधिका के ही अन्दर पाते हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में नायिका के जिन गुणों का वर्णन किया गया है, "उज्ज्वलनीलमणि" की नायिका के वर्णन में हम प्रकारान्तर से उसी की प्रतिध्वनि सुनते हैं। यहाँ तक कि जिस बड़ायि बुढ़िया ने राधाकृष्ण का अवैध-मिलन करा दिया है उसमें 'योगमाया' के आभास के साथ कामशास्त्रोक्त कुट्टनी का भी परिचय मिलता है। बड़ू-चंडीदास-रचित 'श्रीकृष्ण-कीर्तन' काव्य की 'बडायि' बुढ़िया को योगमाया-तत्त्व का एक प्राकृत संस्करण न कहकर एक प्राकृत बुढ़िया का राधाकृष्ण के सान्निध्य के कारण योगमाया-तत्त्व में उन्नयन कहना अधिक समीचीन होगा।

उज्ज्वलनीलमणि ग्रंथ में नायिका के विभिन्न प्रकार के श्रेणिविभाग की जो पद्धति दिखाई पड़ती है वह मूलतः तत्पूर्ववर्ती संस्कृत अलंकार-शास्त्र पर ही प्रतिष्ठित है। मधुर भाव के स्थायी भाव 'रति' का अवलम्बन करके जिन आलम्बन-उद्दीपन विभाव और अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के वर्णन हैं, उसके भी प्राचीन आलंकारिक आधार हैं; लेकिन रूप-

गोस्वामी ने उस प्राचीन आधार पर जिस वर्णवैचित्र्य की सृष्टि की है, उसे भी अपूर्व मानने की इच्छा होती है। केवल विश्लेषण ही नहीं, पुरातन साहित्य से और मुख्यतः अपने रचित साहित्य से इस प्रकार के प्रत्येक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के दृष्टान्त देकर रूपगोस्वामी ने राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला को अनन्त विस्तार और मधुरिमा प्रदान की है। इस आलंकारिक विश्लेषण में ही राधा-प्रेम में अनन्त वैभव और वैचित्र्य की परिपुष्टि हुई है। रूपगोस्वामी ने राधा-प्रेम को जो परिपुष्टि प्रदान की है, परवर्ती काल में इसी ने वैष्णवों को जाने-अनजाने नाना प्रकार से प्रभावित किया है। हमने पहले देखा है कि रूपगोस्वामी को राधा-प्रेम के अवलम्बन पर रचित अपने पूर्ववर्तियों का समृद्ध संस्कृत साहित्य मिला था। देशज भाषाओं में रचित विद्यापति-चंडीदास की कविता भी उनके सामने थी। इसके साथ उनकी अपनी विराट् प्रतिभा भी आकर सम्मिलित हुई थी। इन उपादानों ने ही उन्हें अपने विश्लेषणों में इतनी निपुणता प्रदान की थी। विश्लेषण करते समय उन्होंने बहुतेरे नये वैचित्र्य और चारुताओं का सृजन भी कर लिया था। उनके इस आलंकारिक सृजन और कविसृजन ने सम्मिलित होकर परवर्ती लीला-प्रसार और उसके आधार पर साहित्य-प्रसार, इन दोनों बातों को संभव किया था। आलंकारिक दृष्टि में राधा-प्रेम के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार-विश्लेषण के अन्दर हम अब नहीं पड़ेंगे; हम राधा-प्रेम से सम्बन्धित दो-एक प्रधान प्रश्नों पर ही विचार करेंगे।

राधा-प्रेम के सम्बन्ध में एक प्रधान विचारणीय विषय है, स्वकीया-परकीया-तत्त्व। परकीया-प्रेम ने चैतन्य के आविर्भाव के बाद, संभवतः वृन्दावन के गोस्वामियों के भी बाद, एक तत्त्व का रूप धारण किया है। चैतन्य-चरितामृत में हम देखते हैं कि कृष्णदास कविराज के मतानुसार परकीया-तत्त्व के आदर्श का प्रचार स्वयं चैतन्य ने किया है। हमने प्रेम के जो विभिन्न स्तरभेद देखे हैं, परकीया तत्त्व उसी प्रेम या रस की ही विशेषावस्था है। चैतन्य-चरितामृत में कहा गया है, 'परकीया भावे अति रसेर उल्लास'। परकीया में प्रेम का सर्वाधिक स्फुरण होता है। इसलिए प्रेमों में श्रेष्ठ कान्ताप्रेम में भी परकीया-रति श्रेष्ठ है। इस परकीया रति की परिणति राधा-प्रेम में होती है।[1] 'परकीया' प्रेम ही कसौटी पर कसा

---

(१) **परकीया भावे अति रसेर उल्लास।**
व्रज विना इहार अन्यत्र नाहि वास॥
व्रजवधूगणेर एइ भाव निरवधि।
तार मध्ये श्रीराधार भावेर अवधि॥
(चैतन्य-चरितामृत, आदि चतुर्थ)

हुआ सोना है, क्योंकि यह प्रेम सर्वत्यागी प्रेम है, सभी संस्कारों से मुक्त प्रेम है। सभी लज्जा-भय-बाधा से मुक्त प्रेम है। यह केवल प्रेम के लिए प्रेम है, अतएव यही विशुद्ध रागात्मिका रति है।

वैष्णव रस-शास्त्र में दर्शन-आलिंगन के आनुकूल्यनिषेवन के द्वारा युवक-युवतियों के चित्त में उल्लास पर जो भाव आरोहण करता है उसी को संभोग कहते हैं। संभोग मुख्यतः चार प्रकार का होता है—संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्न और समृद्धिमान्। जहाँ लज्जा, भय और असहिष्णुता के कारण भोगांगों का बहुत थोड़ा सा व्यवहार होता है उसे संक्षिप्त संभोग कहते हैं। साधारणतः पूर्वराग के बाद ही इस प्रकार के संभोग का विकास होता है। नायक के द्वारा विपक्षी का गुणकीर्तन और स्ववंचनादि के स्मरण के द्वारा भोगोपचार समूह जहाँ संकीर्ण होकर दिखाई देते हैं उसी को संकीर्ण संभोग कहते हैं। यह कुछ गर्म ईख चूसने जैसा है अर्थात् इसमें एक ही साथ स्वाद और उष्णता है। मानादि के स्थलों पर यह संकीर्ण संभोग है। प्रवास से आए कान्त से संभोग को सम्पन्न संभोग कहते हैं। जहाँ परतंत्रता के कारण युवक-युवती अलग हैं, यहाँ तक कि एक का दूसरे को देखना भी जहाँ दुर्लभ है, वहाँ दोनों के उपभोग-अतिरेक को समृद्धिमान् संभोग कहते हैं। अब हम देखते हैं कि परतंत्रता नहीं रहने से संभोग समृद्ध नहीं होता है, लेकिन क्षेत्र में उपपति आदि ही संभोग-समृद्धि के कारण हैं। लौकिक कामक्रीड़ा-साम्य में इसीलिए राधाप्रेम में कृष्ण को उपपति के रूप में ही क्रीड़ा करनी पड़ी है। परकीया का तात्पर्य यही है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि, आभीर जाति में जब गोपाल-कृष्ण की प्रेम-लीला प्रचलित थी तब कन्या गोपियों और परोढ़ा गोपियों से कृष्ण की प्रेमलीला की कहानी का प्रचलित रहना ही स्वाभाविक है, क्योंकि, संसार में जितने प्रेमगीत लिखे गए हैं, विशुद्ध दाम्पत्यलीला को लेकर उनमें कहीं भी स्फूर्ति नहीं दिखाई पड़ती है। विशेष करके चरवाहों के संगीत का दाम्पत्य-प्रेम लेकर लिखा न होने की ही संभावना

है।[१] इसीलिए कृष्ण-प्रणयिनी गोपियों का अन्य गोपों की कन्या या स्त्री के तौर पर ही वर्णन किया गया है। प्रधाना गोपिनी राधिका का हम जब से साहित्य में आविर्भाव देखते हैं, तब से उसका परिचय परोढ़ा गोपी के रूप में ही मिलता है। हम पहले लिख आए हैं, 'कवीन्द्रवचन-समुच्चय' में राधा-प्रेम की कविता को असती-व्रज्या के अन्दर ही स्वीकार किया गया है। परवर्ती काल के संग्रह में भी कुलटा-प्रेम के दृष्टान्त के तौर पर राधा-प्रेम की कविताओं का उल्लेख दिखाई पड़ता है। हमने राधा-प्रेम के जितने प्राचीन श्लोकों का उल्लेख किया है उन्हें देखने से अधिकांश में अवैध प्रेम का उल्लेख या आभास दिखाई पड़ेगा।

इस अवैध प्रेम की लोकोक्ति को लेकर विभिन्न कालों में राधा के सम्बन्ध में विभिन्न उपाख्यान बने हैं। इनमें मुख्य यह है कि वृषभानु गोप की कन्या राधा आयान घोष की विवाहिता स्त्री है। इस आयान घोष के बारे में भी भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। हम पहले देख आए हैं श्रीयोगेशचन्द्र राय विद्यानिधि के मतानुसार सूर्य के 'अयन' ने ही अंत में आकर आयान घोष के अन्दर अहीर देह धारण किया है। वृन्दावन के गोस्वामियों के ग्रंथों में आयान घोष को हम

---

(१) इस विषय में प्रसिद्ध इतिहासकार डा० भाण्डारकर का कहना है--"The dalliance of Krishna with cowherdesses, which introduced an element inconsistent with the advance of morality into the Vasudeva religion, was also an after growth, consequent upon the freer intercourse between the wandering Abhiras and their more civilized Aryan neighbours. Morality cannot be expected to be high or strict among races in the condition of Abhiras at the time, and their gay neighbours took advantage of this looseness. Besides, the Abhira women must have been fair and handsome as those of the Ahir-Gavaliyas or cowherd of the present day are." (Vaisnavism, Saivism etc. पृ० ३८)। इस विषय में हमें लगता है कि, आभीर जाति के सच्चे इतिहास को बिना जाने ही केवल अनुमान के आधार पर इतनी बातें कहने में कोई सार्थकता नहीं है। जिस जाति में जब भी प्रेम-कहानी बनी है तो वह प्रचलित समाज-रीति और समाज-नीति को तोड़कर ही बनी है। इसलिए इस विषय में केवल आभीर जाति की ही नैतिक अवस्था के प्रति किसी को कटाक्ष करने की आवश्यकता नहीं दिखाई पड़ती।

'अभिमन्यु' के रूप में पाते हैं। बड़ु-चंडीदास के कृष्णकीर्तन में 'आइहन' रूप अभिमन्यु रूप का समर्थक है। किसी-किसी का कहना है कि प्राकृत 'आयान' नाम ही ठीक है। संस्कृत 'अभिमन्यु' का रूप देकर आयान को कुछ दूर तक भद्र बनाने की चेष्टा मात्र की गई है। आयान घोष गोप-राज माल्यक के पुत्र थे, उनकी माता का नाम था जटिला। आयान के तीन भाई और तीन बहनें थीं। इन तीन भाइयों का नाम है—तिलक, दुर्मद और आयान। बहनों का नाम है—यशोदा, कुटिला, प्रभाकरी। यशोदा का भाई होने के नाते आयान कृष्ण का मामा और राधिका कृष्ण की मामी हैं। दूसरी जगह हम देखते हैं कि, आयान घोष की मा जटिला कृष्ण की 'मातुर्मातुलानी' (मा की मामी) हैं;[१] इसलिए आयान घोष यशोदा का ममेरा भाई है और इस हिसाब से कृष्ण का मामा है। राधिका उम्र में कृष्ण से बहुत बड़ी थीं बहुतेरे उपाख्यानों में इस कथन का समर्थन मिलता है। गीतगोविन्द के पहले श्लोक में भी इसकी ओर स्पष्ट संकेत है। कृष्णजन्म के बाद राधिका पड़ोसिन ग्वालिनों के साथ यशोदा-सुत कृष्ण को देखने आई थी और आदर के साथ उसनें जब कृष्ण को गोद में लिया तब राधा-कृष्ण की स्वरूप-स्मृति जगने के कारण प्रथम मिलन हुआ था इस तरह के राधा-कृष्ण-प्रेम के बहुतेरे पद पद-रचयिताओं ने रचे हैं। प्रचलित किम्बदन्ती के अनुसार आयान घोष नपुंसक थे; अतएव नपुंसक पति के प्रति राधा की अवज्ञा तथा रूपगुण में सर्वोत्तम नागर कृष्ण के प्रति अनुरक्ति अत्यंत स्वाभाविक रूप से सूचित हुई है। अनगिनत बंगला वैष्णवपदावली में कृष्ण-प्रणयिनी के रूप में राधा को अनूढ़ा गोपकन्या और परोढ़ा गोपरमणी इन दोनों रूपों में वर्णित देखते हैं।

इस पद की या प्रेम के मामले में प्रधान प्रतिद्वन्द्विनी के रूप में एक और परोढ़ा गोपरमणी चन्द्रावली दिखाई पड़ती है।[२] चन्द्रावली भरुंडा के पुत्र गोवर्धन मल्ल की स्त्री थी। गोवर्धन मल्ल और आयान घोष बड़े घनिष्ठ मित्र थे। 'ललित-माधव' नाटक में राधा और चन्द्रावली के बारे में बहुत ही जटिल किम्वदन्तियाँ मिलती हैं। यहाँ उनमें प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं। योगेशचन्द्र राय के मतानुसार चन्द्र ही चन्द्रावली है और सूर्य-विम्बरूपी कृष्ण से मिलन के मामले में राधारूपी

---

(१) विदग्धमाधव नाटक।

(२) श्रीकृष्णकीर्तन में राधा और चन्द्रावली को एक ही कहकर वर्णित किया गया है।

नक्षत्र की प्रतिद्वन्द्विनी है। वैष्णव कविता के मान-खंडितादि के पदों में चन्द्रावली ही राधिका के प्रेम की मुख्य प्रतिद्वन्द्विनी के तौर पर दिखाई पड़ी है। हमने 'उज्वल-नीलमणि' के कृष्ण-वल्लभा' प्रकरण में राधा और चद्रावली को कृष्ण की नित्यप्रिया के रूप में वर्णित देखा है।[1] लेकिन इन दोनों नित्यप्रियाओं में तत्त्वतः राधा की श्रेष्ठता ही सर्वत्र वर्णित हुई है। दोनों में मौलिक अन्तर यह है—राधिका के प्रेम में आत्म-सुख की इच्छा का लेशमात्र नहीं है, सब कुछ ही कृष्णसुखैक-तात्पर्य है। लेकिन चन्द्रावली की कृष्णप्रीति में आत्मप्रीति-कामना की गंध थी। स्वांगसंगदान के द्वारा राधिका की सेवा केवल कृष्णसुख उत्पन्न करने के निमित्त थी। लेकिन चन्द्रावली के स्वांगसंगदान के द्वारा सुख उत्पन्न करने की चेष्टा में खुद सुखी होने की कामना भी वर्तमान थी। इसलिए हम देखते हैं कि परवर्ती काल में राधातत्त्व और चन्द्रावली-तत्त्व वैष्णवों के सामने दो अलग तत्त्वों के रूप में दिखाई पड़े थे।

राधा-चन्द्रावली की बात छोड़कर साधारण तौर से गोपरमणियों से कृष्ण के अवैधप्रेम के औचित्य के सम्बन्ध में भागवत-पुराण में प्रथम और स्पष्ट प्रश्न दिखाई पड़ता है। रास-लीला के वर्णन में देखते हैं कि परोढ़ा गोपियाँ जेठानी के कहने पर ही कृष्ण की संगिनी बनी थीं। कृष्णचरित्र के प्रति असीम श्रद्धावान् धर्मनिष्ठ महाराज परीक्षित ने श्रीशुकदेव से इस विषय में एक प्रश्न किया था—"धर्म के संस्थापन और अधर्म के प्रशम के लिए भगवान् जगदीश्वर अपने अंश में अवतीर्ण हुए थे; धर्मसेतु-समूहों के वक्ता, कर्त्ता और अभिरक्षिता वही कृष्ण दूसरे की स्त्रियों के पास जाने जैसा प्रतिकूल आचरण क्यों किया था ?"[2] तब तक परकीयावाद एक तत्त्व के रूप में नहीं बन पाया था, इसीलिए शुकदेव ने अत्यन्त स्पष्ट और सहज भाव से उत्तर दिया था। उन्होंने कहा था—"तेजस्वियों के लिए कोई भी चीज दोष की नहीं है, जैसे सर्वभुक् अग्नि (जिसे कभी भी

---

(१) राधा-चन्द्रावली-मुख्याः प्रोक्ता नित्यप्रिया व्रजे।
कृष्णवन्नित्यसौन्दर्य—वैदग्ध्यादिगुणाश्रयाः ।।

उज्ज्वलनीलमणि, कृष्णवल्लभा, ३६

(२) संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ।।
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्त्ताभिरक्षिता ।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ।।

भागवत, १०।३३।२६-२७

पाप या मलिनता स्पर्श नहीं करती है) ।....ईश्वरगणों का वाक्य ही सत्य है, आचरण सदा सत्य नहीं होता; जो-जो क्रियाएँ उनके 'स्ववचोयुक्त' अर्थात् जो आचरण उनके वचन से संगत है, बुद्धिमान् व्यक्ति केवल उसी का आचरण करें।"[१] यह तो हुआ लौकिक नीति का पक्ष। तत्त्व की दृष्टि से देखा जाय तो जिन मुनियों का अखिल कर्मबन्ध योगप्रभाव के द्वारा विधूत हुआ है वे मुनि भी जिसके पादपंकजपरागनिषेवतृप्त होकर स्वेच्छा के अनुसार आचरण करके भी बन्धनग्रस्त नहीं होते हैं, उस भगवान् के अपनी इच्छा से ग्रहण किए हुए वपु में बन्धन कहाँ ? गोपियों का, उनके पतियों का, सभी प्रकार के देहधारियों का जो अन्तश्चरण करते हैं वह अध्यक्ष (बुद्ध्यादिसाक्षी भगवान्) क्रीड़ा के लिए ही मर्त्यदेह धारण करते हैं।"[१] अर्थात् तत्त्वतः जो सभी प्राणियों की देह और अन्तर में विराजमान रहकर निरन्तर 'रमण' कर रहे हैं, उनके लिए परदार नाम की कोई चीज नहीं है, अतएव परदाराभिमर्शन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

वृन्दावन के गोस्वामियों के आविर्भाव के पहल ही प्रधान गोपिनी के रूप में राधा वैष्णव-साहित्य में सुप्रतिष्ठित हो चुकी थीं। राधा-चन्द्रावली तथा दूसरी गोपियों का अवलम्बन करके प्रेम के विभिन्न प्रकार के भेद दिखाते हुए रूपगोस्वामी ने कृष्ण-वल्लभाओं को स्वकीया-परकीया में बाँटा है; साधारण तौर से रुक्मिणी आदि महिषियाँ स्वकीया और राधादि गोपियाँ परकीया मानी गईं। लेकिन रूपगोस्वामी के नाटक तथा दूसरी रचनाओं पर विचार करने से लगता है कि उन्होंने भी तत्त्वतः परकीया-वाद को स्वीकार नहीं किया है। उनके ललित-माधव नाटक के पूर्णमनोरथ नामक दसवें अंक में हम देखते हैं कि द्वारका के नव-वृन्दावन में सत्राजित्

---

(१) **तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ।।**

× × × ×

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचेरत् ।।

वही, १०।३३।२६,३१

(२) **यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ता**
योगप्रभावविधूताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना–
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुतः एव बन्धः ।।
गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीड़नेनेह देहभाक् ।।

वही, १०।३३।३४, ३५

राजा की कन्या सत्यभामा-रूपिणी राधिका से कृष्ण का विधिवत् ब्याह हुआ है। इस ब्याह में सतीश्रेष्ठा अरुन्धती, लोपामुद्रा, शचीदेवी के साथ इन्द्रादि देवगण, वृन्दावन के नन्द-यशोदा, श्रीदामादि सखागण, भगवती पौर्णमासी आदि और द्वारका के वसुदेव-देवकी आदि सभी उपस्थित थीं। 'विदग्ध-माधव' नाटक में भी देखते हैं कि अभिमन्युगोप या आयान घोष से राधिका के ब्याह के प्रसंग में कहा गया है कि अभिमन्युगोप से राधिका का ब्याह सच्चा ब्याह नहीं है, अभिमन्युगोप के ठगने के लिए ही स्वयं योगमाया ने उनके ब्याह को सच्चा ब्याह का विश्वास करा दिया था। वास्तव में राधादि सभी श्रीकृष्ण की नित्य-प्रेयसी हैं।[1] तो हम देखते हैं कि रूपगोस्वामी के मतानुसार श्रीकृष्ण का नित्य-प्रेयसीत्व ही राधादि गोपियों का स्वरूप-परिचय है, बाहर उनका अनूढ़ा कन्यापन या दूसरी गोपियों का स्त्रीत्व योगमाया द्वारा घटित कराया एक प्रातिभासिक सत्य मात्र है। इस प्रसंग में स्मरण किया जा सकता है कि, भागवत के रास-वर्णन में भी कहा गया है कि गोपियाँ जब रास-कुंज में श्रीकृष्ण के साथ रासलीला में तल्लीन थीं तब भी योगमाया के प्रभाव से गोपियों का माया-विग्रह उनके अपने अपने पतियों की बगल में ही था।[2]

'कृष्ण-वल्लभा-प्रकरण' में रूपगोस्वामी ने परकीया के विषय में जो विवेचन किया है उसे देखने से पता चलता है कि गोपियों के परकीया प्रेम के प्रश्न से उन्होंने नाना प्रकार से कन्नी काटने या उसे हल्का करने की कोशिश की है। नायक-प्रकरण में रूपगोस्वामी ने श्रीकृष्ण के औपपत्य के विवेचन के प्रसंग में, इस औपपत्य पर ही शृंगार का प्रेमोत्कर्ष प्रतिष्ठित है, इसे स्वीकार किया है और इसी प्रसंग में भरत मुनि के मत का उल्लेख करके दिखाया है कि इस प्रच्छन्न कामुकता में ही मन्मथ की परमा रति है। लेकिन इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा है—

लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके ।
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि ।।

अर्थात् प्रेम के इस उपपतित्व के विषय में लघुत्व की जो बात कही गई वह प्राकृत नायक के लिए लागू होती है, रस के निर्यास के आस्वादन के लिए जो कृष्णावतार है उसके लिए इसकी कोई बात लागू नहीं होती है। रूपगोस्वामी का यह कथन भागवत के स्वर से ही मेल खाता है।

---

(१) **तद्वंचनार्थमेव स्वयं योगमायया मिथ्यैव प्रत्यायितं तद्विधानामुद्वाहादिकम्। नित्य-प्रेयस्य एव खलु ताः कृष्णस्य। (प्रथम अंक)**

(२) १०।३३।३७

रूपगोस्वामी का अनुसरण करके जीवगोस्वामी ने इस स्वकीया-परकीया के बारे में बहुत विचार किया है। 'उज्ज्वलनीलमणि' की 'लोचन-रोचनी' टीका में जीवगोस्वामी ने उपर्युक्त श्लोक का अवलम्बन करके विस्तृत आलोचना की है। दूसरी जगह प्रासंगिक ढंग से जीवगोस्वामी ने अपना मत व्यक्त किया है। उनके इन मतों पर विचार करने से दिखाई पड़ता है कि जीवगोस्वामी तत्त्वतः परकीयावाद का समर्थन नहीं करते थे। उनके मतानुसार परमस्वकीया में ही राधा-प्रेम का चरमोत्कर्ष है। स्वरूप में—अर्थात् अप्रकट व्रजलीला में राधा-कृष्ण की परमस्वकीया है, वहाँ कृष्ण के उपपतित्व का लेशमात्र भी नहीं है। इसीलिए जीवगोस्वामी ने अपने 'गोपाल-चम्पू' नामक गद्य-पद्य काव्य के उत्तर-चम्पू में राधा-कृष्ण का ब्याह कराया है। परकीया-वाद के बारे में रूपगोस्वामी की चित्त-प्रवणता व्यंजना से समझ में आने पर भी इस विषय में उनका मत स्पष्ट नहीं है, लेकिन जीवगोस्वामी ने इस विषय में अपना मत स्पष्ट व्यक्त किया है। उनके मतानुसार गोपाललीला में स्वकीया ही परम सत्य है परकीया मायिक मात्र है, कृष्ण की योगमाया प्रकट-वृन्दावनलीला में इस परकीया भाव का विस्तार करती है। प्रकट-लीला में रसनिर्यास-आस्वादन की परिपाटी के लिए ही आत्माराम पुरुष अपनी माया के द्वारा ही एक परकीयापन का भान करके परम वैचित्र्य उत्पन्न करता है। प्रकट-लीला के क्षेत्र में राधा और दूसरी गोपियाँ व्यवहारिक जीवन में अपने पति आदि को अस्वीकार नहीं कर सकीं। लेकिन कृष्ण से जब कभी उनकी भेंट होती तब कृष्ण को वे प्राणवल्लभ जानते हुए भी योगमाया के प्रभाव से उनका स्वरूप-ज्ञान और कृष्ण से उनके स्वरूप-सम्बन्ध का ज्ञान आवृत रहता; इसी के फलस्वरूप एक परकीया अभिमान होता था। प्रश्न हो सकता है कि, निवारणादि उपाधि के द्वारा ही परकीया रति में प्रेम की विशेषता सिद्ध होती है, अप्रकट व्रज में अगर राधा का स्वकीया-पन ही परम सत्य है, तो वहाँ प्रेम का इस तरह का उल्लास और उत्कर्ष किस प्रकार साधित हो सकता है? इसके उत्तर में जीवगोस्वामी का यह कहना है कि अप्रकट व्रजधाम में राधा का इस प्रकार का प्रेमोत्कर्ष नित्य और बिलकुल स्वाभाविक है, मादनाख्य महाभाव-पराकाष्ठा के अन्दर इस प्रकार का रागोत्कर्ष स्वाभाविक रूप से ही वर्तमान है। जो स्वाभाविक है उसकी महिमा किसी भी अंश में कम नहीं है। एक मतवाला हाथी जब सभी तरह की बाधाओं-विघ्नों को पारकर आगे बढ़ता है उस समय उसकी असीम शक्तिमत्ता प्रकट होती है। लेकिन इस बात को कोई नहीं कहेगा कि जब वह चुपचाप रहता है तब उसमें

शक्तिमत्ता नहीं रहती है। उसी तरह प्रकटलीला में अपने प्रेम के पथ के सारे बाधा-विघ्नों का अतिक्रमण कर राधा ने जिस रागोत्कर्ष का परिचय दिया है, अप्रकट व्रजधाम में परम स्वकीयावस्था में उनके उस रागोत्कर्ष में किसी प्रकार की कमी दिखाई पड़ी है, ऐसा सोचने के लिए कोई कारण नहीं है।"[१]

लेकिन हम देखते हैं कि जीवगोस्वामी के परवर्ती काल में परकीयावाद परमतत्त्व के रूप में ही स्वीकृत हुआ है। परवर्ती काल के लेखकों ने जीव-गोस्वामी को भी परकीयावादी सिद्ध करने की चेष्टा की है। हमने 'चैतन्य-चरितामृत'—कार कृष्णदास कविराज के परकीया-तत्त्व समर्थन की बात लिखी है।[२] परवर्ती काल के पंडित विश्वनाथ ने भी अपनी दार्शनिक दृष्टि से इस परकीया मत को प्रकट और अप्रकट दोनों लीलाओं में ही

---

(१) उज्ज्वलनीलमणि के नायक—प्रकरण के उपर्युक्त श्लोक की टीका में जीवगोस्वामी ने परकीयावाद के विरुद्ध जो विवेचन किया है उसके अन्त में एक संशय-उद्रेककारी श्लोक छोड़ गए हैं। उपसंहार में एक श्लोक है—

स्वेच्छया लिखितं किंचित् किंचिदत्र परेच्छया ।
यत् पूर्वापरसम्बन्धं तत् पूर्वमपरं परम् ।।

इस श्लोक की प्रामाणिकता के बारे में किसी किसी विद्वान् ने संदेह प्रकट किया है। इस विषय में और परकीया-वाद के सम्बन्ध में जीव-गोस्वामी के मत की विस्तृत आलोचना के लिए श्री राधा-गोविन्द नाथ लिखित चैतन्यचरितामृत की भूमिका देखिए।

(२) किन्तु कविराज गोस्वामी नें भी चरितामृत की आदि लीला में (चतुर्थ परिच्छेद में) श्रीकृष्ण की प्रकट-लीला में अवतार के सम्बन्ध में कहा है—

वैकुण्ठाद्ये नाहि ये लीलार प्रचार ।
से से लीला करिब याते मोर चमत्कार ।।
मो विषये गोपीगणेर उपपति भावे ।
योगमाया करिबेन आपन प्रभावे ।।

लेकिन यहाँ लगता है कि, योगमाया के प्रभाव से गोपियों की उपपति भाव लेकर जो लीला है वह प्रकट-लीला की ही विशेषता है, बैकुंठादि में इस प्रकार के उपपति भाव की लीला नहीं है, और इसीलिए बैकुंठादि की लीला से कृष्णावतार के तौर पर अवतार-लीला में ही लीला की अधिकतर रसपुष्टि हुई है।

एक समान प्रमाणित करने की चेष्टा की है। यदुनन्दन दास के नाम से प्रचलित 'कर्णानन्द' ग्रंथ में इस परकीया-वाद की स्थापना जीवगोस्वामी का असल उद्देश्य है, यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। परवर्ती काल में स्वकीया-परकीयावाद के सम्बन्ध में वितर्क-सभा हुई थी और उसमें युक्तितर्क के द्वारा परकीया-वाद की ही प्रधानता स्थापित हुई थी, ऐसे कुछ तथ्यों का पता चलता है, इन तथ्यों की प्रामाणिकता संशयातीत नहीं है।

कुल मिलाकर हम देखते हैं कि परवर्ती काल में गोस्वामियों के परकीया-वाद ने धीरे-धीरे प्रधानता प्राप्त की। तत्त्वकी दृष्टि के अलावा ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने से इस परकीया-वाद की प्रतिष्ठा के बारे में दो प्रधान कारण मालूम होते हैं। पहला कारण है, बंगाल का वैष्णव-धर्म और साहित्य मुख्यतः राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का अवलम्बन करके रस-समृद्ध है। जयदेव के बाद चंडीदास-विद्यापति और उनके बाद के अगणित वैष्णव कवियों ने राधा-कृष्ण-प्रेम की सूक्ष्म, असंख्य विचित्रताओं के साथ रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इन सभी काव्य-कविताओं के भीतर से राधा का परकीया-पन साहित्य में इस तरह प्रतिष्ठित हो गया था कि तत्त्व की दृष्टि से उसे अस्वीकार करने या केवल व्याख्या से ढक रखने की सूरत नहीं थी। परकीया को केवल मायिक मान लेने से तो राधा-कृष्ण की प्रकट लीला (जो मुख्यतः वैष्णव-साहित्य का उपजीव्य है) प्राणहीन हो जाती। वैष्णव कवियों द्वारा अंकित प्रेममयी राधिका की मूर्ति को सजीव करने के लिए इस परकीयावाद के परमार्थत्व को भी स्वीकार करने की आवश्यकता थी। राधाकृष्ण की समृद्धलीला की क्रमशः प्रतिष्ठा के साथ-साथ परकीयावाद भी क्रमशः प्रतिष्ठित हुआ है।

लगता है कि राधा का अवलम्बन करके इस परकीया-वाद की प्रतिष्ठा के पीछे तत्कालीन एक विशेष प्रकार की धर्म-साधना का प्रभाव भी था। यह है नर-नारी के युगल-रूप की साधना। हिन्दुतंत्र, बौद्धतंत्र, बौद्ध-सहजिया आदि के अन्दर से नर-नारी की युगल-साधना की यह धारा प्रवाहित थी। वैष्णव-सहजिया में आकर इस धारा ने एक विशेष रूप ग्रहण किया था। सर्वत्र एक आरोप-साधना की व्यवस्था थी, इसके बारे में हम आगे लिखेंगे। इस आरोप-साधना में नारी-ग्रहण की जो पद्धति है वहाँ परकीया की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है, विशेष करके वैष्णव-सहजिया लोगों की साधना में। सहजिया साधना में परकीया की इस प्रधानता ने परवर्ती काल में वैष्णव-धर्म की राधा के परकीया-पन में विश्वास को और भी दृढ़ किया था, ऐसा प्रतीत होता है।

तत्त्व की दृष्टि से राधा के बारे में और एक बात पर विचार करके हम इस प्रसंग का उपसंहार करेंगे। हमने देखा है कि, परमतत्त्व की यह रसस्वरूपता ही उसकी प्रेम-स्वरूपता है। इस प्रेम में कृष्ण विषय और राधा आश्रय हैं। हम कह सकते हैं कि भगवान् की प्रेमरूपा ह्लादिनी-शक्ति का राधिका ही पूर्णतम आधार हैं। यह परमप्रेमानन्द इस राधिका के अन्दर से जगत्जीवों में भक्तिरस के रूप में फैल जाता है। उस दृष्टि से राधिका ही भगवान् की भक्त श्रेष्ठ हैं। लेकिन यहाँ एक बात को साफ कर लेना चाहिए। राधिका के कृष्ण की श्रेष्ठभक्त होने पर भी और राधिका के अन्दर से ह्लादिनी शक्ति भक्तिरस के रूप में प्रवाहित होने पर भी राधिका-स्वरूपत्व प्राप्ति या राधा के भाव से कृष्ण की सेवा जीव के लिए कभी संभव नहीं है। हम इसीलिए जीव के सखी-भाव की साधना की बात सुनते हैं। लेकिन इस सखी-भाव की साधना के अन्दर भी दो प्रकार की साधना के भेद को साफ-साफ समझ लेना होगा, एक है रागात्मिका स्वातंत्र्यमयी सेवा और दूसरी है रागानुगा आनुगत्यमयी सेवा। नित्य-व्रजधाम में सुबल आदि या नन्द-यशोदा आदि या राधिका आदि कृष्ण के जो नित्य परिकर हैं केवल उन्हीं को रागात्मिका सेवा करने का अधिकार है। यहाँ राग उनका नित्य-आत्मधर्म है, इस आत्मधर्म के रूप में राग में प्रतिष्ठित रहकर जो नित्य सेवा है वही रागात्मिका सेवा है। जीव इन व्रज-परिकरगणों का आनुगत्य स्वीकार करके उनके राग के अनुग के तौर पर ही कृष्ण की सेवा कर सकता है। सुबल आदि व्रजसखाओं का कृष्ण के प्रति जो सखाभाव से प्रीति या राग है यह उनका नित्यसिद्ध आत्मधर्म है, अतएव सुबल आदि का सखाभाव से कृष्ण की सेवा रागात्मिका सेवा है; भक्तों के लिए सुबल आदि की सख्यप्रीति परमादर्श, परमसाध्य वस्तु है, इस साध्य के लिए साधन होगा रागानुग भाव अर्थात् अनुरूप-सेवा का आचरण, श्रवण-स्मरण आदि के द्वारा अनुरूप राग से रुचि उद्बोधित करके लीला का आस्वादन करना। जीवगोस्वामी ने अपने भक्ति-संदर्भ में कहा है, यह रागात्मिका भक्ति साध्यरूपा भक्ति-लक्षण राग-गंगा में तरंग-स्वरूपा है, इसका साध्यत्व ही है, साधन-प्रकरण में इसका प्रवेश नहीं है। रागानुगा में साधक-भक्त के चित्त में पूर्वोक्त राग-विशेष से रुचि ही उत्पन्न होती है, स्वयं राग-विशेष उत्पन्न नहीं होता। यहाँ राग-सुधाकर के किरणाभास के द्वारा भक्त-हृदयरूप स्फटिकमणि मानो समुल्लसित हो उठती है, उस चित्तसमुल्लास रूप रुचि के द्वारा प्रणोदित होकर जो भजन होता है वही रागानुग साधन है। जीव के लिए

यही संभव है।[1] रूपगोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के पूर्व भाग की साधनभक्तिलहरी में रागात्मिका भक्ति के सम्बन्ध में कहा है, 'इष्ट में स्वाभाविकी परमाविष्टता ही राग है, तन्मयी अर्थात् वह रागमयी जो भक्ति है वही रागात्मिका भक्ति है। और व्रजवासियों में अभिव्यक्त रूप में विराजमान जो रागात्मिका भक्ति है उसकी अनुसृता भक्ति ही रागानुगा नाम से विख्यात है।'[2] राधाप्रेम ही पूर्ण मधुर रस का रागात्मक प्रेम है, वह एक राधा के सिवा और कहीं भी संभव नहीं है। इस राधा की काय-व्यूह-स्वरूप हैं सखियाँ, मंजरीगण उन सखियों की अनुगता सेवा-दासी हैं, श्रीरूपमंजरी आदि ये मंजरीगण भी गोलोक की नित्यपरिकर हैं; अनुग-भाव से उनकी सेवा और लीला-आस्वादन ही जीव का श्रेष्ठ काम्य है। रागानुग भाव से भगवान् श्रीकृष्ण की 'अष्टकालीन' लीला का स्मरण ही वैष्णव-साधकों का प्रधान साधन है। कृष्ण की अष्टकालीन लीला का आभास पुराणादि में मिलता है, रूपगोस्वामी कई श्लोकों में संक्षेप में अष्टकालीन लीला का उल्लेख कर गए हैं। कविकर्णपूर की 'श्रीकृष्णाह्निककौमुदी', कृष्णदास कविराज के 'गोविन्दलीलामृत' काव्य और विश्वनाथ चक्रवर्ती के 'श्रीकृष्ण-भावनामृत' में अष्टकालीन लीला का सुमधुर विस्तार दिखाई पड़ता है। सिद्धकृष्णदास बाबाजी के 'भावना-सार-संग्रह' में इस अष्टकालीन लीला के बारे में धाराबद्ध और सुविन्यस्त करीब तीन हजार श्लोक उद्धृत हैं। वैष्णव कवियों ने अपनी-अपनी बंगला पदावली में राधाकृष्ण की इस अष्टकालीन लीला का मधुर रूप दिया है। 'निशान्तलीला' से यह अष्टकालीन लीला शुरू होती है, इसके बाद 'प्रात-र्लीला', 'मध्याह्नलीला', 'अपराह्ण-लीला', 'सायंलीला', 'प्रदोष-लीला' और अंत में 'नैशलीला' होती है। विचित्र अवस्थान के अन्दर से श्रीराधिका को ही हम इस कृष्णलीला का प्रधान अवलम्ब देखते हैं। दूसरे व्रजपरिकर-गण ने प्रत्यक्ष या परोक्ष में इसी लीला का ही रसपरिपोषण किया है।

---

(१) तस्याश्च साध्यायां राग-लक्षणायां भक्ति-गंगायां तरङ्गरूपत्वात् साध्यत्वमेवेति न तु साधनप्रकरणेऽस्मिन् प्रवेशः। अतो रागानुगा कथ्यते। यस्य पूर्वोक्ते रागविशेषे रुचिरेव जातास्ति न तु राग-विशेषे एव स्वयं, तस्य तादृशरागसुधाकरकराभाससमुल्लसितहृदय-स्फटिकमणेः शास्त्रादिश्रुतासु तादृश्या रागात्मिकाया भक्तेः परिपाटीष्वपि रुचिर्जा-यते। ततस्तदीयं रागं रुच्यानुगच्छन्ती सा रागानुगा तस्यैव प्रवर्तते ॥३१०॥

(२) इष्टे स्वारसीकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥
विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ॥

एकादश अध्याय

चैतन्य-चरितामृत में व्याख्यात गौरतत्त्व और राधातत्त्व

कृष्णदास कविराज के चैतन्य-चरितामृत ग्रंथ को तत्त्वालोचना की दृष्टि से वृन्दावन के गोस्वामियों के ग्रंथों में आलोचित तत्त्व-समूह का कवित्व-मय सार-संकलन कहा जा सकता है। कविराज गोस्वामी ने अपने ग्रंथ में रूप-सनातन द्वारा विवेचित तत्त्व-समूह महाप्रभु चैतन्यदेव के उपदेश के अनुसार ही इस तरह प्रचारित किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस विषय में मतभेद हो सकता है। लेकिन एक खास चीज को देखना होगा। वह यह है कि चैतन्य के आविर्भाव के बाद से श्रीराधा और श्रीचैतन्य भक्त-कवियों का तत्त्वालोचना में और काव्य-रसायन में बहुतेरे स्थलों पर मिलजुलकर एक हो गए हैं। संन्यास लेने के बाद चैतन्य ने जब अपने गोरे अंग पर अरुण-वर्ण का वसन धारण किया तभी से वे तन-मन से मानो राधा हो गए हैं। परवर्ती काल में प्रेमोन्माद दशा में उनकी सारी चेष्टाएँ और आचरण प्रेमोन्मादिनी राधा की ही बात याद दिला देते हैं, कम से कम गौड़ीय वैष्णव-गण के वर्णन में चैतन्य को हम इसी रूप और इसी भाव में पा रहे हैं। 'आमार गोरा भावेर राधाराणी'—यह सभी गौड़ीय भक्तों और कवियों का अटल विश्वास है। चैतन्य-चरितामृत में कृष्णदास कविराज ने कहा है—

राधिकार भावमूर्ति प्रभुर अन्तर।
सेइ भावे सुखदुःख उठे निरन्तर॥
शेषलीलाय प्रभुर विरह उन्माद।
भ्रममय चेष्टा सदा प्रलापमय वाद॥
राधिकार भाव यैछे उद्धव दर्शने।
सेइ भावे मत्त प्रभु रहे रात्रि दिने॥
रात्रे विलाप करे स्वरूपेर कंठ धरि।
आवेशे आपन भाव कहेन उघाड़ि॥

—चैतन्य-चरितामृत (आदि, चतुर्थ)

इस प्रकार से चैतन्य के परवर्ती बंगला-साहित्य में श्रीराधा का रूप विकसित हुआ। एक ओर चैतन्य जिस तरह अपने सारे प्रेम-विरह

की चेष्टा को लेकर श्रीराधा के अनुरूप चित्रित होने लगे, उसी तरह दूसरी ओर श्रीराधा भी चैतन्य के भावरूप में अंकित होने लगीं। चैतन्य-चरितामृत में प्रेमावेश में विह्वल महाप्रभु के वर्णन में देखते हैं—

आछाड़ खाइया पड़ि भूमे गड़ि जाय ।
सुवर्ण पर्वत येन भूमिते लोटाय ।।

चंडीदास के नाम से प्रचलित एक पद में (इस पद के चैतन्य के परवर्ती युग में रचित होने की संभावना है) राधा के वर्णन में हम देखते हैं—

अकथन बेयाधि ए कहा नाहि जाय ।
जे करे कानुर नाम धरे तार पाय ।।
पाये धरि पड़े से चिकुर गड़ि जाय ।
सोनार पुतलि जेन धूलाय लुटाय ।।

यहाँ कौन किससे प्रभावित हुआ है उस बहस में न पड़ने पर भी यह साफ समझ में आ जाता है कि यहाँ राधा और गौरांग एक हो गए हैं। कृष्ण के विरह में उँगली से भूमि पर निरन्तर लकीर खींचती हुई राधा को हम देखते हैं—

उपवन हेरि मूरछि पड़ु भूतले चिन्तित सखीगण संग ।
पद-अंगुलि देइ खिति पर लेखइ पाणि कपल-अवलम्ब ।।

उसी तरह चैतन्य को हम देखते हैं—

भावावेशे कभु प्रभु भूमिते बसिया ।
तर्ज्जनीते भूमि लेखे अधोमुख हैया ।। (मध्य, १३वां)

कवि विद्यापति के नाम से राधा-विरह का एक पद मिलता है—

माधव कत परबोधब राधा ।
हा हरि हा हरि कहतहि बेरि बेरि
अब जिउ करब समाधा ।।
धरणि धरयि धनि यतनहि बैठत
पुनहि उठइ नहि पारा ।
सहजहि विरहिणि जग माहा तापिनि
वैरि मदन-शर-धारा ।
अरुण-नयन-लोरे तीतल कलेवर
विलुलित दीघल केशा ।
मन्दिर बाहिर करइते संशय
सहचरि गणतहि शेषा ।।

पद को पढ़ने से मन में जो चित्र उदभासित हो उठता है उससे इस पद को चैतन्य के परवर्ती काल के बंगला के किसी चैतन्य-प्रभावित विद्यापति की रचना मानने की इच्छा होती है। ज्ञानदास के एक प्रसिद्ध अभिसार के पद में देखते हैं—

आवेशे सखीर अंगे अंग हेलाइया ।
पद-आध चले आर पड़े मुरछिया ।।
रराव खमक वीणा सुमिल करिया ।
वृन्दावने प्रवेशिल जय जय दिया ।।

रराव, खमक, वीणा बजाते हुए जय-जयकार करते जो दल वृन्दावन में घुसा वह चैतन्य महाप्रभु का ही कीर्तनदल था और भावावेश से सखी के (गदाधर आदि के?) अंग के सहारे जो आधा पग चलते और फिर मूर्छित हो जाते, वे भी स्वयं चैतन्य हैं इस बात को समझने में कठिनाई नहीं होती।[१]

वास्तव में महाप्रभु श्रीचैतन्य का सारा जीवन इस अप्राकृत राधा-प्रेम की भाव-व्याख्या है। साधारण लोगों के लिए अप्राकृत राधाप्रेम एक अमूर्त तत्त्वभावना मात्र है; ये सारी तत्त्व-भावनाएँ महाप्रभु के जीवन में विषयीकृत हुई थी, इसीलिए साधारण जीव के लिए महाप्रभु के प्रेम के द्वारा राधा-प्रेम को समझ लेना ही सही रास्ता है। चैतन्य के परवर्ती कवियों ने महाप्रभु के राधाभाव से संभावित प्रेम-मूर्ति को लेकर ठीक राधा के अनुरूप भाव-चेष्टा आदि का वर्णन करते हुए बहुतेरे पद लिखे हैं। ये पद अब कीर्तन के प्रारंभ में 'गौरचन्द्रिका' (भूमिका) के रूप में गए जाते हैं। महाप्रभु का यह प्रेम मानो राधा-प्रेम के गूढ़ रहस्य में प्रवेश करने की कुँजी है। वासुदेव घोष (नरहरि सरकार?) ने इस तत्त्व का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया है—

---

(१) चैतन्य के परवर्ती युग के वैष्णव कवि केवल श्रीराधा के वर्णन में ही महाप्रभु की विरह चेष्टादि के चित्र के द्वारा प्रभावित हुए थे ऐसी बात नहीं, जगह जगह विरहकातर श्रीकृष्ण भी महाप्रभु के आदर्श के अनुसार ही वर्णित लगते हैं। गोविन्ददास के एक प्रसिद्ध पद हैं—

'रा' कहि 'धा' पहुँ कहइ न पारइ धारा धरि बहे लोर ।
सोइ पुरुषमणि लोटाय धरणि पुंन को कह आरति ओर ।।

श्रीकृष्ण के पूर्वराग का यह वर्णन महाप्रभु के विरह-वर्णन से एकाकार हो गया है।

यदि गौरांग ना ह'त कि मेने हइत केमने धरिताम दे।
राधार महिमा प्रेमरस-सीमा जगते जानात के ।।

मधुर-वृन्दाविपिन-माधुरी-प्रवेश-चातुरी-सार ।
बरज-युवती-भावेर भकति शकति हइत कार ।।

वृन्दावन के विपिन में जिस लीला-माधुर्य का विस्तार हुआ है उसम 'प्रवेश-चातुरी-सार' है गौरांग-प्रेम। इसीलिए राधा-प्रेम कीर्तन करने के पहले भक्त के चित्त में गूढ़ तत्त्वभावना जगाने के लिए इस गौरचन्द्रिका का कीर्तन कर लेना पड़ता है।

गौरचन्द्रिका में श्रीगौरांग के बारे में जो पदों हैं वे केवल राधा के लिए ही प्रयुक्त नहीं होते, कहीं कारान्तर से कृष्ण के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। वासुदेव घोष के प्रसिद्ध पद में कहा गया है—

गोरा-रूप लागिल नयने।
किबा निशि किबा दिशि शयने स्वपने ।।
जे दिके फिराइ आँखि सेइ दिके देखि ।
पिछलिते करि साध ना पिछले आँखि ।।
कि खेने देखिलाम गोरा कि ना मोर हइल ।
निरवधि गोरारूप नयने लागिल ।।
चित निवारिते चाहि नहे निवारण ।
वासुघोषे कहे गोरा रमणीमोहन ।।

यही है 'नदीया-नागर' गौरांग; कृष्ण थे 'वृदावन-नागर', वे ही 'नदीया-नागर' के रूप में फिर अवतीर्ण हुए। गौड़ीय भक्तों का विश्वास है कि गौरांग स्वरूप में पूर्ण भगवान् कृष्ण के ही अवतार हैं, कृष्ण के रूप म ही उन्होंने राधिका की शुभ्र भाव-कान्ति या देह-कान्ति पाई थी। इसीलिए वे 'अंतःकृष्ण' और 'बहिर्गौर' हैं।

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्र-पार्षदम् ।
यज्ञैः संकीर्तन-प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ।।[१]

भागवत के इस श्लोक के आधार पर ही गौड़ीय-वैष्णवों ने गौरांग के अन्तःकृष्णत्व (कृष्णवर्णं) और बहिर्गौरत्व (त्विषा अकृष्णं) सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसी भाव के आधार पर ही स्वरूपगोस्वामी ने अपने कड़चा में लिखा है—

(१) भागवत, ११।५।२६

राधाकृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा-
देकात्मानावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ ।
चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद्द्वयं चैक्यमाप्तं
राधाभाव द्युतिसुवलितं नौमि कृष्ण-स्वरूपम् ।।

"राधा कृष्ण की ही प्रणय-विकृति ह्लादिनी शक्ति हैं, इसीलिए (दोनों) एकात्म होते हुए भी देहभेद को प्राप्त हुए थे। अब फिर उन दोनों ने ऐक्य लाभ किया है। राधाभावद्युति—सुवलित चैतन्याख्य उस कृष्णस्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ।"[१] राय रामानन्द से राधा-कृष्ण-तत्त्व पर विस्तारपूर्वक बहस के बाद जब रामानन्द ने महाप्रभु का स्वरूप-दर्शन करने की इच्छा प्रकट की तो—

तबे हासि तारे प्रभु देखाल स्वरूप ।
रसराज महाभाव दुइ एकरूप ।। (मध्य, अष्टम)

पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण के इस चैतन्य-अवतार में एक ही साथ राधा-कृष्ण के युगलरूप में आविर्भाव का क्या तात्पर्य है? इस तात्पर्य के अन्दर ही चैतन्य अवतार के सारे गूढ़ रहस्य छिपे हैं। इस विषय में स्वरूप दामोदर के एक कड़चा के केवल एक श्लोक में सारा तत्त्व बड़ी खूबी से स्पष्ट हो गया है।

श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः ।
सौख्यञ्चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभा-
त्तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः ।।

"जिस प्रेम के द्वारा राधा मेरी अद्भुत मधुरिमा का आस्वादन करती हैं, श्रीराधा की वह प्रणयमहिमा कैसी है, और राधाप्रेम द्वारा आस्वाद्य जो मेरी मधुरिमा है वह कैसी है, मेरा अनुभव करके राधा को जो सुख होता है वह कैसा है—इसी के लोभ से राधाभाव युक्त होकर शची के गर्भ रूपी सिन्धु में हरि (गौरांग) रूप इन्दु (चन्द्र) ने जन्म लिया है।"[२]

---

(१) तुलना कीजिए गोविन्ददास के पद—
जय निज कान्ता-कान्ति-कलेवर जय जय प्रेयसी-भाव-विनोद ।
जय व्रज-सहचरी लोचन-मंगल जय नदीया-वधू-नयन-आमोद ।।

(२) तुलनीय—अपारं कस्यापि प्रणयिजनवृन्दस्य कुतुकी
रसस्तोमं हृत्वा मधुर-मुपभोक्तुं कमपि यः ।
रुचं स्वामावव्रे द्युतिमिह तदीयां प्रकटयन्
स देवश्चैतन्याकृतिरतितरां नः कृपयतु ।।
रूपगोस्वामी की स्तवमाला, २।३

गौड़ीय वैष्णवों के मतानुसार भूभार हरने के लिए कृष्ण ने अवतार लिया था, यह एक बहिरंग कथा है; उनका आविर्भाव हुआ था प्रेमरस के निर्यास के आस्वादन के लिए। इस प्रेमरस-निर्यास-आस्वादनरूप मुख्य प्रयोजन के साथ आनुषंगिक भाव से भूभार-हरण का प्रयोजन आ मिला था। कृष्णावतार के बाद प्रेमास्वादन के विषय में भगवान् को कुछ-कुछ लोभ था; स्वरूप दामोदर ने उपर्युक्त श्लोक में उसी लोभ का ही उल्लेख किया है। इस श्लोक में हम तीन प्रकार के लोभ देखते हैं—(१) राधा के प्रेम की महिमा कैसी है; (२) राधा-आस्वादित कृष्ण की माधुर्यमहिमा कैसी है; (३) कृष्ण-सम्बन्धी प्रेम के आस्वादन में राधा का सुख कैसा है। इन तीनों प्रयोजनों से ही अन्तःकृष्ण-वहिर्गौर रूप में गौरांग का अवतार हुआ। इन तीनों प्रयोजनों और इनका अवलम्बन करके श्रीराधा और उसके प्रेम का स्वरूप कविराज गोस्वामी ने 'चतन्य-चरितामृत' ग्रंथ के आदिलीला के चौथे अध्याय में वर्णन किया है। उस वर्णन का अनुसरण करके ही हम विषय को स्पष्ट करने की चेष्टा कर रहे हैं।

राधा-प्रेम की महिमा-वर्णन के प्रसंग में कविराज गोस्वामी ने कहा है—

महाभाव-स्वरूपा श्रीराधा ठाकुराणी ।
सर्वगुण-खनि कृष्ण-कान्ता-शिरोमणि ।।
कृष्णप्रेमे भावित जार चित्तेन्द्रिय काय ।
कृष्ण-निजशक्ति राधा क्रीड़ार सहाय ।।

इसी कृष्णकान्ता-शिरोमणि राधिका से ही दूसरी कान्ताओं का विस्तार हुआ है। कृष्णकान्ताए तीन प्रकार की हैं; प्रथम लक्ष्मीगण द्वितीय महिषीगण और तृतीय ललित द व्रजांगनागण। इनमें—

लक्ष्मीगण ताँर वैभवविलासांशरूप ।
महिषीगण वैभव प्रकाश स्वरूप ।।
आकार-स्वभाव भेदे व्रजदेवीगण ।
कायव्यहरूप ताँर रसेर कारण ।।

बहुकान्ता के अलावा रस का उल्लास नहीं होता है, इसीलिए एक राधिका ही इन तीन प्रकार के बहुकान्ता के रूप में कृष्ण को अनन्त विचित्र लीलारसास्वादन कराती हैं। इसीलिए—

गोविन्दानन्दिनी राधा—गोविन्द-मोहिनी ।
गोविन्द-सर्वस्व—सर्वकान्ता-शिरोमणि ।।

:o: :o: :o:

कृष्णमयी कृष्ण जाँर भितरे बाहिरे ।
जाँहा जाँहां नेत्र पड़े ताँहा कृष्ण स्फुरे ।।
किंवा प्रेमरसमय कृष्णेर स्वरूप ।
ताँर शक्ति ताँर सह हय एकरूप ।।
कृष्णवांछा-पूर्तिरूप करे आराधने ।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने ।।

:o: :o: :o:

जगत-मोहन कृष्ण—ताँहार मोहिनी ।
अतएव समस्तेर परा ठाकुराणी ।।
राधा पूर्ण-शक्ति, कृष्ण पूर्ण-शक्तिमान् ।
दुइ वस्तु भेद नाहि शास्त्र परमाण ।।
मृगमद तार गंध यैछे अविच्छेद ।
अग्नि ज्वालाते यैछे कभु नहे भेद ।।
राधाकृष्ण ऐछे सदा एकइ स्वरूप ।
लीलारस आस्वादिते धरे दुइ रूप ।।

इस अनन्त-विचित्र-प्रेम से महिममयी राधा के साथ सारे लीला-रस का आस्वादन करके भी श्रीकृष्ण के तीन लोभ बाकी रह गये थे; जिसके लिए फिर गौर-अवतार की आवश्यकता पड़ी थी। इन तीनों लोभों के अन्दर—

ताहार प्रथम वांछा करिये व्याख्यान ।
कृष्ण कहे आमि हइ रसेर निधान ।।
पूर्णानन्दमय आमि चिन्मय पूर्ण तत्त्व ।
राधिकार प्रेमे आमा कराय उन्मत्त ।।
ना जानि राधार प्रेमे आछे कत बल ।
जे बले आमारे करे सर्वदा विह्वल ।।
राधिकार प्रेम गुरु आमि शिष्य नट ।
सदा आमा नाना नृत्ये नाचाय उद्भट ।।
निज प्रेमास्वादे मोर हय जे आह्लाद ।
ताहा हैते कोटि गुण राधा पेमास्वाद ।।
आमि यैछे परस्पर विरुद्ध-धर्माश्रय ।
राधाप्रेम तैछे सदा विद्धरु-धर्म्ममय ।।

राधाप्रेमे विभु जार बाढ़िते नाहि ठाञि ।
तथापि से क्षणे क्षणे बाढ़ये सदाइ ।।

:o: :o: :o:

सेइ प्रेमार श्रीराधिका परम आश्रय ।
सेइ प्रेमार आमि हइ केवल विषय ।।
विषयजातीय सुख आमार आस्वाद ।
आमा हैते कोटिगुण आश्रयेर आह्लाद ।।
आश्रयजातीय सुख पाइते मन धाय ।
यत्ने आस्वादिते नारि कि करि उपाय ।।
कभु यदि एइ प्रेमार हइये आश्रय ।
तबे एइ प्रेमानन्देर अनुभव हय ।।
एत चिन्ति रहे कृष्ण परमकौतुकी ।
हृदये बाढ़ये प्रेमलोभ धक्धकी ।।

कृष्णावतार के बाद गौर-अवतार की यही प्रथम लोभरूपी प्रयोजन है। राधिका प्रेम का आश्रय है, कृष्ण केवल प्रेम के विषय हैं। प्रेम के आश्रयत्व में कौन-सी महिमा है उसका अनुभव करने के लिए ही गौर-अवतार में हरि एक ही साथ प्रेम का विषय और आश्रय होकर उभय मुख से प्रेम की महिमा का आस्वादन किया।

गौरावतार में हरिका दूसरा लोभ इस प्रकार का है। प्रेम के विषय में जो 'अद्भुतमधुरिमा' रहती है विषय खुद उसका आस्वादन नहीं कर पाता है। केवल आश्रय के द्वार पर ही इस प्रेम-विषय का माधुर्य प्रकट होता है। श्रीराधा के हृत-मुकुर में ही कृष्ण-माधुर्य की चरम अभिव्यक्ति और आस्वादन होती है। सिर्फ यही नहीं, राधिका के प्रेम की गहराई और वैचित्र्य के द्वारा ही कृष्ण का सौंदर्य माधुर्य मानो बराबर बढ़ता रहता है। अतएव राधा रूप ग्रहण न करने से कृष्ण अपने में निहित अनन्त माधुर्य का स्वयं आस्वादन नहीं कर पाते हैं। अपने मधुर-स्वरूप-उपलब्धि के लिए ही इसीलिए कृष्ण को गौर-अवतार में राधिका की भाव-कान्ति ग्रहण करनी पड़ी। इसीलिए दूसरे लोभ के बारे में चैतन्य-चरितामृत में कहा गया है—

एइ एक सुन आर लोभेर प्रकार ।
स्वमाधुर्य देखि कृष्ण करेन विचार ।।
अद्भुत अनन्त पूर्ण मोर मधुरिमा ।
त्रिजगते इहार केहो नाहि पाय सीमा ।।

एइ प्रेमद्वारे नित्य राधिका एकलि ।
आमार माधुर्यामृत आस्वादे सकलि ।।
यद्यपि निर्म्मल राधार सत्प्रेम दर्पण ।
तथापि स्वच्छता तार बाढ़े क्षणे क्षण ।।
आमार माधुर्येर नाहि बाढ़िते अवकाशे ।
ए-दर्पणेर आगे नवनवरूपे भासे ।।
मन्माधुर्य राधाप्रेम—दोंहे होड़ करि ।
क्षणे क्षणे बाढ़े दोंहे केहो नाहि हारि ।।
आमार माधुर्य नित्य नव नव हय ।
स्व स्व प्रेम अनुरूप भक्ते आस्वादय ।।
दर्पणाद्ये देखि यदि आपन माधुरी ।
आस्वादिते लोभ हय आस्वादिते नारि ।।
विचार करिये यदि आस्वाद-उपाय ।
राधिकास्वरूप हइते तबे मन धाय ।।

कविराज गोस्वामी ने अन्यत्र इसी को कहा है—"आपनि आपना चाहे करिते आलिंगन", गौरहरि के रूप राधाभाव में निभोर होकर निरन्तर निज-माधुर्य का खुद ही आस्वादन किया है।

गौर-रूप अवतार के प्रति कृष्ण में एक और लोभ था; सह हैं कृष्ण से मिलन होने पर राधा को जो सर्वातिशायी सुख होता है, राधा की अंगकान्ति को अंगीकार करके उस सुख का एकबार आस्वादन करना। मिलन-जनित सुख नामक वस्तु ने श्रीराधा के अन्दर जो सर्वातिशायिनी विशिष्टता प्राप्त की थी और किसी दूसरे व्यक्ति में संभव नहीं है, वह व्रजधाम में एकमात्र राधा के अन्दर संभव हुई थी। कृष्ण के प्रति राधिका में 'काम' था, राधिका ही 'कामेश्वरी' हैं, लेकिन 'अधिरूढ़ महाभाव' रूप राधा के इस काम के अन्दर प्राकृत काम की लेशमात्र नहीं था, राधा का अप्राकृतक काम विशुद्ध निर्मल प्रेम है। कविराज गोस्वामी के मतानुसार काम और प्रेम लोहा और सोने की भाँति स्वरूपविलक्षण हैं। एक है आत्मेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा, दूसरी है कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा; एक है अन्धतमः, दूसरी है निर्मल भास्कर। हम लोगों ने पूर्ववर्ती विवेचन में बहुत बार देखा है कि राधा का प्रेम विशुद्ध 'कृष्ण-सुखैकतात्पर्य' है।[१] 'चन्द्रावली'

---

(१) अतएव गोपीगणे नाहि कामगन्ध ।
कृष्ण सुख लागि मात्र कृष्ण से सम्बन्ध ।।
आत्मसुख दुःख गोपीर नाहिक विचार ।
कृष्ण सुख हेतु चेष्टा मनोव्यवहार ।।
कृष्ण लागि आर सब करि परित्याग ।
कृष्ण सुख हेतु करे शुद्ध अनुराग ।।

के अन्दर आत्मप्रीति का लेशमात्र अवशिष्ट रहने के कारण वह राधा प्रेम से निकृष्ट है। गोपियों के इस विशुद्ध कृष्णसुखैकतात्पर्य प्रेम के साने खुद कृष्ण को हार माननी पड़ी है; इसीलिए भागवत में कृष्णवचन में देखते हैं कि भगवान् कृष्ण ने कहा कि यह गोपीप्रेम उनके लिए साध्य नहीं है।[1] गोपियों की जो निजदेहप्रीति है वह भी मूल में उसी कृष्ण प्रेम के लिए ही है।[2] लेकिन कामगंधहीन इस गोपीप्रेम के अन्दर एक अद्भुत रहस्य है; यहाँ 'सुख वांछा नाहि, सुख हय कोटि गुण'! यह गोपीप्रेम का एक विचित्र विरोधाभास है। इस विराधाभास के विषय में कविराज गोस्वामी ने अपनी अननुकरणीय भाषा में कहा है—

गोपिका दर्शने कृष्णेर ये आनन्द हय ।
ताहा हैते कोटिगुण गोपी आस्वादय ।।
ताँ सबार नाहि निज-सुख-अनुरोध ।
तथापि बाड़ये सुख पड़िल विरोध ।।
ए विरोधेर एकमात्र देखि समाधान ।
गोपिकार सुख कृष्णसुखे पर्यवसान ।।
गोपिकादर्शने कृष्णेर बाड़े प्रफुल्लता ।
से माधुर्य बाड़े जार नाहिक समता ।।
आमार दर्शने कृष्ण पाइल एत सुख ।
एत सुखे गोपीर प्रफुल्ल अंग मुख ।।
गोपीशोभा देखि कृष्णशोभा बाड़े यत ।
कृष्णशोभा देखि गोपीशोभा बाड़े तत ।।
एइ मत परस्पर पड़े हुड़ाहुड़ि ।
परस्पर बाड़े केह मुख नाहि मुड़ि ।।
किन्तु कृष्णेर सुख हय गोपीरूप गुणे ।
ताँर सुखे सुख वृद्धि हय गोपीगणे ।।

---

(१) १०।३२।२१

(२) तबे जे देखिये गोपीर निज देहे प्रीत ।
सेहोत कृष्णेर लागि जानिह निश्चित ।।
एइ देह कैल आमि कृष्णे समर्पण ।
तार' धन तार एइ संभोग साधन ।।
ए-देह दर्शन स्पर्शे कृष्ण संभाषण ।
एइ लागि करे देहे मार्जन भूषण ।।

गोपीप्रेम और प्रेमजनित सुख की यह जो बात कही गई उसमें—

सेइ गोपीगण मध्ये उत्तमा राधिका ।
रूपे गुणे सौभाग्ये प्रेमे सर्वाधिका ॥

त्रिभुवन में इस राधिका का अतुलनीय वैशिष्ट्य यह है कि अपनी सारी प्रेम-चेष्टा के द्वारा वे पूर्णानन्द और पूर्णरसस्वरूप कृष्ण को भी आनन्दित करती है, कृष्णसुख में ही उनकी सारी सुखचेष्टा और प्रेम चेष्टा परिणत होती है । इसीलिए कृष्ण ने मन ही मन विस्मित होकर सोचा है—

आमा हैते आनन्दित हय त्रिभुवन ।
आमाके आनन्द दिबे ऐछे कोन जन ॥
आमा हइते जार हय शत शत गुण ।
सेइ जन आह्लादिते पारे मोर मन ॥
आमा हइते गुणी बड़ जगते असम्भव ।
एकलि राधाते ताहा करि अनुभव ॥
कोटि काम जिनि रूप यद्यपि आमार ।
असमोद्ध्वं माधुर्य साम्य नाहि जार ॥
मोररूपे आप्यायित करे त्रिभुवन ।
राधार दर्शने मोर जुड़ाय नयन ॥
मोर वंशीगीते आकर्षये त्रिभुवन ।
राधार वचने हरे आमार श्रवण ॥
यद्यपि आमार गंधे जगत् सुगंध ।
मोर चित्त घ्राण हरे राधा-अंग-गंध ॥
यद्यपि आमार रसे जगत् सुरस ।
राधार अधर रसे आमा करे वश ॥
यद्यपि आमार स्पर्श कोटीन्दु शीतल ।
राधिकार स्पर्शे आमा करे सुशीतल ॥
एइ मत जगतेर सुखे आमि हेतु ।
राधिकार रूपगुण आमार जीवातु ॥
एइ मत अनुभव आमार प्रतीत ।
विचारि देखिये यदि सब विपरीत ॥
राधार दर्शने मोर जुड़ाय नयन ।
आमार दर्शने राधा सुखे आगोयान ॥
परस्पर वेणुगीते हरये चेतन ।
मोरभ्रमे तमालेरे करे आलिंगन ॥

कृष्ण-आलिंगन पाइनु जनम सफले ।
सेइ सुखे मग्न रहे वृक्ष करि कोले ।।
अनुकूल वाते यदि पाय मोर गंध ।
उड़िया पड़िते चाहे नेत्रे हय अन्ध ।।
ताम्बुल चर्वित यबे करे आस्वादने ।
आनन्द-समुद्रे डुबे किछुइ ना जाने ।।
आमार संगमे राधा पाय ये आनन्द ।
शत मुखे कहि यदि नाहि पाइ अंत ।।
लीला अंते सुखे इहार जे अंगमाधुरी ।
ताहा देखि सुखे आमि आपना पासरि ।।

:o: :o: :o:

आमा हैते राधा पाय ये जातीय सुख ।
ताहा आस्वादिते आमि सदाइ उन्मुख ।।
नाना यत्न करि आमि नारि आस्वादिते ।
से सुख माधुर्य घ्राणे लोभ बाड़े चित्ते ।।
रस आस्वादिते आमि कैल अवतार ।
प्रेमरस आस्वादिल विविध प्रकार ।।

यही है गौर-अवतार में राधाभाव-अंगकान्ति धारण करने का रहस्य श्रीमान्महाप्रभु चैतन्य देब की भगत्ता और उस भगवत्ता के स्वरूप पर विचार के प्रसंग में महाप्रभु से एक करके कृष्णदास कविराज ने राधा की जिस मूर्त्ति का अंकन किया है और राधातत्त्व की स्थापना की है हमने ऊपर यथासंभव कविराज गोस्वामी की ही भाषा में उसका परिचय दिया है। इस विवेचन को भलीभाँति देखने से पता चलेगा कि, श्रीराधा की अध्यात्म-मूर्ति का महिममय पूर्ण-प्रकाश इसी चैतन्ययुग में हुआ है। चैतन्य के पूर्ववर्ती राधाकृष्ण-प्रेम-साहित्य में और चैतन्य के परवर्ती राधाकृष्ण-प्रेम-साहित्य में भी राधिका की एक द्वैत्ता है, उसकी अप्राकृत अध्यात्म मूर्ति एक अशरीरी छाय की भाँति उसकी काव्य में रूपायित प्राकृत मूर्त्ति के चारों ओर क्षण-क्षण पर एक दिव्य परिमंडल का आभास मात्र देती है; साहित्यिक रूपायण में हम बल्कि प्राकृत की ही जय देखते हैं। लेकिन राधाकृष्ण-प्रेम-साहित्य को आध्यात्मिकता की उतनी ऊँचाई से देखने और ग्रहण करने की जो दृष्टि है वह दृष्टि मुख्यत: चैतन्य-युग की ही देन मालूम होती है। श्रीचैतन्य के दिव्य भाव और आचरण में उनके

परमभक्त और परमज्ञानिगुणी परिकरवर्ग के ध्यान तथा मनन के अन्दर से श्रीराधा का एक नया आविर्भाव हमने स्पष्ट देखा। इस आविर्भाव की दिव्यद्युति अभी भी बंगालियों की आँखों पर छाई हुई है और इसीलिए हमने वैष्णव साहित्य के आस्वादन के समय साहित्य-रस के साथ अध्यात्म-रस को मिलाए बगैर नहीं रहते। इस मिश्रण या समन्वय के अलावा वैष्णव-साहित्य के आस्वादन में कहीं एक अपूर्णता रह जाती है। इसीलिए कहना पड़ता है कि भक्तकवि वासुदेव घोष गौरांग के बारे में कह गए हैं—'मधुर-वृन्दा-विपिन-माधुरी-प्रवेश-चातुरी-सार'—चैतन्य के जीवन का इससे बढ़कर सर्वांगीण वर्णन नहीं हो सकता है।

द्वादश अध्याय

वैष्णव सहजिया मत में राधा-तत्त्व

हमने ऊपर के अध्याय में जिस राधातत्त्व का विवेचन किया वही गौड़ीय वैष्णव सिद्धान्त सम्मत राधातत्त्व है। इस गौड़ीय वैष्णव धर्म से हम चैतन्य-प्रवर्तित वैष्णव धर्म को ही समझते हैं। चैतन्य-प्रवर्तित इस वैष्णव धर्म ने परवर्ती काल के शास्त्रज्ञ वैष्णव गोस्वामियों के द्वारा नाना प्रकार से विधिबद्ध होकर दार्शनिक सिद्धान्त और धर्माचरण दोनों में ही एक विशेष रूप प्राप्त किया है। लेकिन इस विधि-बद्ध वैष्णव धर्म के अलावा बंगाल में वैष्णव धर्म की और कई धाराएँ प्रवाहित हुई हैं, इनमें वैष्णव-सहजिया धारा प्रधान धारा है। इन सहजिया लोगों के अपने कई दार्शनिक सिद्धान्त थे; उन मूल सिद्धान्तों के अनुरूप उसके राधातत्त्व ने विशिष्टता प्राप्त की है।

इस वैष्णव-सहजिया मत के मूल पर विचार करने से हम देखते हैं कि इस सहजिया मत का मूल किसी विशेष वैष्णव दार्शनिक सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित नहीं है, वास्तव में इस धर्म की प्रतिष्ठा कुछ गुह्य साधनों पर है। सहजिया लोगों की इस गुह्य साधना की धारा भारतीय साधना के क्षेत्र में एक अति प्राचीन धारा है। इन साधनाओं ने भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न धममतों के साथ मिलकर विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों को जन्म दिया है। यह कहीं तांत्रिक साधना के रूप में प्रचलित है, कहीं यह बौद्ध-सहजिया के अन्दर रूपान्तिरित हुई है, इन साधन-प्रणालियों ने वैष्णव-धर्म से मिलकर वैष्णव-सहजिया सम्प्रदाय को जन्म दिया है। नर-नारी के परस्पर मिलित भाव से एक धर्म-साधना की धारा भारतवर्ष के धर्म के इतिहास में बहुत पहले ही से प्रचलित है। इस साधना की विभिन्न परिणतियों से ही वामाचारी तांत्रिक साधना, बौद्ध तांत्रिक साधना बौद्ध-सहजिया साधना आदि का उद्भव हुआ है। बाहर से ये धर्म-सम्प्रदाय परस्पर जितने अलग क्यों न मालूम हों, वास्तव में विचार करने पर उन सभी में एक गहरी एकाई दिखाई पड़ती है। विभिन्न सम्प्रदायों में इस साधना के प्रचलन के साथ कितने ही दार्शनिक सिद्धान्त जुड़े हुए हैं। सभी सिद्धान्तों के मल में हम देखते हैं कि चरम सत्य है एक अद्वय परमानन्द स्वरूप। यही आनन्द-तत्त्व ही परम सामरस्य है। इस अद्वय आनन्द

तत्त्व में दो धाराएँ है। लेकिन अद्वय तत्त्व इन दोनों धाराओं की अस्वीकृति नहीं है। अद्वय तत्त्व वह चरम तत्त्व है जहाँ ये दोनों ही धाराएँ पूर्णता प्राप्त कर फिर एक अखंडतत्त्व के अन्दर गहराई से मिली हुई हैं। यही मिथुनतत्त्व, या यामलतत्त्व या युगल तत्त्व है। यही बौद्धों का युगनद्धतत्त्व है। तांत्रिक साधना के क्षेत्र में यह अखंड युगलतत्त्व ही केवलानन्द तत्त्व है। इस अद्वय तत्त्व की दो धाराएँ—एक शिव और दूसरी शक्ति। तांत्रिक मत मे इस शिव-शक्ति का मिलन-जनित केवलानन्द ही परम साध्य है, इस साध्य को प्राप्त करने की साधन-पद्धति बहुत प्रकार की है। साधक अपनी देह के अन्दर ही इस शिव-शक्ति तत्त्व को पूर्ण-जाग्रत करके और पूर्ण-परिणत करके अपने अन्दर ही इन उभय तत्त्वों के मिलनजनित अपूर्व सामरस्य-सुख या केवलानन्द का अनुभव कर सकता है। इस शिव-शक्ति तत्त्व को लेकर बहुतेरी प्रकार की साधनाओ में एक विशष प्रकार की साधना है नर-नारी की मिलित साधना। इस साधना के साधकों का विश्वास है कि शिव-शक्ति के नित्यतत्त्व ने स्थूल रूप में संसार के नर-नारियों में रूप पाया है। नर-नारी दोनों ही उसके स्वरूप में शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व इन दोनों ही तत्त्वों के अधिकारी होने पर भी इनके अन्दर विशेष करके पुरुष शिवतत्त्व और नारी शक्तितत्त्व का प्रतीक है। केवल सूक्ष्मरूप से ही नहीं, स्थूल रूप से भी पुरुष के प्रतितत्त्व में शिव का और नारी के प्रतितत्त्व में शक्ति का समधिक विकास होता है। साधना के क्षेत्र में पहली साधना है इस पुरुष और नारी दोनों के अन्दर सुप्त शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व का पूर्ण जागरण। पुरुष के अन्दर से शिवतत्त्व और नारी के अन्दर से शक्ति-तत्त्व के इस प्रकार से पूर्ण परिणत और पूर्ण जाग्रत होने पर परस्पर के शिव-शक्ति-तत्त्व का आस्वादन होगा अर्थात् पुरुष अपने अन्दर से शिवतत्त्व को पूर्ण परिणत और पूर्ण जाग्रत करके अपने को सभी कार से शिव के रूप में उपलब्ध करके नारी को पूर्ण शक्ति-तत्त्व के तौर पर अनुभव करेगा और नारी अपने अन्दर शक्ति-तत्त्व को पूर्ण विकसित करके अपने को साक्षात् शक्ति के तौर पर और पुरुष को साक्षात् शिव के तौर पर अनुभव करेगी। साधना की इस दशा में पुरुष नारी दोनों की स्थूल देह के प्रतितत्त्व में भी शिव-शक्ति का जागरण होता है। तब दोनों का जो मिलन होता है वह साधक-साधिका को पूर्ण सामरस्य में पहुचा देता है—यह पूर्णसामरस्यजनित जो असीम अनन्त आनन्दानुभूति है—यही तंत्र की भाषा में सामरस्य-सुख है, बौद्धों की भाषा में महासुख और वैष्णवों की भाषा में महाभाव-स्वरूप है।

संक्षेप में तंत्र के नारी-पुरुष की मिलित साधना का रहस्य यही है। बौद्ध तांत्रिक और बौद्ध सहजिया साधना की भी यही मूल बात है। वहाँ शिव-शक्ति की जगह देखते हैं शून्यता-करुणा-तत्त्व की मूर्ति भगवती-भगवान् को या वज्रेश्वरी (या वज्रधात्वे (त्वी ?) श्वरी) वज्रेश्वर को या 'प्रज्ञा' और 'उपाय' को। इनका चरम लक्ष्य है महासुख-रूप प्रज्ञा या सहजानन्द की प्राप्ति। इन विषयों पर दूसरे ग्रंथों[१] में विस्तारपूर्वक विचार किया है अतएव यहाँ उनके पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं। पाल राजाओं के समय बंगाल में तांत्रिक बौद्धधर्म और सहजिया बौद्ध धर्म का काफी प्रचार था। बौद्ध धर्म का अवलम्बन करके जो गुह्य साधनपद्धति बंगाल में प्रचलित थी वह साधना और हिन्दुतंत्रोक्त साधनपद्धति मूलतः एक थी। लगता है सेन राजाओं के समय से बंगाल में राधाकृष्ण-युक्त वैष्णव धर्म का प्रसार होने लगा। इस वैष्णव धर्म के प्रसार के बाद पूर्वोक्त गुह्य साधना वैष्णवधर्म के साथ मिल-जुल गई और इसी तरह वैष्णव-सहजिया मत का निर्माण हुआ।

नारी-पुरुष की मिलित यह गुह्य साधना-प्रणाली वैष्णवधर्म में प्रविष्ट होकर रूपान्तरित हुई। हिन्दु और बौद्ध तांत्रिक पद्धति में—यहाँ तक कि बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय के अन्दर भी, जो मूलतः एक योग-साधना थी, वैष्णव सहजिया के अन्दर योग-साधना का अवलम्बन करके एक प्रेम-साधना में रूपान्तरित हुई। हम पूर्वापर देख आए हैं कि वैष्णव धर्म, विशेष करके राधा-कृष्ण का अवलम्बन करके जो वैष्णव धर्म है—वह प्रेमधर्म है। वैष्णव सहजिया में हमने पूर्ववर्ती शक्ति-शिव या प्रज्ञा-उपाय की जगह राधा-कृष्ण को पाया। शिव-शक्ति का मिलनजनित सामरस्य आनन्द-स्वरूप था, बौद्धों ने इसे महासुख-स्वरूप कहा है। वैष्णव सहजिया लोगों के राधा-कृष्ण के मिलनजनित आनन्द को प्रेम के सिवा और कुछ नहीं कह सकते। यद्यपि यहाँ भी चरमावस्था में प्रेम ही आनन्द है और आनन्द ही प्रेम है। जिस रास्ते यह चरमावस्था प्राप्त होती है उसे वैष्णव-सहजियागण योग का रास्ता नहीं कहेंगे, इसे वे प्रेम का रास्ता कहेंगे।

वैष्णव-सहजिया मत के बारे में मैंने अन्यत्र लिखा है।[२] प्रस्तुत प्रसङ्ग में इस सहजिया मत के अन्दर से राधातत्त्व किस प्रकार रूपान्तरित हुआ है केवल इसी पर विचार करेंगे।

---

(१) Obscure Religious cults **और** An Introduction to Tantric Buddhism.

(२) Obscure Religious Cults etc.

वैष्णव-सहजिया मत में युगल-तत्त्व ही परमतत्त्व है। इसी युगल में ही महाभाव रूप 'सहज' का स्थिति है। यह सहज समरस में स्थित प्रेम की पराकाष्ठा-अवस्था है। यह 'सहज' ही विश्व-ब्रह्माण्ड का अन्तर्निहित चरम सत्य है। इसी से जगत्-प्रपंच की उत्पत्ति होती है, इसी में सब कुछ की स्थिति है और इसी में सब कुछ का लय होता है। यह सहज 'नित्य के देश' की वस्तु है; चंडीदास ने 'नित्य' से ही सारे सहजतत्त्वों को प्राप्त किया था, नित्य के आदेश से ही सारी सहज साधनाओं में वेरत हुए थे, 'नित्य के आदेश से' ही उन्होंने जगत् में 'सहज जानबार तरे' (सहज को जानने के लिए) गीत रचे थे। यह 'वृन्दावन' और 'मनोवृन्दावन' को पारकर 'नित्य वृन्दावन' की वस्तु है। यह नित्यवृन्दावन ही सहजिया-गण का 'गुप्त चन्द्रपुर' है। इस गुप्त चन्द्रपुर में राधा-कृष्ण का नित्य विहार चल रहा है--इस नित्यविहार के अन्दर से सहज-रस की नित्य धारा प्रवाहित होती है और इस 'रस बइ वस्तु नाइ ए तिन भुवने' (रस के अलावा तीनों भुवनों में कोई वस्तु नहीं है।[१] सहजिया लोगों का विश्वास है कि नित्य वृन्दावन के 'गुप्तचन्द्रपुर' में राधा-कृष्ण के अन्दर से सहज-रस का यह जो निरन्तर प्रवाह है, उसी की अभिव्यक्ति संसार के सभी नर-नारियों के अन्दर प्रवाहित प्रेमरस-धारा के अन्दर भी है। उपनिषद् में कहा गया है, सभी जागतिक स्थूल आनन्दों के अन्दर से प्राणिगण उसी एक ब्रह्मनन्द के ही 'मात्रामुपजीवन्ति'। उपनिषद् के इस एक स्वर से स्वर मिलाकर सहजिया लोगों के साथ कहा जा सकता है कि नर-नारी का जागतिक प्रेम—यहाँ तक कि स्थूल दैहिक संभोग के अन्दर से जीवगण जाने अनजाने उसी एक सहज-रस की धारा का उपभोग करते हैं। इस वृन्दावन के गुप्तचन्द्रपुर में राधा-कृष्ण की जो नित्य-सहज लीला होती है वही उनकी 'स्वरूप-लीला' है और जीव के अन्दर से स्त्री-पुरुष के रूप में जो लीला होती है वही 'श्रीरूप-लीला' है। अप्राकृत वृन्दावन की स्वरूप-लीला ही प्राकृत जगत् में आकर श्रीरूप-लीला में परिणत होती है।

जीव के दृष्टान्त से किस प्रकार से एक आदिम युगल में विश्वास उत्पन्न होता है इस बात को भक्त शिशिरकुमार घोष ने अपनी 'श्रीकालाचाँद गीता' में अत्यन्त सहज भाव और भाषा में बड़े सुन्दर ढंग से समझाने की चेष्टा की है। वहाँ कहा गया है—

आबार देखेछि एइ जग माझे।
युग्मरूपे जीव मात्रेते विराजे॥

(१) सहजिया-साहित्य—मणीन्द्रमोहन वसु सम्पादित, गीत सं० ५६

पुरुष प्रकृति देखि सब जीवे ।
एइ दुइ भाव भगवाने हबे ।।
भजनीय यदि थाके कोन जन ।
अवश्य हइबे मनुष्य मतन ।।
ताँर छाया मोरा युगल सकल ।
जाँर छाया सेओ हइबे युगल ।।

वृन्दावन में स्वरूप-लीला एक से दो और दो से एक होकर नित्य विराजमान है;[1] इसका कोई पारवार नहीं है, गंगा की धारा की भाँति यह अथक प्रवाहित है।[2] संसार के 'वृन्दावन' में राधा-कृष्ण का गोप-गोपी के रूप में अवतार और नर-नारी के रूप में लीला यह उस अप्राकृत-प्रेम-रूप सहज वस्तु को मानुषी रूप में मनुष्य के सामने प्रकट करने के लिए ही है।[3] मर्त्य के वृन्दावन को जो ऐतिहासिक लीला है वह नित्य-लीलातत्त्व का एक आभास देने के लिए ही हुई थी। 'दीपकोज्ज्वल' ग्रंथ में कहा गया है कि राधा-कृष्ण की प्रकट वृन्दावन-लीला 'रूपावेश' होकर—अर्थात् देहधारी होकर है। उस लीला का आस्वादन करने के लिए उन्होंने नर-नारी की 'रसमय देह' का आश्रय करके मर्त्य में अवतीर्ण होकर

(१) राधा-कृष्ण रस-प्रेम एकुइ से हय ।
नित्य नित्य ध्वंस नाइ नित्य विराजय ।।
सहज-उपासना-तत्त्व, तरुणी-रमण कृत, वंगीय साहित्य-परिषद् पत्रिका, ४ खंड १ सं० १

(२) नित्यलीला कृष्णेर नाहिक पारापार ।
अविश्राम वहे लीला येन गङ्गाधार ।।
सहज-उपासना-तत्त्व, मुकुन्ददास प्रणीत, (मणीन्द्रकुमार नन्दी प्रकाशित), पृ० ५८, पृ०, ५८-६४ देखिये ।
और भी:—निज-शक्ति श्रीराधिका पाञा नन्द-सुत ।
वृन्दावने नित्यलीला करये अद्भुत ।। वही, ६१ पृ० ।
से कृष्ण राधिकार हयेन प्राणपति ।
राधासह नित्यलीला करे दिवाराति ।। वही

(३) रति-विलास-पद्धति, कलकत्ता विश्वविद्यालय में रक्षित पुस्तक, ५७२ नं० ।

रस-आस्वादन किया है।[१] सहजिया-गण के मतानुसार राधा-कृष्ण ने केवल वृन्दावन के गोपी-गोप के रूप में ही परम रस-तत्त्व का आस्वादन किया है ऐसी बात नहीं, मनुष्य के अन्दर से नर-नारी के रूप में ही वे कौतुक से विहार करते हैं।[२] तंत्र-मत में (हिन्दु और बौद्ध दोनों में) जिस तरह हम देखते हैं कि प्रत्येक पुरुष स्वरूप में शिव-विग्रह और नारी शक्ति-बिग्रह है, इसी तरह सहजिया मत में प्रत्येक पुरुष-स्वरूप में कृष्ण विग्रह और प्रत्येक नारी राधा-विग्रह है। दूसरी ओर तंत्रादि में हम अर्धनारीश्वर की कल्पना देखते हैं। प्रत्येक जीव के अन्दर यह अर्धनारीश्वर तत्त्व विराजमान है; देह का दक्षिण अंग शिव या ईश्वर और वाम अंग नारी मा शक्ति है। वैष्णव सहजिया लोगों में भी इसी प्रकार का विश्वास दिखाई पड़ता है। कहीं देखते हैं, दाहिनी आँख में कृष्ण और बाँई आँख में राधिका का निवास है; यही दाहिना नेत्र साधक का श्यामकुंड और बाँयाँ नेत्र राधाकुण्ड है।[३]

नर-नारी के अन्दर राधा-कृष्ण की जो सहज-रस की लीला है इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए वैष्णव-सहजिया लोगों की स्वरूप-लीला और श्रीरूप-लीला इन दोनों लीलाओं को भलीभाँति समझना होगा। प्राकृत जगत् में एक पुरुष का जो पुरुष रूप है वह केवल बाहर का 'रूप' है; इस बाहर के रूप के अन्दर इस रूप का आश्रय करके ही एक 'स्वरूप'

(१) प्रकट हइते यदि कभु मने हय ।
रूपावेश हइया तवे लीला आस्वादय ।।
सर्व्व पररस-तत्त्व करिया आश्रय ।
रसमय देह धरि रस आस्वादय ।।
दी(द्वी?)पकोज्ज्वल, पुस्तक (कलकत्ता विश्वविद्यालय, ५६४ नं०) ।

(२) मनुष्य स्वरूपे करे कौतुक विहार ।
चम्पक-कलिका, वंगीय-साहित्य-परिषद् पत्रिका, १३०७ सन्, प्रथम संख्या ।

(३) वामे राधा दाहिने कृष्ण देखे रसिक जन ।
... ...दुइ नेत्रे विराजमान ।।
राधाकुण्ड श्यामकुण्ड दुइ नेत्रे हय ।
सजल नयन द्वारे भावे प्रेम आस्वादय ।।
राधा-वल्लभदास का 'सहजतत्त्व';
वंग-साहित्य-परिचय, द्वितीय खण्ड ।

अवस्थान करता है। मनुष्य के अन्दर प्रत्येक पुरुष बाहरी रूप में कृष्ण-स्वरूप' रह रहा है, उसी तरह प्रत्येक नारी के बाहरी रूप के अन्दर अवस्थान कर रहा है उसका राधा-'स्वरूप'। साधना की पहली और मुख्य बात है ज्वार के रास्ते इस रूप से स्वरूप में लौटना। स्वरूप में स्थिति प्राप्त करने के लिए नर-नारी का जो मिलन है वही प्रेमलीला है—उसी के अन्दर से विशुद्ध सहज-रस का आस्वादन होता है। इसीलिए 'श्रीरूप' साधक के साधन-पथ में अवलम्बन मात्र है, इस श्रीरूप अवलम्बन से स्वरूप में ही उसकी यथार्थ स्थिति है।

इसीलिए सहजिया लोगों की पहली साधना केवल विशुद्धि साधना है। जिस तरह सोने को गला गलाकर निर्मल किया जाता है, उसी तरह मर्त्य के प्राकृत देह-मन को जलाकर शुद्ध करना पड़ता है। विशुद्धतम देह-मन पर अवलम्बित जो प्रेम है वह तब 'निकषित हेम' बन जाता है, वही पूर्ण समरस है, वही व्रज का महाभाव-स्वरूप है। तो हम देखते हैं कि सहजिया लोगों के मतानुसार, मर्त्य और वृन्दावन प्राकृत और अप्राकृत में जो अन्तर है, उसे भी साधना द्वारा दूर किया जा सकता है अर्थात् प्राकृत को ही साधना के द्वारा अप्राकृत में रूपान्तरित और धर्मान्तरित किया जा सकता है। तब—'श्रीरूप स्वरूप हय स्वरूप श्रीरूप'[१] अर्थात् रूप के अन्दर ही स्वरूप की प्रतिष्ठा होने के कारण रूप और स्वरूप का अन्तर दूर हो जाता है। 'इस देश' और 'उस देश' में सहज मिलन हो जाता है। यही बात चंडीदास के नाम से मिलने वाले एक पद में बड़ी खूबी से कही गई है—

से देशे ए देशे अनेक अन्तर
जानये सकल लोके।
से देशे ए देशे मिशामिशि आछे
ए कथा कयो ना काके॥[२]

हम देखते हैं कि महाभाव-स्वरूप 'सहज' की दो धाराएँ हैं, एक धारा में आस्वाद्य-तत्त्व, दूसरी धारा में है आस्वादक-तत्त्व, नित्य-वृन्दावन में राधा और कृष्ण ही इन दोनों तत्त्वों की मूर्ति हैं। सहजियागण इन दोनों तत्त्वों को पुरुष-प्रकृति तत्त्व कहते हैं। सहजिया लोगों ने नाना प्रकार से इस तत्त्व का परिचय देने की चेष्टा की है। 'रत्नसार'[३] में कहा गया है—

---

(१) रत्नसार, कलकत्ता विश्वविद्यालय की हस्तलिखित पोथी (नं० ११११)

(२) सहजिया साहित्य, मणीन्द्रमोहन वसु सम्पादित, सं० ८४।

(३) कलकत्ता विश्वविद्यालय की हस्तलिखित पोथी।

परमात्मार दुइ नाम धरे दुइ रूप ।
एइ मते एक हय्या धरये स्वरूप ।।
ताहे दुइ भेद हय पुरुष-प्रकृति ।
सकलेर मूल हय सेइ रस-मूरति ।।
:o: :o: :o:
परमात्मा पुरुष प्रकृति दुइ रूप ।
सहस्रार-दले करे रसेर स्वरूप ।।[1]

इस प्रसंग में हम देखते हैं कि तंत्र-पुराणादि में [हम वृहदारण्यक उपनिषद् की यह ध्वनि सुनते हैं कि एक देवता ने अपनी रमणेच्छा को चरितार्थ करने के लिए दो रूप धारण किये थे। यह विश्वास भारतीय धर्म-विश्वास में दृढ़-मूल हो गया था और इसीलिए परवर्ती काल के छोटे-बड़े सभी धर्म-मतों के अन्दर इसका स्पष्ट चिह्न दिखाई पड़ता है। 'दीपकोज्ज्वल' ग्रंथ में कहा गया है—

एक ब्रह्म जखन द्वितीय नाहि आर ।
सेइ काले शुनि ईश्वर करेन विचार ।।
अपूव रसेर चेष्टा अपूर्व करण ।
केमने हइब इहा करेन भावन ।।
भाविते भाविते एक उदय हइल ।
मनेते आनन्द हैया विभोल हइल ।।
अर्द्ध अंग हैते आमि प्रकृति हइब ।
अंशिनी राधिका नाम ताहार हइब ।।
× × ×
आपनि रसेर मूर्ति करिब धारण ।
रस आस्वादिब आमि करिया जतन ।।[2]

---

(१) रस आस्वादन लागि हइला दुइ मूर्ति ।
एइ हेतु कृष्ण हय पुरुष प्रकृति ।।
प्रकृति ना हइले कृष्ण सेवा जन्य नय ।
एइ हेतु प्रकृति भाव करये आश्रय ।।
दीपकोज्ज्वल-ग्रन्थ, पोथी ।

(२) तुलनीय—सेइ रूपेते करे कुन्जेते विहार ।
सेइ कृष्ण एइ राधा एकुइ आकार ।।
राधा हइते निकाकार रसेर स्वरूप ।
अतएव दुइरूप हय एक रूप ।।
राधिका-रस-कारिका, वंग-साहित्य-परिचय, २रा खंड ।

वैष्णव-सहजिया लोगों के मत में परम 'एक' की यह जो दो धाराएँ राधाकृष्ण के अन्दर से प्रवाहित हुईं; मर्त्य के नर-नारी के अन्दर भी उसी धारा के दो प्रवाह चल रहे हैं। प्राकृत गुण के संस्पर्श में वह क्लिन्न हो गया है, साधना के द्वारा इस प्राकृतगुण-संस्पर्श को दूर कर देने से ही नर-नारी का यह प्रेम फिर अप्राकृत व्रज की वस्तु बन जाता है। नर-नारी के अन्दर सहज प्रेम की जो दो धाराएँ बह रही हैं उन्हें निर्मलतम करके फिर एक कर देने से व्रज के युगल-प्रेम का आसवदन होता है। चंडीदास के एक गीत में देखते हैं—

प्रेम सरोवरे दुइटि धारा ।
आस्वादन करे रसिक जारा ॥
दुइ धारा जखन एकत्रे थाके ।
तखन रसिक युगल देखे ॥

इन दोनों धाराओं के प्रतीक पुरुष-प्रकृति या कृष्ण-राधा को सहजिया लोगों ने 'रस' और 'रति' कहा है। 'रस' शब्द का तात्पर्य है आस्वादक रूप रस-स्वरूप और रति है रस का विषय। पारिभाषिक तौर से कृष्ण-राधा को 'काम' और 'मदन' कहा गया है। 'काम' शब्द का अर्थ है 'प्रेम-स्वरूप'— जो प्रेम के आस्पद को अपनी ओर आकर्षित करता है और 'मदन' है प्रेमोद्रेक का कारण-स्वरूप। साधना के क्षेत्र में नायक ही रस या 'काम' है, नायिका 'रति' है।[1] यही एक 'रस-रति' या 'काम-मदन' ही अखिल नायिका-नायक का रूप धारण कर नित्यकाल विलास कर रहे हैं।[2]

---

(१) **परस्परे नायक नायिका अनंग रति ।**
स्वतःसिद्धभावे हय व्रजेते वसति ॥
रति-विलास-पद्धति,
(हस्तलिखित पोथी—कलकत्ता विश्वविद्यालय)
और—रतिर स्वरूप श्रीराधिका सुन्दरी ।
कामेर चित आकर्षय रूपेर लहरी ॥
रागमयी कणा, हस्तलिखित पोथी क० वि० ।

(२) **जय जय सर्वादि वस्तु रसराज काम ।**
जय जय सर्व्वश्रेष्ठ रस नित्य धाम ॥
प्राकृत अप्राकृत आर महा अप्राकृते ।
विहार करिछ तुमि निज स्वेच्छामते ॥
स्वयं-काम नित्य-वस्तु रस-रतिमय ।
प्राकृत अप्राकृत आदि तुमि महाश्रय ॥
एक वस्तु पुरुष प्रकृति रूप हइया ।
विलासह बहुरूप धरि दुइ काया ॥
सहज-उपासना—तत्त्व, तरुणीरमण—कृत, वंगीय-साहित्य-परिषद् पत्रिका, १३३५, ४थ संख्या ॥

सहजिया लोग 'नायिका-भजन' की बात कह गये हैं। इस नायिका-भजन का तात्पर्य है राधा-भजन। साधक बनने के लिए प्रत्येक नायक-नायिका को अपने प्राकृत-नायक-नायिका के रूप के अन्दर कृष्ण-राधा के स्वरूप की उपलब्धि करनी होगी। यह उपलब्धि एक बारगी सम्भव नहीं है, इसलिए 'आरोप'-साधना करनी पड़ती है। आरोप-साधना का अर्थ है जब तक रूप के अन्दर स्वरूप की पूर्ण उपलब्धि न हो तब तक स्वरूप को रूप के अन्दर 'आरोप' कहना अर्थात् जब तक नायक-नायिका अपने को सम्पूर्ण रूप से कृष्ण-राधा न उपलब्धि कर सकें तब तक नायक-नायिका एक दूसरे के अन्दर कृष्ण-राधा का आरोप कर साधना करते रहेंगे। चंडीदास ने अपने रागात्मिक गाने में इस आरोप को ही श्रेष्ठ साधन कहा है—

छाड़ि जपतप साधह आरोप
एकता करिया मने।

रजकिनी रामी के अन्दर उन्होंने पहले राधिका का आरोप कर साधना की। इस आरोप-साधन में सिद्धिलाभ होने पर रजकिनी रामी रजकिनी-रामी नहीं रह जाती। वह सभी प्रकार से पूर्ण राधिका का विग्रह बन जाती है। इसीलिए चंडीदास के गाने में देखते हैं—

स्वरूपे आरोप जार रसिक नागर तार
प्राप्ति हबे मदनमोहन।

× × ×

से देशेर रजकिनी हय रसेर अधिकारी
राधिका स्वरूप तार प्राण।
तुमि तो रसमोर गुरु सेह रसेर कल्पतरु
तार सने दास अभिमान॥

इसीलिए आरोप साधना का उद्देश्य है—

रूपेते स्वरूपे दुइ एकु करि
मिशाल कोरिया थुबे।
सेइ से रतिते एकान्तकरिले
तबे से श्रीमती पाबे॥[1]

---

(१) तुलनीय—ए रति ए रति एकम करिया
सेखाने से रति थूबे।
रति रति दूहे एकत्र करिले
सेखाने देखिते पाबे॥
स्वरूपे आरोप एह रस-कूप
सकल साधन पार।
स्वरूप बूझिया साधना करिले
साधक हइते पार॥

रूप में एकबार स्वरूप का आरोप करके रूप-स्वरूप को कभी भिन्न नहीं समझना चाहिये—

आरोपिया रूप हइया स्वरूप
कभु ना बासिओ भिन्न ।।

इन भिन्न बोध के मिट जाने पर आरोप के अन्दर से स्वरूप का भजन कर पाने पर ही सच्ची राधा-प्राप्ति सम्भव होती है—

आरोपे स्वरूपे भजिते पारिले
पाइबे श्रीमती राधा ।।

नायिका के अन्दर से राधा की यह उपलब्धि—रूप के अन्दर से स्वरूप उपलब्धि सहज नहीं है। कमल के प्रत्येक अणु-परमाणु से जिस तरह कमल की सुगन्धि अभिन्न भाव से मिली-जुली रहती है एक नायिका के प्रत्येक अणु-परमाणु के अन्दर भी इसी तरह उसका स्वरूप मिला-जुला रहता है। स्वरूप को छोड़कर केवल रूपाश्रय मात्र ही बन्धन है, रूप के अन्दर स्वरूप की उपलब्धि ही मुक्ति है।

स्वरूप स्वरूप अनेके कय ।
जीवलोक कभु स्वरूप नय ।।

:o: :o: :o:

पद्मगंध हय ताहार गति ।
ताहारे चिनिते कार शकति ।।

:o: :o: :o:

स्वरूप बुझिले मानुष पाबे ।
आरोप छाड़िले नरके जाबे ।।

अब सहज साधन में हम देखते हैं कि मनुष्य को सहजिया लोगों ने सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। 'सबार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाइ'—चंडीदास की इस एक उक्ति के अन्दर से सहजिया लोगों की मूल धारणा प्रकाशित हुई है। मनुष्य को छोड़कर कोई भी व्रजतत्व नहीं है—सौन्दर्य, माधुर्य की प्रतिमा—मूर्तिमती प्रेमरूपिणी नारी के अन्दर से ही राधातत्त्व का आस्वादन करने के सिवा दूसरा रास्ता नहीं है। इस राधातत्व का आविष्कार और उपलब्धि सम्भव हुई थी चंडीदास के लिए, जो चंडीदास (इसका ऐतिहासिक सत्य कुछ भी क्यों न हो) रूप से, रस से परिपूर्ण प्रेम की जीती-जागती मूर्ति रजकिनी रानी को कह सके थे—

शुन रजकिनी रामी ।
ओ दुटि चरण शीतल जानिया
शरण लइनु आमि ।।
तुमि वेद-वादिनी हरेर घरणी
तुमि से नयनेर तारा ।
तोमार भजने त्रिसंध्या याजने
तुमि से गलार हारा ।।
रजकिनी रूप किशोरी स्वरूप
कामगंध नाहि ताय ।
रजकिनी-प्रेम निकषित हेम
बड़ चन्डीदास गाय ।।

अथवा—

एक निवेदन करि पुनः पुनः
शुन रजकिनी रामी ।
युगल चरण शीतल देखिया
शरण लइलाम आमि ।।
रजकिनी-रूप किशोरी-स्वरूप
कामगंध नहि ताय ।
ना देखिले मन करे उचाटन
देखिले पराण जुड़ाय ।।
तुमि रजकिनी आमार रमणी
तुमि हओ मातृपितृ ।
त्रिसन्ध्या याजन तोमारि भजन
तुमि वेदमाता गायत्री ।।
तुमि वाग्वादिनी हरेर घरणी
तुमि से गलार हारा ।
तुमि स्वर्ग मर्त्य पाताल पर्वत
तुमि से नयानेर तारा ।।

यह रजकिनी रामी ही राधातत्त्व की मूर्त प्रतीक है; इसके अन्दर से ही राधातत्त्व आस्वाद्य होता है, अन्यथा नहीं । बंगाल के सभी नायिका-भजन या किशोरी-भजन के पीछे यही राधातत्व है । जरा ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि पुराणादि के युग में जिस तरह शिव-शक्ति, पुरुष-प्रकृति, विष्ण-लक्ष्मी मिलकर एक हो गए थे, सहजिया मत के अन्दर

उसी तरह राधा-कृष्ण, शक्ति-शिव, प्रकृति-पुरुष लोक-विश्वास के अन्दर मिलजुलकर एक हो गए हैं।

इसी प्रसंग में हम एक और बात देखते हैं। हम पहले देख आए हैं कि गौड़ीय वैष्णवों ने शुरू में परकीया-वाद ग्रहण नहीं करना चाहा था; रूपगोस्वामी के मत को लेकर विवाद रहने पर भी जीवगोस्वामी ने अत्यन्त स्पष्टरूप से राधातत्त्व के क्षेत्र में परकीयावाद को अस्वीकार करके परम-स्वकीया-वाद को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की थी। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे वैष्णवों के अन्दर परकीयावाद का प्राधान्य दिखाई पड़ता है। विधिबद्ध गौड़ीय वैष्णव धर्ममत के अन्दर इस परकीया-वाद के प्राधान्य का एक बड़ा कारण यह लगता है कि उपर्युक्त सहजिया-मत का इस पर परोक्ष प्रभाव है। इस सहजिया-साधना में प्रेम-साधना के लिए उपयुक्ततम नायिका है परकीया नायिका। इसलिए सहजिया-गण मानता था कि जयदेव, विद्यापति, चंडीदास से लेकर वृन्दावन के गोस्वामियों तक सभी ने किसी विशेष परकीया नायिका के साथ सहज-साधना की है। सहज-साधना में गृहीत नायिका राधिका-स्वरूपा है, और वह स्वभावतः परकीया है, यही मतवाद परवर्ती काल में लगता है राधिका को परकीया के रूप में मजबूती से प्रतिष्ठित करने में सहायक हुआ। यह बात जरूर है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य में राधिका सदा परकीया नायिका के रूप में वर्णित हुई हैं, इस बात को हम पहले कह आए हैं। हमारा विश्वास है कि साहित्य की यह धारा और सहजिया-साधना का प्रभाव इन दोनों ने मिलकर परकीयावाद को शक्तिशाली बना दिया था।

त्रयोदश अध्याय

राधावल्लभ सम्प्रदाय की राधा और बंगाली वैष्णव कवियों का 'किशोरी' तत्त्व

हिन्दी वैष्णव-कविता और बंगला वैष्णव-कविता के तुलनात्मक विवेचन में एक बात दिखाई पड़ती है। हिन्दी वैष्णव-कवियों में 'राधा-वल्लभ' सम्प्रदाय एक विशेष स्थान अधिकृत किये हुए है। इस सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण इन दोनों तत्वों में राधातत्त्व को जो प्रधानता दी गई है, वह राधा-वाद के क्रमविकास के इतिहास में विशेष रूप से लक्षणीय है। हमने गौ-ड़ीय वैष्णवों के राधातत्त्व पर विचार करते हुए देखा है कि 'भक्तगणे सुख दिते ह्लादिनी कारण।' राधा ही प्रेमप्रदायिनी हैं, इसलिए साधना के राज्य में गौड़ीय वैष्णवों ने बहुधा राधा को ही प्रधान अवलम्बन माना है। गौड़ीय वैष्णव-धर्म और गौड़ीय वैष्णव-साहित्य में राधानाथ, राधा-वल्लभ, राधारमण आदि ही बहुधा श्रीकृष्ण के परिचय हैं। हमने प्रसंग-वश इस बात का पहले उल्लेख किया है कि 'जय राधे' ही वृन्दावन के वैष्णवों का नारा है। अभी तक बंगाल में जितने वैष्णव भिखारी घर-घर भीख मांगन के लिए निकलते हैं वे भी 'जय राधे' कहकर ही गृहस्थों से भीख का निवेदन करते हैं।

प्रसिद्ध 'श्रीराधासुधानिधि' नामक ग्रंथ में जो सम्भवतः श्री प्रबोधानन्द-सरस्वती रचित राधिका के प्रेम और महिमा का बड़ी खूबी से वर्णन किया गया है। यहाँ राधिका के वर्णन में देखते हैं—

> **प्रमोल्लासैकसीमा परमरसचमत्कारैकसीमा-**
> **सौन्दर्यैकसीमा किमपि नववयो रूपलावण्यसीमा।**
> **लीलामाधुर्यसीमा निजजनपरमौदार्यवात्सल्यसीमा**
> **सा राधा सौख्यसीमा जयति रतिकलाकेलिमाधुर्यसीमा॥**
> **शुद्धप्रेमविलासवैभवनिधिः कैशोरशोभानिधिः**
> **वैदग्धीमधुरांगभंगिमनिधिः लावण्यसम्पन्निधिः।**
> **श्रीराधा जयताम्महारसनिधिः कन्दर्पलीलानिधिः**
> **सौन्दर्यैकसुधानिधि र्मधुपतेः सर्वस्वभूतो निधिः॥[1]**

---

(१) श्री हरिदास दास के श्री श्रीगौड़ीय वैष्णव साहित्य में उद्धृत।

राधा के बारे में इस प्रकार के बहुतेरे वर्णन मिलते हैं। नीलरतन मुखोपाध्याय द्वारा प्रकाशित चंडीदास की पदावली म हम कृष्ण को श्री-राधा का अपूर्व महिमा-कीर्तन करते देखते हैं। वहाँ कहा गया है—

राइ, तुमि से आमार गति ।
तोमार कारणे रसतत्त्व लागि
गोकुले आमार स्थिति ।।
आबार एक वाणी शुन विनोदिनी
दया ना छाड़िओ मोरे ।
भजन साधन किछुइ ना जानि
सदाइ भावि हे तोरे ।।
भजन साधन करे जेइ जन
ताहारे सदय विधि ।
आमार भजन तोमार चरण
तुमि रसमइ निधि ।।

फिर—

जपते तोमार नाम वंशीधारी अनुपाम
तोमार वरणे परि वास ।
तुया प्रेम साधिगोरी आइनु गोकुलपुरी
बरजमंडले परकाश ।।
धनि, तोमार महिमा जाने के।
अविराम युग शत गुण गाइ अविरत
गाइया करिते नारि शेष ।।

अथवा—

प्रेमेते राधिका स्नेहेते राधिका
राधिका आरति पाशे ।
राधारे भजिया राधाकान्त[1] नाम
पेयेछि अनेक आशे ।।
ज्ञानेते राधिका ध्यानेते राधिका
रूपेते राधिकामय ।
सर्वांगे राधिका स्वप्नेह राधिका
सर्वत्र राधिकामय ।।

---

(१) दूसरे पद में है—
राधारे भजिया राधावल्लभनाम
पेयेछि अनेक आशे ।।

इन सारे पदों में राधिका की ही महिमा प्रकट होती है, इसके अलावा चंडीदास के 'किशोरी'—सम्बन्धी पद हैं उन्हें भी स्मरण करना चाहिये।

उठिते किशोरी बसिते किशोरी
किशोरी गलार हार।
किशोरी भजन किशोरी पूजन
किशोरी चरण सार॥
शयने स्वपने गमने किशोरी
भोजने किशोरी आगे।
करे करे बाँशी फिरि दिवा निशि
किशोरीर अनुरागे॥
किशोरी चरणे पराण सँपेछि
भावेते हृदय भरा।
देखो हे किशोरी अनुगत जने
करो ना चरण-छाड़ा॥
किशोरीर दास आमि पीतवास
इहाते सन्देह जार।
कोटि युग यदि आमारे भजये
विफल भजन तार॥

चंडीदास के प्रचलित पदों में किशोरी-भजन के इस तरह के बहुतेरे पद मिलते हैं, इन पदों को किस चंडीदास ने लिखा था इसके बारे में निश्चित नहीं है। लेकिन हम इस बात को जानते हैं कि बंगाल के वैष्णव-सम्प्रदाय में 'किशोरी-भजन' का एक सम्प्रदाय बन गया है। इस सम्प्रदाय में सहजियों की तरह पुरुष में कृष्ण का आरोप और स्त्री में किशोरी का (राधा का) आरोप करके साधना की प्रथा प्रचलित है सही में, लेकिन कुल मिलाकर सभी धर्ममतों में 'किशोरी' की प्रधानता देखी जाती है।

उत्तर भारत के 'राधा-वल्लभ' सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे गोसाईं हित-हरिवंश। इनके आविर्भाव काल के बारे में पंडितों में मतभेद है। बहुत संभव है कि ये ईसा की सोलहवीं शताब्दी के पहले हिस्से में हुए थे। हितहरिवंश राधाकृष्ण के युगलरूप के ही साधक थे। अपनी कविता में भी उन्होंने इस युगल-प्रेम का ही गान गाया है। लेकिन सभी गानों के अन्दर से श्री राधा की प्रधानता ने ही इस सम्प्रदाय की साधना और साहित्य को एक विशेषता प्रदान की है।

कहा जाता है कि हितहरिवंश गौड़ीय ब्राह्मण थे। हितहरिवंश द्वारा प्रचलित इस राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के साधन-भजन के पीछे अपना निजी कोई दार्शनिक मतवाद था, इसका पता नहीं चलता; कम से कम इस विषय पर कोई प्रामाणिक ग्रंथ नहीं मिलता है । हितहरिवंश के बाद भी इस सम्प्रदाय में भी अनेक भक्त कवि हो गए हैं। उन्होंने भी गाने लिखने के अलावा तत्त्वालोचन नहीं किया है। नाभादास जी ने अपने भक्तमाल ग्रंथ म कहा है, श्रीहितहरिवंश गोसाईं की भजन-रीति स्पष्ट रूप से कोई नहीं जानता है। वे श्रीराधा के चरण को ही दृढ़ता से हृदय में धारण करते थे और युगल के कुंजकेलि का दर्शन और आस्वादन करते थे। जो लोग इस साधन-मार्ग का अवलम्बन करते हैं, केवल वही इस सम्प्रदाय के मत को भलीभाँति जानते हैं, दूसरे नहीं जान सकते ।

श्रीराधाचरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पती तहाँ की करत खवासी।
सर्वसु महा प्रसाद प्रसिद्धता के अधिकारी।
विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।
श्रीव्यास सुवन पथ अनुसरै सोइ भले पहिचानिहै।
श्रीहरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानिहै।

इस सम्बन्ध में प्रियादास जी ने कहा है, श्री हितजी की रति को लाखों में कोई एक जानता है, वे राधा को ही प्रधान मानते हैं, उसके बाद कृष्ण का ध्यान करते हैं—

श्रीहितजू की रति कोऊ लाखनि में एक जाने ।
राधाहि प्रधान माने पाछे कृष्ण ध्याइये ॥

कहा जाता है कि गोसाईं जी को सपने में श्रीराधा ने ही दीक्षित किया था। 'हरि रसना राधा-राधा रट'—यही गाना राधा-वल्लभ सम्प्रदाय की विशेषता है।

राधा की यह प्रधानता क्यों है ? हितहरिवंश के 'श्रीहितचौरासी' ग्रंथ के एक पद में देखते हैं—

सुनि नेरो वचन छबीली राधा ।
तैं पायौ रससिन्धु अगाधा ॥
तू वृषभानु गो की बेटी ।
मोहनलाल रसिक हँसि भेंटी ॥

जाहि बिरंचि उमापति नाये ।
तापै तैं बनफूल बिनाये ।।
जो रस नेति-नेति श्रुति भाख्यो ।
ताकौ अधर-सुधा रस चाख्यो ।।
तेरो रूप कहत नहिं आवै ।
हित हरिवंश कछुक जसु गावै ।।

यही राधिका की अपार महिमा है। राधा के बारे में इस तरह की कविता अष्टछाप के कवियों से एकदम नहीं मिलती, ऐसी बात नहीं। सूरदास के एक पद में देखते हैं—

नीलाम्बर पहिरे तनु भामिनि, जनु घन में दमकत है दामिनि।

:o: :o: :o: :o:

जग नायक जगदीश पियारी जगत जननि जगरानी ।
नित विहार गोपाललाल संग वृन्दावन रजधानी ।।
अगतिन को गति भक्तन को पति श्रीराधा पद मंगलदानी ।
असरण सरनी भव भय हरणी वेद पुराण बखानी ।।
रसना एक नहीं सत कोटिक सोभा अमित अपारी ।
कृष्णभक्ति दीजै श्रीराधे सूरदास बलिहारी ।।

परमानन्द दास ने कहा है—

धनि यह राधिका के चरन।
हैं सुभग शीतल अति सुकोमल कमल कैसे वरन ।।
रसिकलाल मन मोदकारी विरह सागर तरन ।
विवश परमानन्द छिन छिन स्यामजी के सरन ।।[1]

राधा-वल्लभियों ने इसी राधा की कृपा पर ही अधिक जोर दिया। वृन्दावन के अनन्त प्रेम की विचित्र लीला में प्रवेश करने का एकमात्र उपाय है श्रीराधिका की कृपा। इस कृपा के न होने पर सारा प्रेमरहस्य 'अगम्य' रहता है।

प्रथम जथमति प्रणमऊँ श्रीवृन्दावन अति रम्य ।
श्रीराधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य ।।

हित-हरिवंश-रचित युगल-लीला आस्वादन के अनेक सुन्दर पद हैं। एक पद में पाते हैं, सबेरे लतामंदिर में झूलन-मिलन हो रहा है और

---

(१) **दीनदयाल गप्त का संग्रह।**

उससे प्रचुर सुख बरस रहा है। गोरी राधा और श्याम कृष्ण अभिराम प्रेमलीला में भरपूर हैं—हितहरिवंश इस लीला-गान में उन्मत्त हैं।

आजु प्रभात लतामंदिर में,
सुख बरषत अति युगलवर।
गौर श्याम अभिराम रंग रंग भरे।
लटकि लटकि पग धरत अवनि पर ।।
कुच कुमकुम रंजित मालावलि।
सुरत नाथ श्रीस्याम धामवर ।।
प्रिया प्रेम अंक अलंकृत चित्रित,
चतुर शिरोमनि निज कर ।।
दम्पति अति अनुराग मुदित कल,
गान करत मन हरत परस्पर।
जै श्रीहित हरिवंस प्रसंस परायन,
गाइन अलि सुर देत मधुरतर।

इस युगल-प्रेम के हितवंश-रचित एक और मधुर पद में देखते हैं—

जोई जोई प्यारो करैं सोइ सोइ मोहि भावै।
भावै मोहि जोई सोई सोई करैं प्यारे ।।
मोको तो भावती ठौर प्यारे के नैनन में।
प्यारो भयो चाहे मेरे नैननि के तारे ।।
मेरे तो तन-मन-प्रानहुँ में प्रीतम प्रिय।
अपने कोटिक प्रान प्रीतम मो सों हारे ।।
जै श्रीहित हरिवंस हंस हंसिनी सांवल गौर।
करौ कौन करे जल तरंगिनि न्यारे ।।

हरिदास व्यास राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। कहा जाता है कि उन्होंने हितहरिवंश का शिष्यत्व ग्रहण किया था। इनकी कविता में देखते हैं जो व्यास जी के प्रियतम हैं; उनका परिचय "राधा-वल्लभ' है—

राधा-वल्लभ मेरौ प्यारौ।

दूसरी जगह उन्होंने कहा है—

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुलदेवी राधा, बरसानौ खेरौ, ब्रजवासिन सों पाँति ।।

राधा-वल्लभियों की दृष्टि में वृन्दावन ही सबसे 'सच्चा-धन' है, क्योंकि यहाँ स्वयं लक्ष्मी भी श्रीराधा की चरणरेणुलीला है।—

वृन्दावन साँचो धन भैया।

* * *

जहँ श्रीराधा चरणरेणु की कमला लेति बलैया।।

व्यास के एक और गीत में देखते हैं—

परम धन राधे-नाम अधार।
जाहि श्याम मुरली में टेरत, सुमिरत बारंबार।।
जंत्र-मंत्र औ वेद-तंत्र में सबै तार कौ तार।
श्रीसुक प्रगट कियो नहिं यातें जानि सार कौ सार।।
कोटिन रूप धरे नंद-नंदन तऊ न पायौ पार।
व्यासदास अब प्रगट बखानत डारि भार में भार।।

इस राधा-वल्लभ सम्प्रदाय में श्रीराधा ने कैसा स्थान अधिकार किया था इसका परिचय ऊपर लिखे पद से मिलेगा। प्राकृत धाम छोड़कर अप्राकृत धाम में प्रवेश करने के लिए श्रीराधा ही राधा-वल्लभगण की तरणी थीं। इसीलिए व्यास ने इस राधिका के बारे में लिखा है—

लटकति फिरत जुबन-मदमाती, चंपक-बीथिन चंपक बरनी।
रतनारे अनियारे लोचन, लखिकैं लाजति हैं नव हरिनी।।
अंस भुजा धरि लटकत लालहिं, निरखि थके मदगज गति करनी।
वृन्दाविपिन विनोदहि देखत, मोहीं वृन्दावन की घरनी।।
रास-विलास करत जँह मोहन, बलि बलि धनि धनि है वह धरनी।
श्रीवृषभानु नंदिनी के सम, व्यास नहीं त्रिभुवन महँ तरनी।।

कहा जाता है कि ध्रुवदास स्वप्न में हितहरिवंश के द्वारा दीक्षित हुए थे। महाभाव-रूपिणी राधा का वर्णनात्मक ध्रुवदास का लिखा एक पद हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं।[1] इसी ध्रुवदास ने अपने एक दोहे में कहा है—

व्रजदेवी के प्रेम की बँधी धुजा अति दूरि।
ब्रह्मादिक वांछत रहैं तिनके पद की धूरि।।

---

(१) महाभाव सुख-सार—स्वरूप इत्यादि। इस ग्रंथ के पृष्ठ पर पाद-टीका देखिये।

चंडीदास की नामांकित बंगला-कविताओं और हिन्दी राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों की कविताओं में हम राधा का यह जो प्राधान्य देखते हैं, पूर्ववर्ती काल के भारतीय शक्तिवाद के अन्दर ही इसका बीज निहित है। तंत्रादि-शास्त्रों के शिव-शक्ति के सम्बन्ध में जितनी विवेचना देखते हैं, उसे हम यूं तीन भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम मत है, परमतत्व एक अद्वय समरस-तत्त्व है, शिव और शक्ति दोनों ही उस परमतत्त्व के दो अंश मात्र हैं। द्वितीय मत है, शिव ही शक्तिमान् हैं—अतएव शक्ति के मूलाश्रय हैं, इस शक्ति आश्रय के शिव ही परमतत्त्व हैं। इस द्वितीय मत को जनसाधारण में अधिकतम स्वीकृति मिली है। तृतीय मत है, त्रिभुवनव्यापिनी शक्ति ही परमतत्त्व हैं। विश्वव्यापिनी महाशक्ति जिसके अन्दर आधारीभूता हुई हैं वही शिव हैं—शक्ति का आधारतत्त्व उनका यथार्थ शक्तिमत्त्व है। 'देवी भागवत' में हम देखते हैं ऋक्-आदि श्रुतिगण ने देवी को ही परमतत्त्व कह कर कीर्तन किया है। ऋग्वेद में कहा गया है—

यदन्तःस्थानि भूतानि यतः सर्वं प्रवर्तते ।
यदाहुस्तत्परं तत्त्वं साद्या भगवती स्वयम् ॥

यजुर्वेद में कहा गया है:—

या यज्ञैरखिलैरीशा योगेन च समिज्यते ।
यतः प्रमाणं हि वयः सैका भगवती स्वयम् ॥

सामवेद में कहा गया है—

ययेदं भ्राम्यते विश्वं योगिभिर्या विचिन्त्यते ।
यद्भासा भासते विश्वं सैका दुर्गा जगन्मयी ॥

अथर्ववेद में कहा गया है—

यां प्रपश्यन्ति देवेशीं भक्त्यानुग्राहिनो जनाः ।
तामाहुः परमं ब्रह्म दुर्गाम् भगवतीम् मुने ॥

तब— **श्रतीरितं निशम्येत्थं व्यासः सत्यवतीसुतः ।**
दुर्गां भगवतीं मेने परब्रह्मेति निश्चितम् ॥

इस देवी के बारे में परवर्ती वर्णन में देखते हैं—"जो स्वीय गुण और माया के द्वारा देही परम पुरुष की देहाख्या, चिदाख्या और परिस्पन्दादिरूपा पराशक्ति है, उसकी माया से परिमोहित होकर देहधारी नरगण भेदज्ञान के कारण देहस्थिता उसी को पुरुष कहते हैं, उसी अम्बिका को नमस्कार। स्त्रीत्व, पुँस्त्व आदि उपाधियों के द्वारा अनवच्छिन्न तुम्हारा जो स्वरूप है वही ब्रह्म है; उसके बाद जगत् की सृष्टि के लिए जो सिसृक्षा पहले

आविर्भूत हुई—वह स्वयं तुम हो—शक्ति हो। उसी शक्ति से परम पुरुष—पुरुष-प्रकृति ये दोनों मूर्तियाँ भी एक पराशक्ति से समुद्भूत हुई हैं, तन्मायामय परब्रह्म भी शक्त्यात्मक है। जल से उत्पन्न करकादि को जलमय देखकर मतिमान् व्यक्तिगण जिस प्रकार (करकादि) सबको जल समझते हैं, उसी तरह ब्रह्म से उत्त्थित सबको मन ही मन शक्त्यात्मक देखकर शक्ति के अतिरिक्त ब्रह्म का स्वरूप नहीं मिलता है; ऐसे शक्तित्व से विनिश्चिता पुरुषधी-ही परम्परा-क्रम से ब्रह्म के रूप में उपस्थित होती है।"[1]

इसी तरह 'शाक्त-मत-चन्द्रिका', 'ब्रह्मांडतंत्र', 'कूर्मपुराण', 'देव्यागम', 'योगिनी-तंत्र', 'नवरत्नेश्वर' आदि बहुतेरे तंत्रागमों में देवी को ही परमतत्त्व कहकर वर्णन किया गया है।[2] 'ब्रह्मांडतंत्र' में कहा गया है, एक ही सूर्य जिस प्रकार भिन्न-भिन्न दर्पणों के सान्निध्य में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिभात होता है, एक ही आकाश जैसे घटादिभेद से विभिन्न रूप में प्रतीत होता है, उसी तरह एक महाविद्यारूपिणी शक्ति भी बहु देवता और बहु वस्तु के रूप में केवल नाम से पृथक् पृथक् रूप से प्रतिभात होती हैं।[3] प्रत्येक देवता शक्तिमान् है, तो शक्तिमत्व का तात्पर्य है, एक ही

---

(१) या पुंसः परमस्य देहिन इह स्वीयैर्गुणैर्मायया
देहाख्यापि चिदात्मिकापि च परिस्पन्दादि शक्तिः परा।
तन्माया परिमोहितास्तनुभृतो यामेव देहस्थितां
भेदज्ञानवशाद्वदन्ति पुरुषं तस्यै नमस्तेऽम्बिके॥
स्त्रीपुंस्त्वप्रमुखैरुपाधिनिचयैर्हीनं परं ब्रह्म यत्
त्वत्तो या प्रथमं बभूव जगतां सृष्टौ सिसृक्षा स्वयं।
सा शक्तिः परमोऽपि यच्च समभून्मूर्तिद्वयं शक्तित-
स्तन्मायामयमेव तेन हि परं ब्रह्मापि शक्त्यात्मकम्॥
तोयोत्त्थं करकादिकं जलमयं दृष्ट्वा यथा निश्चयः
तोयत्वेन भवेद्ग्रहो मतिमतां तथ्यं तथैव ध्रवम्।
ब्रह्मोत्त्थं सकलं विलोक्य मनसा शक्त्यात्मकं ब्रह्मत-
च्छक्तित्वेन विनिश्चिता पुरुषधीः पारम्परा ब्राह्मणि॥

(२) शिवधन विद्यार्णव कृत 'तंत्र तत्त्व' प्रथम खंड में इन ग्रन्थों से उद्धरण देखिए॥

(३) भिद्यते सा कतिविधा सूर्यो दर्पणसन्निधौ।
आकाशो भिद्यते यादृक् घटस्थादिस्तथा च सा।
एकैव हि महाविद्या नाममात्रं पृथक् पृथक्॥

सूर्य जिस प्रकार दर्पणादि में प्रतिबिम्बित होता है, उसी तरह एक ही शक्ति विभिन्न देवताओं के आधार से आधारीभूता हुई हैं। पराशक्ति को इस विशेष-विशेष आधार में विशेष-विशेष रूप से धारण की क्षमता ही सच्चा शक्तिमत्त्व है। इसीलिए शक्तिमान् का आश्रय करके शक्ति का अवस्थान नहीं, शक्ति को धारण करके ही शक्तिमान् का अवस्थान होता है। कूर्मपुराण में कहा गया है—

सर्ववेदान्तवेदेषु निश्चितं ब्रह्मवादिभिः।
एकं सर्वगतं सूक्ष्मं कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
अनन्तमक्षयं ब्रह्म केवलं निष्कलं परम् ।
योगिनस्तत् प्रपश्यन्ति महादेव्याः परं पदम् ॥
परात्परतरं तत्त्वं शाश्वतं शिवमच्युतम् ॥[१]

प्रचलित पुराणादि में शक्ति-प्राधान्यवाद की एक धारा का आभास नाना प्रकार से मिलता है, पद्मपुराण के अन्तर्गत पातालखंड में हम श्रीकृष्ण की उक्ति देखते हैं—

अहं च ललिता देवी राधिका या च गीयते ॥
अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मकः ।
सत्यं योषित्-स्वरूपोऽहं योषिच्चाहं सनातनी ॥
अहं च ललिता देवी पुंरूपा कृष्णविग्रहा ।
आवयोरन्तरं नास्ति सत्यं सत्यं हि नारद ।[२]

ये बातें कब की लिखी हुई हैं, इसे निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। लेकिन यहाँ हम देखते हैं कि कृष्ण सचमुच ही योषित्-स्वरूप हैं, और ललिता-देवी-रूपा जो आद्याशक्ति परमतत्त्व है वही पुंरूपा होकर कृष्ण-विग्रहा हो उठती है। तो इस मत में राधा कृष्ण से उद्भूत नहीं हैं, कृष्ण ही राधा के रूपान्तर हैं। 'शक्तिसंगमतंत्र' में देखते हैं—

कदाचिद्वात्म ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा ।
लोक सम्मोहनार्थाय स्वरूपं बिभ्रती परा ॥
कदाचिदाद्या श्रीकाली सैव तारास्ति पार्वती ।
कदाचिदाद्या श्रीतारा पुंरूपा रामविग्रहा ॥

---

(१) तंत्रतत्त्व, प्रथम खंड से उद्धृत।

(२) केदारनाथ भक्तिविनोद-सम्पादित संस्करण।

इसी शक्ति-प्राधान्यवाद ने युगोचित विवर्तन के अन्दर से चंडीदास के नामांकित पदों में किशोरी-प्राधान्य को जन्म दिया है, राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के अन्दर राधा-प्राधान्य का रूप लिया है। इस प्रसंग में यह भी स्मरण किया जा सकता है कि 'राधास्वामी' सम्प्रदाय के प्रवर्तक साधक शिवदयाल (जन्म १८२८ ई०) का जपमंत्र था 'राधास्वामी'। इसके बारे में कहा गया है—"सत्गुरु कबीर ने अगम की धारा को दिखा दिया है, अगम की धारा को उलटकर स्वामी के साथ मिलाकर स्मरण करो।"[१] अगम की 'धारा' अर्थात् अगम के शक्ति-प्रवाह को उलटने पर 'राधा' होता है, उस अगम की शक्ति धारा को उलटने पर परम इष्ट 'राधा-स्वामी' मिलेगा।

---

१. सतवाणी संग्रह।

चतुर्दश अध्याय

वल्लभ-सम्प्रदाय के हिन्दी-साहित्य में राधा

हम ऊपर विविध प्रसंगों में श्रीराधा के बारे में जितना विवेचन कर आए हैं उस पर एकत्र विचार करने पर बंगला-साहित्य में वर्णित राधा के बारे में कुल मिलाकर एक धारणा होगी। ग्रंथ के परिशिष्ट में दिये गए विवेचन में इस प्रसंग की कुछ बातों पर विचार करेंगे। हम पहले जो कुछ देख आए हैं उसके आधार पर कहा जाता है कि पहले प्रधानतः साहित्य का अवलम्बन करके ही श्रीराधा का विकास हुआ है; उसके साथ परोक्षभाव से धर्म के सम्बन्धित होने पर भी वहाँ धर्म का कोई स्पष्ट स्फुरण नहीं है। साहित्य-धारा के अन्दर से क्रमविकसित श्रीराधा ही क्रमशः अपने विभिन्न कविवर्णित मानवीदेह के परिमंडल में विचित्र रम्य धर्म-विश्वास और दार्शनिक-तत्त्व का वर्णशाबल्य ग्रहण करने लगीं और इसी के अन्दर से प्रेम-धर्म की केन्द्रबिन्दु राधा दिन-दिन 'कान्ताशिरोमणि के रूप म परिपूर्णता प्राप्त करने लगीं। चैतन्ययुग में ही 'कान्ताशिरोमणि' के रूप में श्रीराधा की पूर्ण परिणति हुई।

राधा के बारे में पहले विचार करते हुए हमने लिखा है कि भारतीय प्रेमिक कवि-मानस में परिपूर्ण नारी-सौन्दर्य और परिपूर्ण नारी-प्रेम-माधुर्य के अवलम्बन से जिस अपरूप मानस-प्रतिमा का सृजन हुआ था, राधा के अन्दर उसी की सुकुमार किन्तु सुनिपुण अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। वृन्दावन की पृष्ठभूमि में साहित्य के अन्दर वह और भी उज्ज्वल और महि-मान्वित हो उठी है। चैतन्ययुग और चैतन्योत्तर युग में राधा के अन्दर प्राकृत और अप्राकृत का एक अपूर्व मिलन हुआ है। इससे केवल रस में स्वाद की ही विचित्रता नहीं हुई है, उद्‌गति के अन्दर से यहाँ रस के स्वरूप के अन्दर भी विविध विचित्र परिवर्तन हुए हैं। लेकिन इन युगों में भी चाहे 'काम-क्रीड़ा-साम्य' ही हो या वास्तव आलम्बन के रूप में ही हो, प्राकृत में ही राधा की प्रतिष्ठा है, क्षण-क्षण पर अप्राकृत के स्पर्श से उनकी असीम महिमा का विस्तार होता है। चैतन्ययुग में और चैतन्य के परवर्ती युग में अनेक कवियों ने प्रत्यक्ष रूप से वैष्णव धर्म से अनुप्राणित होकर राधा-प्रेम के सम्बन्ध में कविताएँ लिखी हैं। संस्कृत और प्राकृत वैष्णव कविता के बाद पहले पहल भारतीय देशजभाषा में ही राधा-कृष्ण की प्रेम-सम्बन्धी वैष्णव-

कविता पन्द्रहवीं सदी के (चौदहवीं ?) मैथिली के कवि विद्यापति और बंगला के कवि चंडीदास की रचना में पाते हैं। हमने पहले ही विविध प्रसंगों में आभास देने की चेष्टा की है कि विद्यापति एक विदग्ध रसिक कवि थे। धर्ममत में वे वैष्णव थे या नहीं, इस विषय में संदेह करने के काफी तर्क-संगत कारण हैं। शक्तिशास्त्र में विद्यापति का ज्ञान प्रगाढ़ और सूक्ष्म था। विद्यापति-रचित सखीशिक्षा के पदों से पता चलता है कि कवि रति-रहस्य में कितने डूबे हुए थे। चंडीदास के बारे में कहना पड़ेगा कि अगर 'श्रीकृष्ण-कीर्तन' को ही 'आदि और अकृत्रिम' चंडीदास की सच्ची रचना मान लें तो कहना पड़ेगा कि वहाँ राधा केवल मानवीय प्रेम की ही मूर्ति नहीं हैं, मानवीय प्रेम में भी जो एक-स्थूल अमार्जित 'धमार' उपादान है, 'श्रीकृष्ण-कीर्तन' की राधा के बहुलांश के अन्दर वही धमार मूर्तिमान् हो उठा है।[1] विरह के स्तर पर आकर ही उसमें सूक्ष्मता आई है।

हम पहले देख आए हैं कि राधा के बारे में जो दो-एक श्लोक पुराणों में मिलते हैं वे संदिग्ध हैं। लेकिन उन्हें सच्चा मान लेने पर भी राधा का अवलम्बन करके छोटे-बड़े अनगिनत उपाख्यानों में प्रेमलीला का जो विस्तार हुआ है, पुराणादि में उसका उल्लेख नहीं है। केवल ब्रह्मवैवर्तपुराण के अर्वाचीन संस्करण में कुछ-कुछ मिलता है, राधाकृष्ण की लीला की समृद्धि को देखते हुए वह भी बिलकुल नगण्य मालूम पड़ता है। राधा की बात छोड़ देने पर भी गोपियों के साथ कृष्ण की वृन्दावन लीला का पुराणादि में अधिक विस्तार नहीं मिलता है। गोपी-कृष्ण-लीला की सबसे अधिक समृद्धि भागवत-पुराण में हुई है। इस भागवत पुराण में और कुछ दूसरे पुराणों में गोपी-कृष्ण-लीला के अन्दर रास-लीला सबसे उत्तम लीला के रूप में प्रसिद्ध हुई है। रास-लीला में ही भगवान् के माधुर्य रस का सम्यक् विकास हुआ है। इस रास-लीला का प्रभाव जयदेव से लेकर सभी वैष्णव कवियों पर थोड़ा बहुत पड़ा है। भागवत-पुराण में इस रास-लीला के अलावा दूसरी गोपी-लीलाओं में, दशम स्कन्ध के इक्कीसवें अध्याय में

---

(१) अष्टछाप के हिन्दी वैष्णवगण के गानों में भी 'धमार' या 'धामारि' शब्द का उल्लेख मिलता है। प्रायः 'होरी' के प्रसंग में ही इस शब्द का प्रयोग दिखाई पड़ता है। भारत के विभिन्न अंचलों में आजतक होली के साथ अत्यन्त निम्नरुचि के नाच-गानों के साथ जिन प्रेम-गाथाओं का प्रचलन है उसी से 'धमार' या 'धामालि' शब्द का तात्पर्य समझ में आता है।

शरत् ऋतु में वृन्दावन में, श्रीकृष्ण की वंशी की ध्वनि सुनकर गोपियों की विह्वलता और व्याकुल चेष्टाएँ सभी विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। इस विश्वमोहिनी सर्वाकर्षक वंशी की ध्वनि से केवल गोपियाँ ही नहीं, वन के पशु-पक्षी, तरुलता, यहाँ तक कि नदियाँ व्याकुल हो उठी थीं।[1] इस वंशी-ध्वनि का प्रभाव परवर्ती काल के सभी वैष्णव कवियों पर पड़ा है। भागवत के दसवें स्कन्ध के बाईसवें अध्याय में हम व्रजकुमारियों का नन्दगोपसुत कृष्ण को पति के रूप में पाने की कामना से कात्यायनी की पूजा करते देखते हैं और इसी के साथ गोपियों के चीर-हरण की लीला का वर्णन पाते हैं। इसके बाद हम गोपियों को रास-पंचाध्यायी में देखते हैं। इस रास-वर्णन के अंत में संक्षेप में गोपियों के साथ कृष्ण के जल-विहार और वन-विहार का वर्णन पाते हैं। इस दशवें स्कन्ध के पैंतीसवें अध्याय में देखते हैं कि दिन को कृष्ण के गाय चराने चले जाने के बाद

---

(१) वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्त्ति
यद्देवकी सुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मी ।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्त्वपरतान्यसमस्तसत्वम् ॥
धन्याः स्म मूढ़मतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥
\+ \+ \+ \+
गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तम्भितकर्णपुटैः पिवन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयः कबलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥
प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रबालान्
शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥
नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥
१०-११, १३-१५॥

गोपियाँ दिन भर कृष्ण-लीला का अनुकरण कर कृष्ण के प्रेम में—कृष्ण के ध्यान में अपने को डुबाए रहती थीं। इसके बाद कृष्ण को अक्रूर के साथ वृन्दावन छोड़ते पाते हैं और उसी प्रसंग में गोपियों की व्यथा देखते हैं। इसके बाद गोपियों के प्रति उद्धवसंदेश पाते हैं। संक्षेप में यही भागवत-वर्णित गोपीलीला है।

हिन्दी के वैष्णव कवियों ने (हम प्रधानतः वल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टछाप के वैष्णव कवियों की बात ही लिख रहे हैं) मुख्यतः इस भागवत-वर्णित लीला का ही अनुसरण किया है। लेकिन बंगाल में हम राधाकृष्ण की लीला को लेकर निरन्तर लीला-विस्तार देखते हैं। इस लीला-उपाख्यान की उत्पत्ति और विस्तार शुरू से ही कवि-कल्पना में ही हुआ है। हरेक युग की कवि-कल्पना का अवलम्बन करके लीला-उपाख्यान नित्य-नूतन शाखा-प्रशाखाएँ फैला रहा है। व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य के एक ही प्रेम को नित्य नूतन अवस्थान के अन्दर से हम नूतन बना लेते हैं। सभी वैष्णव कवियों को एक राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर कविता लिखनी पड़ी है। इसी एक राधाकृष्ण-प्रेम को विचित्र न बना पाने पर उसके आधार पर निन्य-नूतन काव्य-कविता रचना संभव नहीं है। इसीलिए भिन्न-भिन्न युगों में कवियों को राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर देशोचित और युगोचित विचित्र अवस्थान तैयार करना पड़ा है। इसीलिए राधाकृष्ण-साहित्य पर ऐतिहासिक क्रम से विचार करने पर पता चलेगा कि जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे लीला का विस्तार होता गया है। जयदेव की पूर्ववर्ती राधाकृष्णपरक कविता में विविध लीला का आभास मिलता है। लेकिन जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में राधाकृष्ण-लीला को अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से बहुत कुछ विस्तृत कर लिया। जयदेव में हमें जो लीला मिलती है, विद्यापति, चंडीदास में वही विचित्र ढंग से पल्लवित हो उठी है। प्रचलित चंडीदास-पदावली में हम देखते हैं कि राधा को लेकर भार-लीला, नौका-लीला, दान-लीला आदि को लेकर ही कवि सुखी नहीं हुए हैं, कवियों को मिलन और विरह के और भी अगणित 'व्यपदेशों' (उद्देश्य) का सृजन करना पड़ा है। राधा से मिलन के वैचित्र्य के लिए कृष्ण को क्या नहीं करना पड़ा ? उन्हें सँपेरा बनकर साँप की झाँपी सिर-पर उठानी पड़ी, दूकानदार बनकर घूमना पड़ा, जादूगर बनकर न जाने कितने प्रकार के खेल दिखाने पड़े। इतना ही नहीं, कृष्ण को आवश्यकतानुसार मालिन, नाइन, फेरीवाली, भक्तिन, चिकित्सक, ज्योतिषी, सब कुछ बनना पड़ा। गोविन्ददास के एक प्रसिद्ध पद में देखते हैं कि कृष्ण को गोरखयोगी का वेष धारण कर सिंगा बजाकर राधा को मनाना पड़ा है।

हिन्दी वैष्णव-साहित्य, विशेष करके वल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों की राधा पर विचार करते हुए बंगला के वैष्णव-साहित्य के बारे में इतनी बातें लिखने का एक विशेष प्रयोजन है। इस लीला-विस्तार की दृष्टि से हिन्दी और बंगला में एक पार्थक्य है, उस पार्थक्य की ओर दृष्टि आकर्षित करने के लिए ही बंगला के वैष्णव-साहित्य की प्रकृति के बारे में ऊपर विशेष रूप से विचार करना पड़ा। बंगाल की वैष्णव कविता के अन्दर राधाकृष्ण-लीला के जितने उपाख्यान-प्राचुर्य और वैचित्र्य हैं, हिन्दी वैष्णव-कविता के अन्दर हमें वह बात नहीं दिखाई पड़ती। इसका मुख्य कारण यह है कि जिन्होंने हिन्दी वैष्णव-कविता की रचना की वे अधिकांश में वल्लभाचार्य-सम्प्रदाय के थे। कहा जाता है कि कोई निम्बा-र्काचार्य के सम्प्रदाय के भी थे। इन दोनों सम्प्रदायों के अन्दर कृष्ण के साथ राधा को भी ग्रहण किया गया है सही में, और युगल उपासना की बात कही गई है। मगर बंगाल के चैतन्य-सम्प्रदाय के अन्दर इस युगल उपासना और उसके साथ लीलावाद को जिस प्रकार सभी साध्य-साधनों के मूलीभूत तत्त्व के रूप में ग्रहण किया गया है, निम्बार्क-सम्प्रदाय या वल्लभ-सम्प्रदाय में लीलावाद की इतनी प्रधानता हम नहीं देखते हैं। वहाँ कृष्ण की लीला पर जितना जोर दिया गया है वह सब कुछ कान्ता-प्रेम पर नहीं है, शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि पर भी समभाव से जोर दिया गया है।

हिन्दी के कवियों में राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों के अलावा अष्टछाप के कवियों की प्रायः समसामयिक उल्लेखयोग्य वैष्णव कवि हैं, मीराबाई। मीराबाई के बारे में जो किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं, उनसे पता चलता है कि वृन्दावनवासी किसी-किसी गौड़ीय गोस्वामी (रूपगोस्वामी या जीवगोस्वामी ?) से उनका साक्षात्कार और वैष्णव-तत्त्व के सम्बन्ध में भावों का आदान-प्रदान हुआ था। लेकिन मीराबाई की कविता और उसके अन्दर से जिस प्रेमधर्म की अभिव्यक्ति हम देखते हैं वह गौड़ीय वैष्णव धर्म की भाँति किसी अप्राकृत वृन्दावन के युगल लीलावाद पर प्रतिष्ठित नहीं है। मीराबाई किसी सम्प्रदायविशेष के अन्तर्भुक्त भक्त या कवि थीं, ऐसा नहीं प्रतीत होता। उन्होंने स्वतंत्र वनविहगी की भाँति ही अपने 'प्रितयम' का गान गाया है। मीराबाई के नाम से जितने गाने प्रचलित हैं उनमें राधा का उल्लेख बहुत ही कम है। केवल दो-एक पदों में राधा का उल्लेख मिलता है—दो-एक पदों में राधा का आभास है। जहाँ राधा का उल्लेख मिलता भी है वहाँ भी राधाकृष्ण-लीला के आस्वादन का कोई प्रश्न ही नहीं है—

केवल गोपालकृष्ण की विविध लीला के वर्णन के प्रसंग में ही राधा का उल्लेख दिखाई पड़ता है। जैसे—

आली म्हाँने लागे वृन्दावन नीको।
:o: :o: :o:
कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुनत मुरलीको।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर भजन बिना नर फीको॥

अथवा—

हमरो प्रणाम बाँके बिहारी को।
मोर मुकुट माथे तिलक विराजे कुंडल अलकाकारी को॥
अधर मधुर पर वंशी बजावै रीझ रिझावै राधा प्यारी को।
इह छबि देख मगन भई मीराँ मोहन गिरिवरधारी को॥

अथवा—

माई री मैं तो गोविन्द लीनो मोल।
:o: :o: :o:
कोई कहे घर में कोई कहे वन में राधा के संग किलोल।
मीरा कूँ प्रभु दरसन दीज्यो पूरब जनम को कोल॥

दो-एक पद ऐसे हैं जहाँ मीरा ने राधा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, केवल अपनी प्रेम-विह्वलता का ही वर्णन किया है। लेकिन मीरा के अपनी प्रेम-विह्वलता प्रकट करने के भीतर से श्रीराधा का आभास मिलता है। जैसे—

नैना लोभी रे बहुरि सके नहिं आय।
रोम-रोम नखसिख सब निरखत, ललच रहे ललचाय॥
मैं ठाढ़ी गृह आपणे रे, मोहन निकले आय।
सारंग ओट तजे कुल अंकुस, बदन दिये मुसकाय॥
लोक कुटुम्बी बरज बरज ही, बतियां कहत बनाय।
चंचल चपल अटक नहिं मानत, पर हाथ गये बिकाय॥
भली कहो कोई बुरी कहो मैं, सब लई सीस चढ़ाय।
मीरा कहे प्रभु गिरिधर के बिन, पल भर रह्यो न जाय॥

इसके भीतर मीरा का प्रेम और उसकी अभिव्यक्ति हमें स्वतः दूसरे वैष्णव कवियों द्वारा वर्णित राधा-प्रेम की स्मृति जाग्रत कर देगी। लेकिन यहाँ लक्षणीय विशेषता यह है, कि मीरा खुद ही राधा के स्थान पर अधिकार किए हुए हैं, राधा की भाँति ही मीरा ने प्रेम-साधना की है। यह चीज

हमें बंगाल की वैष्णव-कविता में कहीं नहीं मिलेगी। बंगाल के सभी वैष्णव कवियों ने जरा दूर से ही राधाकृष्ण की प्रेम-लीला का आस्वादन किया है—राधा के भाव का अवलम्बन किसी ने भी करना नहीं चाहा है। हमने पहले विशद विवेचन के अन्दर देखा है कि सखी या मंजरी की अनुग-भाव से साधना करके नित्य युगल-लीला का आस्वादन करना ही बंगाल के वैष्णव कवियों का साध्यसार था। बंगाल के सभी वैष्णव कवियों के विधि-पूर्वक दीक्षित वैष्णव न होने पर भी इस वैष्णव धर्मादर्श से बंगाल का वैष्णव काव्यादर्श सामान्यरूप से प्रभावित हुआ था। इसीलिए ऊपर मीरा की जैसी कविताएँ हमने देखीं वैसी कविताएँ बंगाल में नहीं मिलती हैं। इस प्रकार की कविताएँ ही मीराबाई की विशेषता है। मीरा के एक पद में हम देखते हैं—

सखी मोरी नींद नसानी हो।
पिया को पंथ निहारते, सब रैन बिहानी हो ॥
सखियन मिल के सीख दई, मन एक न मानी हो ॥
बिन देखे कल ना पड़े जिय ऐसी ठानी हो ॥
अंगन छीन व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो ।
अन्तर वेदन विरह की वह, पीव न जानी हो ॥
ज्यों चातक घन को रटै, मछरी जिमि पानी हो ॥
मीरा व्याकुल विरहिनी, सुध बुध बिसरानी हो ॥

नीचे हम मीरा का एक और पद दे रहे हैं। यह पद भी राधा के मुँह बहुत ही शोभा देता है—

मैं हरि बिन कैसे जिऊँ री माय।
पिय कारण जग बैरी भई, जस काठइ घुन खाय ॥
औषद मूल न संचरै, मोहि लागो बौराय ॥
:o: :o: :o:
पिय ढूंढ़न वन वन गई, कहुँ मुरली धुन पाय ।
मीरा के प्रभु लाल गिरिधर मिलि गये सुखदाय ॥

मीराबाई की इस प्रकार की कविताओं से बंगाल की वैष्णव-कविता का मेल नहीं है, यह हम पहले कह आए हैं। वैष्णव कविता की इस शैली से दक्षिण के आलवार सम्प्रदाय की कविता से काफी मेल दिखाई पड़ता है। आलवार सम्प्रदाय के भक्तों ने अपने को नायिका और विष्णु को नायक स्वीकार करके मधुर रसाश्रित कविताएँ लिखी हैं। वहाँ

भी विरह की आर्ति और मिलन की व्याकुल कामना विचित्र रूप से प्रकट हुई है। आलवारों में नम्म-आलवार की कन्या अंडाल और मीराबाई के जीवन तथा प्रेम-साधना में आश्चर्यजनक एकता दिखाई पड़ती है। अंडाल रंगनाथ को जीवनसर्वस्व मानकर रंगनाथ के मंदिर में ही रहती थी, रंगनाथ को प्रिय के रूप में पाकर उन्होंने ब्याह की जरूरत नहीं समझी। गोपी के भाव से अंडाल बहुतेरी कविताएँ लिख गई हैं।

राधाकृष्ण की प्रेमलीला का अवलम्बन करके कविता करने वाले कवियों में 'अष्टछाप' के आठ कवि ही प्रसिद्ध हैं। इस 'अष्टछाप' कवि-सम्प्रदाय के बारे में एक और बात देखी जा सकती है। प्रायः समसाम-यिक काल में चैतन्य के प्रभाव से उड़ीसा में 'पंचसखा' सम्प्रदाय नामक भक्तवैष्णव-कवियों का एक सम्प्रदाय बन गया था। अच्युतानन्द दास, जगन्नाथ दास, अनन्त दास, यशोवन्त दास, चैतन्य दास आदि इस सम्प्रदाय के कवि थे। चैतन्य के प्रभाव से प्रभावित होने पर भी राधाकृष्ण की प्रेमलीला को लेकर इन्होंने कविता नहीं लिखी। इनके उपास्य श्रीकृष्ण 'शून्यमूर्ति', 'शून्यपुरुष' हैं, इनकी साधना-पद्धति में नाथ-सम्प्रदाय की साधना के अनुरूप काया-साधना पर जोर दिखाई पड़ता है।

चैतन्य के समसामयिक आसाम के शंकरदेव एक और पूर्वभारतीय वैष्णव आचार्य थे। शंकर देव से चैतन्य के साक्षात्कार की किम्वदन्ती है, यद्यपि इसे सच मान लेने के लिए कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। शंकरदेव केवल प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य और प्रचारक ही नहीं थे, वे आसाम के प्राचीन साहित्य के सर्वप्रधान कवि माने जाते हैं। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है भागवत का अनुवाद। मूलतः भागवत के आधार पर और नाम कीर्तन पर जोर देते हुए शंकरदेव ने जिस वैष्णव धर्म का प्रचार किया और जो वैष्णव-साहित्य लिखा उसके अन्दर हमें राधा का कोई विशेष स्थान नहीं दिखाई पड़ता है। महाराष्ट्र में भी वैष्णव धर्म काफी फैला था। नामदेव, तुकाराम आदि का रचा हुआ वैष्णव-साहित्य सारे भारत में प्रसिद्ध है। मराठी वैष्णव-साहित्य में भी राधा का नाम कदाचित् मिलता है। जहाँ 'राही' के तौर पर राधा का उल्लेख मिलता है वहाँ भी कृष्ण की प्रेयसी के तौर पर राधा की कोई मर्यादा नहीं दिखाई पड़ती है। महाराष्ट्र के कृष्ण (बिठोबा या बिट्ठल=विष्णु ?) बहुत दिनों तक किसी शक्ति या स्त्री के विना ही महाराष्ट्र में पूजित रहे। जबसे शक्ति या स्त्री का प्रचलन देखते हैं तब से रुक्मिणी ही मुख्य कृष्ण-प्रेयसी मानी गई हैं। बंगला और हिन्दी-साहित्य में जिस तरह

कृष्ण के राधा-वल्लभ, राधा-नाथ, राधा-रमण वगैरह नाम हैं, उसी तरह मराठी-साहित्य में कृष्ण का परिचय है रुक्मिणी-पति या रुक्मिणी-वर के नाम से।[१] साहित्य में रुक्मिणी ही 'रखमाई' या 'रखमाबाई' के रूप में परिचित हैं। सारी कृष्णलीलाएँ इस स्वकीया नारी रखमाई या रखमाबाई को लेकर होने के कारण मराठी-साहित्य में कृष्ण का अवलम्बन करके किसी परकीया प्रेमलीला की समृद्धि नहीं हुई है। सारी प्रेमलीलाओं में पति-पत्नी के सम्बन्ध में लौकिक विशुद्धि है। लेकिन अष्टछाप के कवियों पर राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का गहरा प्रभाव पड़ा है। सूरदास, कुंभनदास, परमानन्द दास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, नन्ददास, छीतस्वामी और चतुर्भुज दास, ये ही अष्टछाप के आठ कवि हैं। ये सभी कवि वल्लभाचार्य के 'पुष्टिमार्ग' सम्प्रदाय के कवि थे। 'पुष्टि-सम्प्रदाय' के भक्तों का विश्वास था कि वल्लभाचार्य और उनके पुत्र बिट्ठलनाथ श्रीकृष्ण के अवतार थे और अष्टछाप के आठों कवि श्रीकृष्ण के आठ सखाओं के अवतार थे। हम गौड़ीय वैष्णवों के अन्दर भी यह विश्वास देखते हैं कि श्रीकृष्ण के अवतार श्रीचैतन्य के गदाधरादि पार्षदगण राधा-आदि आठ गोपियाँ के अवतार थे। वल्लभ-सम्प्रदाय के मतानुसार अष्टछाप के आठ कवि दिन में सखा का भाव और रात में सखी का भाव रखते थे। कंभनदास दिन में तो सखा अर्जुन थे और रात में विशाखा सखी थे, सूरदास कृष्ण-सखा और चम्पकलता सखी, परमानन्द दास स्तोक सखा और चन्द्रभागा सखी, कृष्णदास ऋषभ सखा और ललिता सखी, गोविन्दस्वामी श्रीदाम सखा और भागा सखी, नन्ददास भोज सखा और चन्द्ररेखा सखी, छीतस्वामी सुबल सखा और पद्मा सखी, चतुर्भुजदास विशाल सखा और विमला सखी थे।

पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्य ने गोपालकृष्ण की उपासना को अपनी धर्म-साधना में ग्रहण किया था। उन्होंने श्रीकृष्ण के बालरूप पर ही जोर दिया है, इसीलिए उनके विवेचन में राधा के बारे में कोई विचार या उल्लेख नहीं मिलता है। कहा जाता है कि इस सम्प्रदाय की उपासना के अन्दर वल्लभाचार्य के पुत्र आचार्य बिट्ठलनाथ ने ही राधावाद का प्रवर्तन किया था। कथित है 'स्वामिन्यष्टक' और 'स्वामिनी-स्तोत्र' नामक दो संस्कृत ग्रंथ बिट्ठलनाथ ने लिखे थे। इन दोनों ग्रंथों में हम राधा-सम्बन्धी स्तोत्र पाते हैं। बिट्ठलनाथ ने किसी विशेष भक्ति-सिद्धान्त को स्वीकार कर राधावाद का अपने धर्ममत में ग्रहण किया था कि नहीं इसमें सन्देह है, पर उन्हीं के समय में पुष्टिमार्ग में राधावाद का प्रचलन

(१) **भाण्डारकर का** Vaisnavism, Saivism etc. **देखिए।**

हुआ था, इसमें सन्देह नहीं। वल्लभ-सम्प्रदाय के धर्ममत में तथा साहित्य में राधावाद के प्रचलन के अन्दर चैतन्य और उनके भक्त वृन्दावन के गोस्वामियों का प्रभाव होने की संभावना है। स्वयं वल्लभाचार्य चैतन्य के समसामयिक थे, वृन्दावन में इन दोनों का साक्षात्कार और भाव का आदान-प्रदान होने की बात का पता 'निजवार्ता', 'वल्लभदिग्विजय' आदि ग्रंथों से चलता है। इन ग्रंथों से हमें यह भी मालूम होता है कि वल्लभाचार्य चैतन्य और उनके अनुगामी वृन्दावन के गोस्वामियों के गहरे प्रेमी थे। एक ही आदमी दोनों सम्प्रदायों से सम्बन्धित थे, ऐसी प्रसिद्धि भी है।[१]

इन तथ्यों पर विचार करने से लगता है कि वल्लभाचार्य खुद बालकृष्ण की उपासना का ही प्रचार कर गए हैं और इसीलिए हम अष्टछाप के साहित्य में वात्सल्य रस की इतनी समृद्धि देखते हैं। लेकिन कुछ ही पहले के प्रसिद्ध वैष्णव कवि जयदेव-विद्यापति के काव्य के प्रभाव और कुछ चैतन्य-सम्प्रदाय के काव्य के प्रभाव से अष्टछाप साहित्य में युगललीला और उसके साथ श्री राधा की प्रतिष्ठा हुई थी।

लेकिन यहाँ एक बात विशेष रूप से लक्षणीय है। अष्टछाप के पूर्ववर्ती जयदेव-विद्यापति की राधा परकीया हैं, उनके साहित्य में हम सर्वत्र परकीया-प्रेमलीला का ही वर्णन देखते हैं। चैतन्य-सम्प्रदाय का मत स्वकीयावाद था या परकीयावाद इस बात को लेकर बहस होने पर भी चैतन्य युग के बंगला के वैष्णव कवियों में सभी ने परकीया-लीला का अनुसरण किया है। लेकिन वल्लभ सम्प्रदाय में कहीं भी हमें परकीयावाद की प्रतिष्ठा नहीं दिखाई पड़ती है, यहाँ राधा सर्वत्र स्वकीया है।

बंगला और हिन्दी की वैष्णव कविताओं की तुलना करने से दोनों में पार्थक्य साफ दिखाई पड़ता है। पहली बात है, आदि से बंगाल में मधुर रस को ही श्रेष्ठ रस माना गया है। इसके फलस्वरूप शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य सम्बन्धी पद बंगला में अपेक्षाकृत कम मिलते हैं। हिन्दी-कविता में श्रीकृष्ण का अवलम्बन करके शान्त और दास्य रसाश्रित साधारण भक्ति और प्रपत्तिमूलक कविताएँ यथेष्ट मिलती हैं। लेकिन बंगला की वैष्णव-कविता में इस प्रकार के पद बहुत कम हैं। बंगाल में साधारण भक्ति, आत्म-समर्पण और प्रपत्तिमूलक जितनी कविताएँ लिखी गई हैं वे कृष्ण को लेकर बहुत कम और चैतन्य को लेकर बहुत ज्यादा लिखी

(१) **अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय-दीनदयाल गुप्त, द्वितीय खंड, पृ० ५२७–२८**

गई हैं। गौरांग सम्बन्धी इस प्रकार के पदों की संख्या कम नहीं है। मधुर रस के अन्दर बंगला-साहित्य में युगल-लीला के प्राधान्य के कारण कान्ता-प्रेम के पद ही सबसे अधिक हैं। कान्ताप्रेम के ये पद गोपियों को लेकर नहीं लिखे गए हैं। कृष्ण जिस तरह 'कान्तशिरोमणि' हैं, उसी तरह राधिका 'कान्ताशिरोमणि हैं, इसलिए कान्ताप्रेम के सभी पद राधिका को लेकर लिखे गए हैं। बंगला में वात्सल्य रसके कुछ-कुछ अच्छे पदों के होने पर भी हिन्दी के वात्सल्य रस के पदों की तुलना में बहुत कम हैं। हिन्दी के श्रेष्ठ वैष्णव कवि सूरदास के पदों की विशेपता है वात्सल्य रस। हिन्दी में कान्ता-प्रेम के पद अधिकांश में गोपियों को लेकर लिखे गए हैं। राधा को लेकर नहीं। सूरदास के इस प्रकार के पदों में 'उद्धव-संवाद' पद ही सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। उद्धव-संवाद के पदों में राधा एकमात्र प्रेयसी के रूप में नहीं दिखाई पड़ी हैं, उनमें विरहिणी गोपियों की हृदय-वेदना ही प्रकट हुई है। राधा इन गोपियों में बहुत स्थानों पर प्रधान गोपी के तौर पर दिखाई पड़ी हैं। बंगला की वैष्णव कविता में वृन्दावन की गोपियाँ अनेक स्थलों पर राधा के परिमंडल में एक प्रकार से ढक-सी गई हैं, अष्टसखियाँ राधिका का ही कायाव्यूह रूप हैं, सोलह हजार गोपियाँ प्रेममयी राधा का ही विचित्र प्रसार हैं। हिन्दी की वैष्णव कविता में गोपियों का काफी स्थान है।

बंगला और हिन्दी की वैष्णव कविता के इस पार्थक्य के मूल कारणों को हम ने पहले ही बताया है, वह है बंगाल में जयदेव से लेकर आजतक साहित्य और धर्म में कृष्ण की युगल-लीला का प्राधान्य। वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की उपासना पर ही अधिक जोर दिया है, शायद इसीलिए सूरदास आदि कवियों के रचे कृष्ण की बाललीला-सम्बन्धी पद इतने प्रसिद्ध हुए हैं।

दूसरी बात लक्ष्य करने की है कि श्रीकृष्ण की लीला के वर्णन में हिन्दी के कवियों ने श्रीमद्भागवत का अनुसरण किया है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि बंगाल के कवियों ने श्रीकृष्ण की लीला-सम्बन्धी रचनाओं में नित्य नवनवोन्मेष-शालिनी कविप्रतिभा का परिचय दिया है। हिन्दी के वैष्णव कवियों के वर्णन में लीलावैचित्र्य बहुत कम है, भागवत को केन्द्र करके ही उनकी कवि-प्रतिभा आवर्तित हुई है। इसीलिए सूरदास की कविता में हम बहुधा भागवत की भाषा का ही रूपान्तर पाते हैं। दूसरे हिन्दी के कवियों ने भी सूरदास के रास्ते को ही अपनाया है। लेकिन दीन चंडीदास नामांकित कुछ

कविताओं के अतिरिक्त भागवत का ऐसा अनुसरण बंगला में बहुत अधिक नहीं दिखाई पड़ता है।

किसी विशेष दार्शनिक सिद्धान्त या साम्प्रदायिक धर्म-सिद्धान्त के तौर पर युगल-लीला की उपासना को अष्टछाप के कवियों ने ग्रहण नहीं किया, फिर भी भक्तिधर्म के स्वतःप्रवाह और कवि-धर्म के स्वतःप्रवाह में इस युगल-लीला का स्मरण, कीर्तन और आस्वादन अष्टछाप के कवियों में प्रवर्तित हुआ था। वृन्दावनतत्त्व, गोपीतत्त्व, राधातत्त्व के बारे में हम बंगाल के कवियों में कुल मिलाकर जो धारणा या विश्वास पाते हैं, अष्टछाप के कवियों में भी वही बात मिलती है। हमने ऊपर मीराबाई की जिस तरह की कविताएँ देखी हैं, उसी तरह की कविताएँ अष्टछाप के कवियों में भी मिलती हैं। उन्होंने भी अपने को गोपीभाव से भावित कर 'प्रेमरसैकसीम' कृष्ण के विरह से व्याकुलता और उनसे मिलने की आकांक्षा लेकर पद लिखे हैं। इसके साथ ही हम देखते हैं कि गौड़ीय वैष्णव कवियों की तरह उन्होंने भी युगल-लीला का जयगान करके उस अप्राकृत वृन्दावन में दूर से सखी या दूसरे परिकरों की भाँति नित्य-युगल-लीला का आस्वादन करने की चेष्टा की है। सूरदास इस नित्य नव-नव व्रजलीला से मुग्ध हुए थे—

राधा-माधव भेंट भई।
राधा-माधव, माधव राधा, कीट-भृंगगति होइ जो गई॥
माधव राधा के रंग राचे, राधा माधव-रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना कहि न गई॥
विहँसि कह्यो हम-तुम नहिं अन्तर, यह कह व्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा-माधव, व्रज-विहार नित नई नई॥

फिर—

बसौ मेरे नैनन में यह जोरी।
सुन्दर श्याम कमलदल लोचन संग वृषभानु किसोरी॥

❁ ❁ ❁ ❁

सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस को का बरनों मति थोरी।

❁ ❁ ❁ ❁

युगल किसोर चरनरज माँगों, गाऊँ सरस धमार।
श्रीराधा गिरिवरधर ऊपर सूरदास बलिहार॥

सूरदास के अलावा अष्टछाप के दूसरे कवियों के इस युगल-लीला आस्वादन के कुछ-कुछ पद हैं। परमानन्द दास ने कहा है—

गोपीनाथ राधिका वल्लभ ताहि उपासत परमानंदा ।[1]

इसी परमानन्द के एक और पद में हम देखते हे—

नन्दकुँवर खेलत राधा संग यमुना पुलिन सरस रंग होरी ।
नव घनश्याम मनोहर राजत श्याम सुभग तन दामिनि गोरी ।।
❁ ❁ ❁ ❁
थके देव किन्नर मुनिगन सब मन्मथ निज मन गयो लज्योरी ।
परमानन्द दास या सुखकों याचत विमल मुक्ति पद छोरी ।।[2]

गोविन्ददास ने कहा है—

नन्दलाल संग नाचति नवलकिसोरी ।
❁ ❁ ❁ ❁
गोविन्द प्रभु बनी नवनागरी गिरिधर रस जोरी ।।[3]

उनके एक और पद में हम देखते हैं—

आवति माइ राधिका प्यारी जुवती जूथ में बनी ।
निकसि सकल, व्रजराज भवन ते सिंहद्वार ठाढ़े ललन कुंवर
गिरधारी ।।
निरखि वदन भौंह मोरि तोरि तृन चोनि ओर चितवनि ।
तिहि छिन अँचरा संभारि घुंघट की ओट ह्वै लियो है
लाल मनुहारी ।।
गोविन्द प्रभु दम्पति रंग मूरति दृष्टि सो भरत अँकवारी ।।

---

(१) दीनदयाल गुप्त के अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय ग्रंथ में उद्धृत ।

(२) अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय । तुलनीय परमानन्द दास का पद—

लटकि लाल रहे राधा के भर ।
सुन्दर बीरी बनाय सुन्दरि हँसि हँसि जाय, देत मोहन कर ।।
गोपी सनमुख चितवति ठाढ़ी तिन सों केलि करत सुन्दर वर ।
ज्यों चकोर चंदा तन चितवत त्यों आली निरखत
गिरिवर धर ।। इत्यादि, वही ।

फिर— आज बनी दम्पति वर जोरी,
सांवर गौर बरन रूपनिधि नन्दकिसोर वृषभानु किसोरी ।।
इत्यादि, वही ।

(३) वही ।

छीतस्वामी के कृष्ण की आराधना के वर्णन में हम देखते हैं—

राधिका रमण गिरिवरधरण, गोपीनाथ मदनमोहन कृष्ण
नटवर बिहारी ।।
राधे रूप निधान गुन आगरी नन्द नन्दन रसिक संग खेली ।
कुंजन के सदन अति चतुर वर नागरी चतुर नागरि सों करत
केली ।।

कृष्णदास के रास के पद में लिखा है—

नमो तरनि तनया परम पुनीत जगपावनी,
कृष्ण मनभावनी रुचिरनामा ।
अखिल सुख दायिनी सब सिद्धि हेतु,
श्रीराधिकारमण रति कारण स्यामा ।।

युगल-लीला के आस्वादन में कृष्णदास ने लिखा है—

वाम भाग वृषभानु नन्दिनी चंचल नयन विशाल ।
कृष्णदास दम्पति छवि निरखत अँखिया भईं निहाल ।।

राधा-कृष्ण के मिलन की जो श्यामलतमालवेष्टित कनकलता की उपमा हम वैष्णव कवियों में प्रायः पाते हैं, हिन्दी के कवियों में भी वह बात मिलती है। नन्ददास ने कहा है—

नन्ददास प्रभु मिलि श्याम तमाल ढिंग कनकलता उलह्ये ।

बंगाल के कवियों की भाँति हम कुंभनदास के पद में पाते हैं—

नौतन स्याम नन्दनन्दन वृषभानु सुता नव गौरी ।
मनहुँ परस्पर बदन चन्द को पिवत चकोर चकोरी ।।[१]

परमानन्द ने और लिखा है—

झलत नवल किसोर किसोरी ।
उत व्रजभूषण कुंवर रसिकवर इत वृषभान नन्दिनी गोरी ।।
नीलाम्बर पीताम्बर फरकत, उपमा घनदामिनि छवि थोरी ।

---

(१) तुलनीय परमानन्द दास की राधा सम्बन्धी एक पद—
अमृत निचोय कियो एक ठौर ।
तेरो वदन समारि सुधानिधि तादिन विधिना रची न और ।।
सुनि राधे कहा उपमा दीजे स्याम मनोहर भये चकोर ।
सादर पीवत मुदित तहि देखत, तपत काम उर नन्दकिसोर ।।

अष्टछाप के कवियों की जीवनी देखने पर पता चलता है कि प्रायः सभी ने अंत में इस युगलमूर्ति का ध्यान करते-करते देह छोड़ी।

हम गौड़ीय वैष्णवधर्म और साहित्य में जिस प्रकार सखीभाव की युगल-उपासना देखते हैं, अष्टछाप के कवियों में उसी सखीभाव के सुन्दर नमूने हम ऊपर के पदों में पाते हैं। सूरदास ने तो इस लीलाधाम वृन्दावन की तृणलता, पशुपक्षी, यहाँ तक कि व्रजरेणु आदि किसी भी रूप को धारण कर लीला आस्वादन के अधिकार की प्रार्थना की है—

करहु मोहि व्रज रेणु देहु वृन्दावन बासा।
माँगों यहै प्रसाद और नहिं मेरे आसा॥
जोई भावै सो करहु लता सलिल द्रुम गेहु।
ग्वाल गाइ को भृतु करै मनौ सत्य व्रत एहु॥

युगल-मिलन के पास रह कर सूरदास ने लिखा है—

संग राजति वृषभानु कुमारी।
कुंज सदन कुसुमनि सेज्या पर दम्पति शोभा भारी॥
आलस भरे मगन रस दोऊ अंग अंग प्रति जोहत।[1]
मनहुँ गौर श्याम कैरव ससि उत्तम बैठे सम्मुख सोहत॥
कुंज भवन राधा मनमोहन चहूँ पास व्रजनारी।
सूरदास लोचन इकटक करि डारत तनमन बारी॥

बंगला के वैष्णव कवियों ने राधिका के असीम सौभाग्य का जयगान किया है, क्योंकि जो हरि त्रिभुवन के आराध्य हैं, वे भी राधा के प्रेम से मुग्ध होकर उसके अधीन हैं। परमानन्द दास ने भी यही कहा है—

राधे तू बड़ भागिनी कौन तपस्या कीन।[2]
तीन लोक के नाथ हरि सो तेरे अधीन॥
आवत ही यमुना भरे पानी।
श्याम वरण काहू को ढोंटा निरखि वदन घर गई भुलानी॥
उन मो तन में उन तन चितयो तबही ते उन हाथ बिकानी।
उर धकधकी टकटकी लागी तनु व्याकुल मुख फुरत न बानी॥

फिर—

सुन्दर बोलत आवत बैन।
ना जानौं तेहि समय सखी री सब तन श्रवन कि नैन॥

---

(१) तुलनीय—प्रति अंग लागि काँदे प्रति अंग मोर॥—ज्ञानदास का पद।

(२) दीनदयाल गुप्त का संग्रह।

रोम रोम में शब्द सुरति की नख सिख ज्यों चख ऐन ।
येते मान बनी चंचलता सुनी न समुझी सैन ।।

तब तकि जकि ह्वै रही चित्र सी पल न लगत चित चैन ।
सुनहु सूर यह सांच, की संभ्रम सपन किधौं दिन रैन ।।

कृष्णदास के सुन्दर पद में देखते हैं—

ग्वालिन कृष्ण दरस सों अटकी ।
बार बार पनघट पर आवत सिर यमुना जल मटकी ।।
मनमोहन को रूप सुधानिधि पीवत प्रेम-रस गटकी ।
कृष्णदास धन्य धन्य राधिका लोक लाज सब पटकी ।।[1]

राधा कृष्ण का नाम सुनकर पागल हो गई थीं । इस के सुनने से पूर्वराग संजात होने के भाव का अवलम्बन करके चंडीदास का सर्वश्रेष्ठ पद है, 'सइ, केबा शुनाइल श्याम नाम ।' (सखि, किसने श्याम का नाम सुनाया ।) इससे हम नन्ददास के निम्नलिखित पद का मिलान कर सकते हैं—

कृष्ण नाम जब तै सुन्यौ री आली,
भूली री भवन हौं तै बावरी भई री ।।
भरि भरि आवैं नैन चित हूँ न परै चैन,
तन की दसा कछु औरे भई री ।।
जेतिक नेम धर्म व्रत कीने री, मैं बहुविधि,
अंग अंग भई मैं तो स्रवणमई री ।
नंददास जाके श्रवन सुने ऐसी गति,
माधुरी मूरति कैधों कैसी दई री ।।

इस प्रकार की कविताओं के विषय में याद रखना होगा कि बंगाल के वैष्णव कवियों ने जहाँ अप्राकृत वृन्दावन धाम के राधा-कृष्ण के पूर्व-रागाख्य प्रेम का ही दूर से परिकर की हैसियत से आस्वादन किया है, हिन्दी के वैष्णव कवियों ने वहाँ केवल राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्ण के पूर्व-राग, अनुराग, मिलन-विरह का ही आस्वादन नहीं किया है बल्कि खुद ही राधा के भाव से गोपी के भाव से परिभावित हो कर इस प्रकार कृष्ण-प्रेम की आकांक्षा की है । परमानन्द दास के इस प्रकार के विरह के एक पद में देखते हैं—

---

(१) वही ।

या हरि को संदेस न आयो ।
बरस मास दिन बीतन लागे बिनु दरसनु दुख पायो ।।
घन गरज्यो पावस ऋतु प्रगटी चातुक पीउ सुनायो ।
मत्त मोर बन बोलन लागे विरहिन विरह जनायो ।।
रागमल्हार सह्यो नहि जाई काहू पथिकहि गायो ।
परमानन्ददास कहा कीजे कृष्ण मधुपुरी छायो ।।[१]

अष्टछाप के कवियों के समसामयिक एक और प्रसिद्ध कवि थे स्वामी-हरिदास। स्वामी हरिदास द्वारा प्रवर्तित-सम्प्रदाय हरिदास-सम्प्रदाय या सखी-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि प्रसिद्ध गायक तानसेन इसी साधक हरिदास स्वामी के शिष्य थे। हरिदास-सम्प्रदाय का अपना कोई विशेष दार्शनिक मत नहीं था, केवल विशेष साधना-पद्धति ही थी। इसी साधना-पद्धति की विशेषता थी सखी-भाव। स्वामी हरिदास ने केवल सखी-भाव साधना को ही साधना माना था। नाभादास ने अपने 'भक्त-माल' ग्रंथ में स्वामी हरिदास के बारे में लिखा है कि इनकी प्रेमभक्ति का नियम था केवल मात्र राधा-कृष्ण के युगल की पूजा करना। राधा के साथ कुञ्जविहारी कृष्ण इनके उपास्य हैं। ये सदा सखी-भाव से राधा-कृष्ण के आनन्द-विहार का अवलोकन और आस्वादन करते थे। यह मत भी प्रचलित है कि स्वामी हरिदास चैतन्य-सम्प्रदाय के थे। यह मत ग्रहण-योग्य है या नहीं, इस पर मतभेद है। लेकिन इस प्रसिद्धि को देखकर लगता है कि स्वामी हरिदास स्वयं चैतन्य-सम्प्रदाय के न होने पर भी चैतन्य-सम्प्रदाय से और उसके अन्दर से चैतन्य-मत से सुपरिचित थे और बहुत संभव है कि उनके अनन्यशरण होकर नियमव्रतादि का परिहार करके केवल सखी-भाव से युगल-लीला आस्वादन की साधना में चैतन्य-मत का प्रभाव था।

---

(१) उपर्युक्त।

पंचदश अध्याय

परवर्ती काल की राधा

हमने ऊपर देखा है कि, विधिबद्ध वैष्णव धर्म में राधा-तत्त्व तंत्रादि के शक्ति-तत्त्व और सांख्य के प्रकृति-तत्त्व से जितना भी अलग क्यों न हो, वैष्णव सहजिया मत में राधा-तत्त्व फिर घूम-फिरकर जनप्रिय शक्ति-तत्त्व और प्रकृति-तत्त्व से मिल गया है। हम अगर अपनी दृष्टि गोस्वामियों द्वारा प्रचारित वैष्णव धर्म पर निबद्ध न रखकर बंगाल के साधारण जन-समाज के धर्मविश्वास की ओर विस्तारित कर दें तो देखेंगे कि चैतन्योत्तर युग में भी तंत्र की शक्ति, सांख्य की प्रकृति और वेदान्त की माया से बहुत कुछ अभिन्नरूप से ही राधा जन-समाज में स्वीकृत हो रही हैं। अनेक परवर्ती काल के शाक्तों की कविता में भी बहुधा देखते हैं कि उनकी शक्ति का वर्णन जाने-अनजाने वैष्णव कवियों की राधा के वर्णन से भाव और भाषा में बिलकुल मिल गया है। दृष्टान्त-स्वरूप हम पौने दो सौ साल पुराने कमलाकान्त के 'साधक-रंजन' काव्य का उल्लेख कर सकते हैं। इस ग्रंथ में मूलाधारस्थिता कुलकुंडलिनी शक्ति का उर्ध्व-गति से शिवधाम में जाकर शिव से मिलित होने को वैष्णव-साहित्य के श्रीराधिका के संकेत कुंज में श्रीकृष्ण से मिलित होने के लिए अभिसार की भाँति ही वर्णन किया गया है। जैसे—

कदम्ब कुसुम जनु सतत शिहरे तनु
यदवधि निरखिलाम तारे।
जदि पासरिते चाइ आपना पासरे जाइ
एना छल कहिब काहारे॥
सेइ से जीवन मोर रसिकेर मनचोर
रमणी रसेर शिरोमणि।
परिहरि लोकलाजे राखिब हृदय माझे
ना छाड़िब दिवस रजनी॥
हेन अनुमानि तारे बांधि हृदि कारागारे
नयान पहरी दिये राखि।

कामिनी करिये चुरि हृदय पंजरे पूरि
अनिमेखे हेन रूप देखि ।।१

(१) साधक-रंजन पृ० १० (वंगीय-साहित्य-परिषद से प्रकाशित)।
और भी तुलना कीजिए—

गजपतिनिन्दित गति अविलम्बे ।
कुंचित केश निवेश नितम्बे ।।
चारुचरण गति आभरणवृन्दे ।
नखरमुकुरकर हिमकर निन्दे ।।
उरसि सरसीरुह वामा ।
करिकर शिखर नितम्बिनी रामा ।।
मृगपति दूर शिखरमुख चाय ।
कटितट क्षीण सुचंचल वाय ।।
नाभि गभीर नीरजविहार ।।
ईषत् विकच कमलकुच भार ।।
बाहुलता अलसे सखी अंगे ।
दोलित देह सुनेह तरंगे ।।
सुमधुर हास प्रकाशइ बाला ।
बालातपरुचि नयन विशाला ।।
सिन्दुरवर(ण) दिनकर सम शोभा ।
अम्बुज बदन मदनमनोलोभा ।।
प्रदलित अंजन सिथि अतिदेश ।
आध कलेवर बाहु निशेष ।।
चिरदिन अन्तर सतीपति पाय ।
परमोल्लास लसित वरकाय ।।
रतन वेदि पर सुरतरुमूल ।
मणिमय मंदिर तहि अनुकूल ।।
सहचरी संग प्रवेशइ नारी ।
कमलाकान्त हेरि बलिहारी ।।—वही, पृ० ३–४

फिर— चंचल चपला जिनिये प्रबला अबला मृदु मधुहासे ।
सुमनि उन्मनि लइये संगिनी धाइल ब्रह्मनिवासे ।।
उन्मत वेशा विगलित केशा मणिमय अभरण साजे ।
तिमिर विनाशि वेगे धाय रूपसी झुनुझुनु नूपुर बाजे ।।
जाति कुल नाशिये उपनीत आसिये अमृत सरोवर तीरे ।
प्रेम भरे रमणी सिहरे पुलके तनु मन्द समीरे ।। वही, पृ० ३४

गोविन्द अधिकारी की 'कृष्णयात्रा' की दानलीला में देखते हैं कि कवि श्रीराधिका से प्रार्थना कर रहा है—

प्रेममयी ह्लादिनी गोविन्द-हृदि-वासिनी
तुमि गो आदि-कमिनी;
गोविन्ददासे निदान शष हयो शमन-शासिनी ।।

यहाँ जिस देवी को लक्ष्य करके प्रार्थना की जा रही है वर्णन में उसका (देवी का) एक मिश्ररूप काफी स्पष्ट है। परिव्राजक कृष्णप्रसन्न सेनने शक्ति के सम्बन्ध में गीत लिखा है—

तुमि अन्नपूर्णा मा,
तुमि श्मशाने श्यामा,
कैलासेते उमा तुमि बैकुण्ठे रमा।
धर विरिंचि शिव विष्णु रूप
सृजने लय पालने।
तुमि पुरुष कि नारी
त बुझिते नारि;
स्वयं ना बुझाले से कि बुझिते पारि।
ताइ त आधा राधा आधा कृष्ण
साजिले वृन्दावने ।।

फिर गोविन्द चौधुरी के गीत में देखते हैं—

अज्ञाने भुलाते रे मन पाते एमन इन्द्रजाल,
कभु काली-रूपे तारा करे धरे करबाल,
कखन वा सीता हय, मूले किन्तु किछु नय,
ब्रह्मादि देवता किछुइ बुझिते नारे।
आज येमन गोविन्देर काछे दुर्गारूपे एसेछे,
काल देखबे राधा-रूपे श्यामेर वामे बसेछे।
ताइ बलि, एइ काया किछु नय शुधु माया,
धरले परे ज्ञानेर आलो—लुकाय आबार ओंकारे ।।

इस तरह के गीतों की बंगला साहित्य में कोई कमी नहीं है। इन गीतों को देखने से पता चलता है कि, यहाँ श्रीराधा बंगाल की सभी तरह की देवियों से सहज ही में मिलजुलकर एक हो गई हैं। इस सहज मिलन का कारण है, बंगाल की जनता के धर्मविश्वास या धर्मसंस्कार के अन्दर ये देवियाँ अति सहज भाव से मिल-जुलकर एक बनी हुई हैं।

आधुनिक काल में अर्थात् बीसवीं सदी के प्रारम्भ में क्षेत्रमोहन वन्द्योपाध्याय की 'ठकुरानी की कथा' नामक पुस्तक में राधातत्त्व पर सुन्दर विवेचन मिलता है। विवेचन पूर्ववर्ती गोस्वामियों के विवेचन के आधार पर होने पर भी उन्होंने अपने ग्रंथ में कुछ-कुछ मौलिकता का परिचय दिया है। गोस्वामियों के सिद्धान्तों को भी जगह-जगह काफी माधुर्यमंडित करके प्रकट किया है। उन्होंने भी अपने समग्र विवेचन में राधा को 'मूला आद्या प्रकृति-शक्ति' के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है।

विवेचन के प्रारम्भ में ही ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय को बताते हुए लेखक ने श्रीराधिका का अत्यन्त सुन्दर और तात्त्विक व्यंजनागर्भ परिचय दिया है। "राधा-कनकलता-वेष्टित कृष्ण-तमाल हैं विराजमान निविड़ान्धकार की भाँति गोविन्द-नीलमणि की दुर्लक्ष्य दुर्लभ मूर्ति को लोक-लोचनों को सुलभ बनाने के लिए ही करुणामयी राधा-चन्द्रवदनी उज्ज्वल दीप के भाँति श्यामसुन्दर की नित्य-सहचर हैं।" यह युगल-तत्त्व ही नित्य-सत्य है, ब्रह्मावस्था में भी यह युगल है। हम गोस्वामियों के विवेचन में देख आए हैं कि ब्रह्म भगवान् का ही अंशमात्र है, भगवान् की ही 'तनुभा' है, यहाँ शक्ति का विकास न्यूनतम है, कहा जा सकता है कि बिलकुल नहीं है। वर्तमान लेखक के मतानुसार यह ब्रह्मतत्त्व गोविन्ददासतत्त्व की ही सुषुप्तावस्था है, यह है लीला के सभी तरंगायित भावों को सम्यक् रूप से वर्जन पूर्वक वृहदारण्यक की—'प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद, नान्तरं'—अवस्था; "तब पुरुष नहीं जानता है कि वह पुरुष है, नारी नहीं जानती है कि वह नारी है।" यह जो अद्वय निस्तरंग ब्रह्मानन्द है वही तैत्तिरीय का—'रसो वै सः' है। यही कुंज में राधालिंगित सुषुप्त गोविन्द हैं, यही गौरीपट्ट में लिंगमूर्ति है—प्राचीन "शिवमद्वैतम्" है, राधा वही नित्य नारी हैं, कृष्ण वही नित्य पुरुष हैं, इनमें कौन प्रधान है, कौन अप्रधान है यह प्रश्न नहीं उठता है, बल्कि सेवक भक्तों के लौकिक व्याकरण को उलटना होगा—पुलिंग शब्द इन्द्र ब्राह्मणादि शब्द को प्रधान करके तदधीन स्त्री प्रत्ययसिद्ध इन्द्राणी ब्राह्मणी आदि शब्दों को नहीं पाना होगा। सखी की भाँति राधारानी को 'प्राणेश्वरी' धार्य करके उसके पुलिंग में तदधीन उसके कान्त को 'प्राणेश्वर' सम्बोधन करना होगा, गोविन्द सखीजनों के साक्षात् प्राणेश्वर नहीं हैं, प्राणेश्वरी के वल्लभ होने के कारण ही प्राणेश्वर हैं।"[1]

(१) तुलनीय पूर्वालोचित 'राधावल्लभ' सम्प्रदाय के मत।

"वेदान्त शास्त्र का निर्विशेष ब्रह्मवाद भ्रान्त नहीं है, लेकिन वह असल में 'रसशास्त्र का एकदेशमात्र है, अल्पदेश है—राधाकृष्ण की कुंजभवन में सुषुप्ति है।" किन्तु सुषुप्तिभंग के बाद लीलातरंगित 'अपर देश ही अधिक देश है, और वह—सुषुप्तिमुक्त राधाश्याम, प्रिय सखीजन, माता यशोमति, कामधेनु वृन्द, कल्पतरुगण, वृन्दारण्य की कोयल और पुष्पवाटिका, यमुना का स्निग्ध जल, शरद्चन्द्र का मेला और नाना नर्म्म परिहास लीला है।" जहाँ ब्रह्मरूप है वहाँ भी सुषुप्त' एक अद्वय राधागोविन्द' हैं।

निकुंज मंदिर माझे शुतल कुसुमशेजे
दुहुँ दोहा बाँधि भुजपाशे।"

हमने पहले जीवगोस्वामी का अनुसरण कर भगवत् शक्ति के सम्बन्ध में जो विवेचन किया है उससे पता चलता है कि श्रीभगवान् की स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है, एक उनके स्वरूप में, और दूसरे उनके स्वरूप-विभव में। भगवान् की स्वरूप-शक्ति के अन्दर स्व-प्रकाशतालक्षण वृत्तिविशेष है, वही विशुद्धसत्त्व है। भगवान् के इसी विशुद्ध-सत्त्व से ही धाम, परिकर, लीलापार्षद, सेवकादि वैभवों का विस्तार हुआ है और ब्रह्माण्ड के जीवसमूह भगवान् की तटस्थाशक्ति से जात हैं, जड़-जगत् उनकी बहिरंगा मायाशक्ति से बना है। लेकिन वर्तमान लेखक के मतानुसार समग्र व्रजधाम—यहाँ तक कि व्रजेतर धाम और मूला प्रकृति आद्याशक्ति एकमात्र राधा का परिणाम और विवर्तन है। 'श्रीराधिका', महामाया, योगमाया, योगनिद्रा, श्रीललिता, पौर्णमासी, प्रेम जिस नाम से क्यों न पुकारा जाय—गोविन्द की स्वरूपशक्ति, प्रकृति, नारी, प्रेम की देवी, गोविन्द की प्रीति के लिए अपने को गोविन्द के आलिंगन में रखकर और गोविन्द को अपने प्रेमालिंगन में रखकर दोनों सम्मिलित होकर, दोनों आत्मविभोर होकर, सुषुप्त सुखरूप ब्रह्म होकर रहते हैं और परस्पर थोड़ा बहुत विरहित होकर, सम्मुख अलग खड़े होकर परस्पर स्पर्शनयोग होकर या गोष्ठादि प्रदेशान्तरित अतएव दर्शन के आगोचर होकर समुत्कं-ठित रहते हैं और स्वयं सम्पूर्ण अखंडाकार में रहकर भी श्रीराधा—छोटे खंडाकार में चन्द्रा, पद्मा, यशोदा, नन्दगोपादि, पशु-पक्षी, यमुनादि के रूप में स्वयं विन्यस्ता, परिणता होकर सुप्तोत्थित जाग्रत व्रजभूमि होती हैं। गोविन्द के ही सुख के लिए मथुरा, द्वारका, वैकुंठ, पृथ्वी, पातालादि देश और देश के जीव तथा दूसरी सम्पत्ति के रूप में स्वयं विवर्तित होकर स्वप्नवत् व्रजेतर व्यक्ति होती हैं। श्रीमती की तीन मूर्तियाँ हैं; स्वरूप राधा-मूर्ति, परिणाम व्रजभूमि और विवर्त व्रजेतर लोकमूर्ति।" हम देखते हैं

कि इस मत के अनुसार राधा सत्, चित् और आनन्दरूपी कृष्ण की स्वरूपशक्ति के तीन अंशों में सिर्फ एक अंश नहीं हैं, राधा ही समग्रांश हैं—एक और अद्वितीय। इस अखंड-शक्ति का परिणाम ही समग्र स्वजन-पार्षद-जीवजन्तु-पशुपक्षी के साथ व्रजभूमि है और जिसे जगत्कारण बहिरंगा मायाशक्ति कहते हैं वह राधा का विवर्त मात्र है। इसके अन्दर यह भी देखना होगा कि लौकिक मृत्-परिणति मृद्घट और अलौकिक राधा-परिणति व्रज में एक मौलिक अन्तर है। वह अन्तर यह है "मिट्टी के घट में छोटे-छोटे अंशों में विभक्त होने पर सारे छोटे-छोटे अंशों के एकत्र न होने से सारी मिट्टी नहीं मिलती है। लेकिन 'समर्था' राधारानी स्वयं अखंडाकार में खड़ी भी हैं, मगर खंडाकार में व्रज-गोपगोपी आदि वस्तुओं में, घट में मिट्टी की भाँति, वर्तमान हैं। राधा मूलरूप में भी पृथक् हैं मगर समग्र व्रज राधा का ही कायव्यूह है।"[१]

राधा-कृष्ण के प्रसंग में पहले अनादि शाश्वत 'पुरुष' और अनादि शाश्वत 'नारी' की बात कही गई है। यह 'पुरुष' और 'नारी' तत्त्व ही 'विषय' एवं 'आश्रय' तत्त्व है। जो कृष्ण को प्यार करते हैं वे प्यार के 'आश्रय' और स्वयं कृष्ण प्यार के 'विषय' हैं। आश्रय निरन्तर कृष्ण की तृप्ति के लिए बहुतेरे प्रकार की चेष्टा करते हैं। ये आश्रय ही भोग्य हैं, सेवक हैं—यही नारी तत्त्व है। जो विषय है, भोक्ता है, सेव्य है, वही पुरुषतत्त्व है। "सारे व्रजवासी, क्या नन्द, सुबल, क्या यशोमती, कुन्द, चन्द्रा, पद्मा, ललिता, राधा—सभी अपने अपने भाव के अनुसार कृष्ण को ही प्यार करती हैं, अतएव तत्र गोविन्द ही एक अद्वितीय पुरुष हैं; दूसरे सभी नारी हैं।...पुरुषवेशी नन्द-सुबल-श्रीदामादि राधा-परिणाम के विवर्तन के उदाहरण हैं, वे पुरुष नहीं हैं, वे राधा परिणाम है, राधा-धातु की बनी हुई खण्ड नारियाँ हैं।" व्रज में पुरुषवेषी गण का स्वरूपतः नारी होकर भी उनका पुरुष होने का अभिमान विवर्तमात्र है; विवर्तवश यह पुरुषाभिमान और तज्जात पुरुषाभिनिवेश के न होने से पितृवात्सल्य और सख्य रस में बाधा होती है।

प्रश्न हो सकता है, "अगर प्यार करने से ही नारी हुआ जा सकता है तो कृष्ण भी तो हमारी ठाकुरानी को प्यार करते हैं इसलिए नारी हैं और ठाकुरानी प्यार का 'विषय' होकर पुरुष हैं।" इसके उत्तर में

---

(१) तुलनीय—पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कहा गया है—"साफ कहने में क्या, राधा-कान्हा में कौन पुरुष है, कौन नारी है, इसका विचार करने की सामर्थ्य हममें नहीं है; शायद वे ही खुद नहीं जानते। राधा और उनका परिणाम समग्र व्रजभूमि कृष्ण-प्रीति का आश्रय होने के कारण नारी है; और व्रज को प्यार करके व्रज-प्रीति का आश्रय होने के कारण कृष्ण भी नारी हैं।"

साधारण तौर से कहा जा सकता है कि—"कारण" की सुषुप्ति—रूपता ही ब्रह्मनिर्विशेष है; जाग्रत भाव व्रजलोक है और स्वप्नलोक जगत्-लोक है। यह व्रजलोक साधारणतः व्रज के बाहर कल्पित होता है। लेकिन लेखक के मतानुसार—"व्रजेतर बहिर्देश नहीं है; चूंकि व्रज अनन्तव्यापी है, समग्र देश व्रज और नित्यलोक है; तदतिरिक्त कोई स्थान नहीं है। हम यथा गृह में शयित रहकर घर के अन्दर ही स्वप्न में बड़े-बड़े शहर और मैदान को रचित देखते हैं, वह मानो घर के बाहर है मगर घर के बाहर नहीं है—घर के अन्दर ही तद्वत् व्रज में ही रहकर कुंज में निद्रित युगल जब स्वप्न देखते हैं, तब व्रज के अन्दर ही व्रज के बाहर की भांति, नाना लोगों की रचना मिलती है। वहाँ-वहाँ गोविन्द अपने को—चतुर्भुज वासुदेव, श्मशानाधिपति शिव, अयोध्या के राम, जांगल नरसिंह, द्वारका के राजा, समुद्र के तीर पर मोहिनी, पाताल के कूर्मादि समझते हैं; श्रीमती ठाकुरानी अपने को लक्ष्मी, रुक्मिणी, सत्यभामा, सीता, दशभुजादि समझती हैं।" हम जो जगत्-लोक के जीव हैं—"हमीं व्रज के नन्द-यशोमती, शुक-शारी, भ्रमर-भ्रमरी, वृक्ष-लता, श्रीदाम-सुबल, कृष्ण-प्रेयसी या सखीगण—अर्थात् कृष्ण के सेवक नारीगण हैं, उसे भूल गए हैं सही में, लेकिन स्वरूप भूल जाने से क्या होता है, हम नारी ही हैं।" अखिल जीव का शाश्वत नारीत्व ही अखिल जीव का शाश्वत राधात्व है।

सांख्य के मतानुसार जिस पुरुष-प्रकृति का विवेचन किया गया है वहाँ प्रकृति अकेली जड़ और स्वतंत्र है। अचेतन प्रकृति पुरुष से सम्पूर्ण रूप से दो है। सन्निधान सम्पर्क से प्रकृति या पुरुष में या दोनों में चंचलता होती है; यह चंचलता ही बंधन है। इस मत के अनुसार प्रेम ही बंधन है, अप्रेम—औदासीन्य ही मुक्ति है; दुःख के अत्यन्ताभाव से ही मुक्ति होती है—इसका मतलब यह नहीं कि मुक्ति आनन्दघन है। लेखक के मतानुसार इस प्रकार के मत के सांख्यकार "ऋषि हैं, मगर महर्षि नहीं हैं, अंध-ऋषि मात्र ह।" यह माया पुरुष की ब्रह्म की शक्ति है—जिसके द्वारा ब्रह्म सगुण होकर महेश्वर हुए हैं, प्रकृति ईश्वर की 'नारी' है, ईश्वर की उपाधि है।" वेदान्त कह सकता है कि कोई भी उपाधि, शक्ति, कारणता ब्रह्म में होने पर ही ब्रह्म अद्वय न होकर सद्वय होता

है, लेकिन वैष्णव मत में प्रकृति या शक्ति अद्वय ब्रह्म का स्वरूप है, वह ब्रह्म की अद्वयता को कोई हानि नहीं पहुँचाती है। शक्ति और शक्तिमान् ईश्वर अभेद में एक ही हैं। ब्रह्म को आनन्द-स्वरूप होना हो तो आनन्द को जो प्रधान अंश 'विषय' और 'आश्रय' इन दो भागों में विभक्त होना होगा; ये विषय-आश्रय ही तो पुरुष-नारी—कृष्णराधा हैं। आनन्द के लिए—लीला के लिए "शक्तिमान् गोविन्द से शक्ति श्रीमती प्यार देवी का पृथक निर्देश किया गया, लेकिन इससे वस्तु सद्वय नहीं हुई; शक्ति और शक्तिमान् का अभेद ही निश्चित वस्तु है। विवक्षावशतः दोनों का उल्लेख मात्र हुआ। "विवक्षावशतः यह जो दोनों का उल्लेख है उसमें यहाँ याद रखना होगा, 'शब्द का ज्ञापकत्व ही है, कारकत्व नहीं है'।" "यहाँ एक उपहित है, दूसरा उपाधि है। कृष्ण उपहित होने पर राधा उपाधि है, राधा उपहित होने पर कृष्ण उपाधि है, सम्बन्ध—अविनाभाव है।" राधा कृष्ण की स्वरूप शक्ति हैं; स्वरूप–शब्द का तात्पर्य है "स्व और स्वरूप एक ही वस्तु है; जो राधा है वही गोविन्द है; जो गोविन्द है वही राधा है। गोविन्द राधा को प्यार करता है; राधा भी गोविन्द को प्यार करती है; प्यार ही रस है; राधा भी रस है, गोविन्द भी रस !' कृष्ण 'मदन मोहन' है। मदन को लेकर कोई कृष्ण के पास जाय तो कृष्ण उस मदन को मोहित करके आत्मेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा को कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा में पर्यवसित करता है। इसीलिए कृष्ण के "से रूप हेरिले काम हय प्रेममय" (उस रूप को ढूंढ़ने पर काम प्रेममय होता है)। "किन्तु कृष्ण से भी बड़ी है हमारी राधा; वे मदन-मोहन-मोहिनी हैं।" "राधा हमारी तरुणी, करुणामयी और लावण्यमयी है; उसकी प्रधान माधुरी यह है कि उनका कृष्ण के प्रति प्रेम असीम है; उस प्यार से स्वयं कृष्ण अवश होकर आकृष्ट होते हैं, उस प्यार के पैरों में पड़े रहने के लिए कृष्ण लालायित हैं; 'सखीगण कर हइते चामर लइया हाते, (कृष्ण राइके) आपने करये मृदु वाय'; अभिसारिका निकुंज में आकर मिलित होने पर गोविन्द—'निज करकमले मोछइ, हेरइ चिर थिर आँखि।'

"राइ योगनिद्रा या योगमाया या महामाया है, राइ सुषुप्त गोविन्द को आलिङ्गन से मुक्त करने पर मानो नित्यधाम व्रज की उत्पत्ति शुरू हुई; और नानाविध केलिविलास, छोटे-बड़े विरह और उज्ज्वल-समर के अन्त म फिर दोनों सुषुप्त और फिर जागरण और व्रज की समुत्पत्ति होती है। यह पारम्पर्य ही पूर्ण तत्त्व है; विरह और मिलन, फिर विरह और फिर मिलन ही रस है। चिरमिलन से विरहिन की आँखों के आँसू

सूख जाने पर निरुत्साह रस के रसत्व का अभाव होता था। इसीलिए राधा-गोविन्द परामर्श करके व्रज में बिलकुल ही आँखों के आँसू नहीं पोछते हैं; छोटे-लम्बे विरह में प्रेयसी की आँखों का आँसू प्रवाहित करके बाद में पुर्नमिलन संघटन के द्वारा, अपने कमलकरों का चुम्बन करके, गोविन्द प्रेयसी के चन्द्रवदन के आँसू पोछते हैं; मिलन के आँसू जितने ही छलछला उठते हैं, गोविन्द उतने ही यत्न से समादार से आँसू पोछते हैं।"

सुषुप्ति में भी कृष्ण का जिस प्रकार राधा से गहरे आलिंगन के साथ मिलन होता है, जागने पर भी उसी तरह सर्वत्र ही राधा—सब कुछ ही राधा है। इस बात को लेखक ने बड़े सुन्दर ढंग से कहा है—"कृष्णने जाग कर बगल में पीत-वसन देखा; सोने के रंग का पीत वसन अंग में लपेटने जाकर देखा कि वह वसन नहीं है, वह राधा है—ह्लादिनी है—प्यार की रानी है।" इसी एक ही राधा ने अपनी सोलह कलाओं से सोलह हजार गोपियाँ बनाकर प्रत्येक गोपी का प्रेमवैचित्र्य आस्वाद कराया है; उसीने एक विश्वव्यापिनी नारी ही खुद अभिमन्यु (आयान घोष) होकर, जटिल-कुटिला होकर अनगिनत बाधा-विपत्तियों के अन्दर से प्रेम की परिपुष्टि की है, सुबल, मधुमंगल, श्रीदामादि होकर नर्मसखा प्रिय कृष्ण को सख्य रस का आस्वाद कराया है, नन्द-यशोदा होकर वात्सल्य रस का आस्वाद कराया है; इस तरह व्रज ही श्रीराधा का कायव्यूह हो उठा है। यह सर्वव्यापिनी प्रीति—इस सर्वव्यापिनी नारी श्रीराधा की ही जय है—वह जयकार केवल भक्त के कंठ में ही नहीं—स्वयं श्रीभगवान् के कंठ में भी है।

परिशिष्ट

बंगाल का वैष्णव प्रेम-साहित्य और पार्थिव प्रेम-साहित्य

बंगाल की वैष्णव-कविता में वर्णित श्रीराधा की एक प्राकृत मानवीय मूर्ति है। हम ने पहले कहा है कि साहित्य की दृष्टि से विचार करने पर वैष्णव साहित्य में बहुतेरी जगहों में यह प्राकृत मानवी राधा ही काया-मूर्ति है, वृन्दावन की अप्राकृत राधा उसकी अशरीरी छाया-मूर्ति है; या कहें कि प्राकृत मानवी की ही प्रतिष्ठा हुई है—उस पर अप्राकृत वृन्दावन का क्षण क्षण पर स्पर्श लगा है। वैष्णव-कविता की राधा पर विचार करते हुए स्वर्गीय दिनेशचन्द्र सेन ने एक जगह अत्यन्त प्रणिधानयोग्य कुछ बातें कही हैं। उन्होंने कहा है—"काजलरेखा की सहिष्णुता, महुया का क्रीड़ाशील विचित्र प्रेम, मलुया और चन्द्रावती की निष्ठा, कांचनमाला का प्रेम की अग्नि में जीवन-आहूति—संक्षेप में, किसी भी युग में किसी भी नायिका ने प्रेम के पथ पर चलकर जो अमानुषीय गुण दिखाए हैं—राधा उन सब की प्रतीक है। ...सैकड़ों सती चिता पर जल कर भस्म हो गई हैं—उस चिता की पूत विभूति से राधा का उद्भव हुआ है। वे 'सती' गण और नायिकाएँ हव्य स्वरूप हैं, लेकिन जब वह हव्य होमाग्नि की आहुति होती है तब उसका नाम होता है राधा-भाव।" साहित्य की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि बंगाल में युगों से जिन नारियों ने प्रेम की साधना की है उनसे राधिका की एक सजातीयता है। बंगाल की राधा अनेक स्थलों में 'अबला-अखला' बंगाली के घर की लड़की या कुलवधू बन गई है। प्रेम सभी देशों और सभी कालों में एक होने पर भी भिन्न-भिन्न देशों की जीवन-यात्रा और परम्परा का अवलम्बन करके प्रेम भी अपने अवस्थान और अभिव्यक्ति की विशेषता के अन्दर से विशिष्ट हो उठता है। इसीलिए वैष्णव-कविता का अंगरेजी अनुवाद करने बैठा तो 'मानिनी राधा' शब्द का ठीक-ठीक प्रतिशब्द नहीं दे पाया। वास्तव में 'मानिनी राधा' में एक ऐसी सूक्ष्म सुकुमार भारतीयता है जो यूरोपीय प्रेमजीवन में सुलभ नहीं है; जहाँ जीवन में सुलभ नहीं है वहाँ भाषा में सुलभ कैसी होगी? भारतवर्ष के राधा-प्रेम का

विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि राधा-कृष्ण के प्रेम के कुछ विशेष अवस्थान थे। या तो कुल की वधू राधा ने कांख में गागर लिए घाट पर पानी भरने जा कृष्ण का साक्षात्कार पाया है, नहीं तो गायों को चराते हुए कृष्ण की वंशी सुनकर प्रेमासक्त हुई हैं, नहीं तो ग्वाले की कुलवधू दही-दूध लेकर हाट चली है, रास्ते में कृष्ण से साक्षात्कार और मिलन हुआ है, भारतीय रमणियाँ शैशव से यौवन में प्रवेश करते ही या कुलवधू होते ही सभी दशाओं में 'घर हइते आंगना विदेश' (घर से आंगन में जाना विदेश हो जाता है); ग्रामीण जीवन के इस प्रकार की सामाजिक परिस्थिति में प्रेम करने के जो-जो सुभीते थे राधा की प्रेमलीला में हम केवल उन्हीं का उल्लेख या प्रसिद्धि पाते हैं। झूलन, रास, होली आदि लीलाएँ ग्रामबाला या ग्रामवधू के लिए प्रशस्त नहीं हैं; राजोद्यान या राज-अंतःपुर में ही इसके लिए अधिक संभावना रहती है। इसीलिए हम देखते हैं कि पूर्वानुवृत्ति के तौर पर बंगाली कवियों ने इन लीलाओं के कुछ-कुछ पद लिखे हैं सही में, लेकिन इन लीलाओं के अन्दर राधा-प्रेम का उल्लास नहीं दिखाई पड़ता है। उस उल्लास को सहजभाव से व्यक्त करने के लिए दूसरी विविध ग्राम्य प्रेमलीलाओं को गढ़ना पड़ा है।

भारतवर्ष की प्रकृति से यहाँ की जीवन-प्रणाली का जो सहज बंधन है उसमें हम देखते हैं कि भारतवर्ष की वर्षाऋतु और यहाँ के प्रेम से एक अभिन्न सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को सुविचित्र और सुमधुर अभिव्यक्ति वाल्मीकि के युग से आज तक निरन्तर चली आई है। इसीलिए भारतवर्ष की सार्थक विरह की कविता है वर्षा की कविता। वैष्णव कविता में भी यही बात देखते हैं। इस वर्षा से कदम्ब-कुंज का गहरा सम्बन्ध है। क्या इसीलिए कदम्बकुंज धीरे-धीरे इस तरह वैष्णव-साहित्य में मुख्य हो उठा और प्रेमावतार श्रीकृष्ण से अभिन्न भाव से जुड़ गया? घोर वर्षा में इस नीपकुंज की महिमा जिस तरह निखर उठती है, संसार में दूसरी जगह वह दुर्लभ है। शायद इसीलिए केवल भारतीय वैष्णव-साहित्य में ही नहीं, भारतीय प्रेम-साहित्य में इस नीपकुंज ने इतना बड़ा स्थान अधिकृत कर रखा है।

घाट पर पानी भरने जाकर अनजाने मित्र से साक्षात्कार और प्रेम यह केवल बंगाल के वैष्णव-साहित्य में ही नहीं, बंगाल के सारे प्रेम-साहित्य में लक्षणीय है। वैष्णव-कविता के अलावा बंगाल में जो दूसरी प्रेम-कविताएँ मिलती हैं उस 'मैमनसिंह-गीतिका' और 'पूर्ववंग-गीतिका' के अन्दर हम सर्वत्र इस चीज को पाते हैं। इन गीतिकाओं को किस समय

किन लोगों ने रचा इसके बारे में काफी बहस है; लेकिन इन बहसों और शंकाओं के बावजूद पूर्ववर्ती काल के सभी स्थूल सूक्ष्म-हस्तावलेपों की संभावनाओं को करते हुए एक बात माननी पड़ती है कि ये गीतिकाओं में बंगाल के प्राणधर्म और प्रेमधर्म के कितने ही सार्थक चित्र हैं। साहित्य के पक्ष में यही इनका विशेष मूल्य है। इन प्रेम-गीतिकाओं से वैष्णव प्रेम-कविताओं की तुलना करने पर दोनों में कई आश्चर्यजनक साम्य देखते हैं। ये साम्य केवल घटना सम्बन्धी ही नहीं, भाव और भाषा सम्बन्धी भी हैं। इन बातों को देखकर हम स्वभावतः इन पर वैष्णव-कविता के प्रभाव की बात कह सकते हैं। लेकिन ये साम्य एक पर दूसरे का प्रभाव-जनित न होकर शायद यही बात सच है कि बंगाल की एक विशेष जीवन-प्रणाली—और जिस विशेष जीवन में प्रेम की भी एक विशेष धारा थी—उस प्रेम की अभिव्यक्ति की भी कई विशेष भंगिमाएँ थीं। उस भाव की धारा और अभिव्यक्ति की भंगिमा एक सामान्य जातीय उत्तराधिकार के तौर पर वैष्णव कविता और दूसरी प्रेम-गीतिकाओं में दिखाई पड़ी है। भाव और अभिव्यक्ति की भंगिमा की दृष्टि से यह साम्य जगह-जगह कितना गहरा है यह कुछ उद्धरणों से साफ हो जायगा। जिस तरह वैष्णव-साहित्य में देखते हैं कि कृष्णने वंशी बजाकर राधा को घाट पर आने का संकेत किया है, इन गीतिकाओं में बहुतेरे स्थलों पर देखते हैं कि उसी तरह नायक ने नायिका को अकेली घाट पर आने के लिए इशारा किया है।[1]

---

(१) तुलनीय . **शिरे छिल आर बांशिटी तुल्या निल हाते ।**
ठार दिया बाजाइल बाँशी महुयारे आनिते ।।
आसमानेते चैतार बउ डाके घने घन ।
बांशी शुन्या सुन्दर कइन्यार भांग्या गेल घुम ।।

महुया, (मैमनसिंह गीतिका)

आष्ट आंगुल बांशेर बांशी मध्ये मध्ये छेदा ।
नाम धरिया बाजाय बांशी कलंकिनी राधा ।।
सेइ बांशी बाजाइया मइषाल गोष्ठे जाय ।
आजि केन सुन्दर कन्या फिर्‌या फिर्‌या चाय ।।
आजि केन मइषाल तोमार हइल एमन ।
तोमार हाते बांशी हइल दोषमण ।।

'मैमनसिंह गीतिका' की 'महुया' कविता में पनघट पर 'नद्यार ठाकुर' और महुया से गुप्त साक्षात्कार और कथोपकथन—

जल भर सुन्दरी कइन्या जले दिछ मन ।
काइल जे कइछिलाम कथा आछे नि स्मरण ।।

आदि हमें श्रीकृष्ण-कीर्तन के यमुना के घाट पर राधा और कृष्ण की भेंट और दोनों के कथोपकथन—

काहार बहु तों काहार राणी ।
केह्ने यमुनात तोलसि पाणी ।।

आदि का स्मरण करा देंगे । 'महुया' गीतिका में देखते हैं कि इस कथोपकथन के अन्त में 'नद्यार ठाकुर' के ब्याह की बात पर दोनों में बातें हो रही हैं—

"लज्जा नाइ निर्लज्ज ठाकुर लज्जा नाइ रे तर ।
गलाय कलसी बाइन्दा जले डुबया मर ।"
"कोथाय पाब कलसी कइन्या कोथाय पाब दड़ी ।
तुमि हओ गहीन गांग आमि डुब्या मरि ।।"

इससे श्रीकृष्ण-कीर्तनके दान-खंड की राधा-कृष्णकी उक्ति-प्रत्युक्ति तुलनीय है—

आरे भैरव पतने गाअ गड़ाहलि गिआँ ।
गंगा जले पैस गले कलसि बांधिआँ ।।
:o: :o: :o:
तोर दुइ उरु राधा भैरव पतने ।
निकटे थाकितें दूर जाइबों कि कारणे ।।
तोर दुई कुच कुंभ बांधि निज गले ।
बोल राधा पैसों मो लावण्य गंगा जले ।।[२]

निति निति हइले देखा एमन ना हय ।
आजि केन सुन्दर कन्यार जीवन संशय ।। मइषाल-बन्धु,
(पूर्ववंग-गीतिका, द्वितीय खंड, द्वितीय संख्या)

आमार उद्देशे बन्धुरे आरे दुःखु बाजाय मोहन बांशी ।
आमार आसार आशारे आरे दुःखु थाके जलेरघाटे बसि ।।
कान्दिया बांशीर सुरे हायरे बन्धु कय मनेर कथा ।
ताहार कान्दन शुन्यारे आरे दुःखु आमार चित्त हइल व्यथा ।। इत्यादि,
(मांजुर मा, पू० गी० ३।२)

(१) प्रथम खंड, द्वितीय संख्या (कलकत्ता विश्वविद्यालय)

(२) तुलनीय—जार प्राण फुटे बुके धरितें ना पारे ।
गलात पाथर बांधी दहे पसी मरे ।।
तोक्षे गांग वारानसी सरुपेंसि जान ।
तोक्षे मोर सब तीत्थ तोक्ष पुण्य स्थान ।। श्रीकृष्ण-कीर्तन ।

फिर— लज्जा नाइरे निलाज कानाइ लज्जा नाइरे तोर ।
गले कलसी बांध्या गिया जले डुब्या मर ।।
कोथाय पाब कलसी राधे कोथाय पाब दड़ी ।
तोमार कांखेर कलसी दाओ आर खोंपा बांधा दड़ी ।।

प्रेम की जो बारहमासी या छमासी राधा के विरह में देखते हैं वही इन गीतिकाओं की बहुतेरी नायिकाओं के अन्दर समान शब्दों और सामान सुरों में पाते हैं। दानलीला आदि के क्षेत्र में जिस तरह हम देखते हैं कि कृष्ण ने रास्ते में अचानक राधा को पकड़ने की चेष्टा की है, उसके वस्त्र के छोर को पकड़कर खींचा है—लज्जा और भय से छड़ाने के लिए राधा ने न जाने कितनी विनती की है। 'धोपार पाट' गीतिका में भी देखते हैं कि पनघट पर कांचनमाला वही विनती कर रही है—

पुष्करिणीर चाइर पारे रे फुट्ल चाम्पा फूल ।
छाइरा देरे चेंगरा बन्धु झाइड़ा बान्ताम चूल ॥
:o: :o: :o:
दुषमण पाड़ार लोक दुषमणि करिबे ।
एमन काले देखले बंधु कलंक रटाबे ॥
:o: :o: :o:
हस्त छाड़ पराणेर बन्धु चइला जाइताम घरे ।
कि जानि कक्षेर कलसी भासाइया नेय सुते ॥
दूरे बाजे मनेर बांशी ऐ ना कला बने ।
तोमार संगे अइब देखा रात्रि निशा काले ॥[१]

लेकिन इस 'रात्रि निशाकाल में' मिलन का संकेत करके राधाने जिस तरह घर से बाहर न हो पा सारी रात पछताते हुए काटी है, उसी तरह—

पारलाम ना पारलाम ना बंधु मइलाम माथार विषे ।
सत्य भंग हइल रे कुमार पारलाम ना आसिते ॥
माओ बाप जाइग्या आछे आसिताम केमने ।
घर कइलाम बाहिर रे बंधु पर कइलाम आपन ।[२]
अबलार कुलभय हइल दुषमण ॥
किसेर कुल किसेर मान आर ना बाजाओ बांशी ।
मनप्राणे हइयाछि तोमार श्रीचरणे दासी ॥
एकटुखानि थाकरे बन्धु एकटुखानि रइया ।
काचा घुमे बाप माओ ना पड़ुक घुमाइया ॥
आसमानेते कालमेघ डाके घन घन ।
हाय बंधु आजि बुझि ना हइल मिलन ॥
वृष्टि पड़े टुपुर टुपुर बाइरे केन भिज ।[३]

---

(१) पूर्णवंग गीतिका, २य खंड, द्वितीय संख्या ।
(२) तुलनीय— घर कैनु बाहिर बाहिर कैनु घर ।
पर कैनु आपन, आपन कैनु पर ॥ चंडीदास ।
(३) तुलनीय— आंगिनार माझे बँधुया भिजिछे आदि । चंडीदास ।

घरेर पाछे मानेर पाता काइट्या माथाय धर ।।
भिजिल सोनार अंग रात्रि निशाकाले ।
अभागी निकटे थाक्ले मुछाइताम केशे ।।
संसार घुमाइया आछे केवल बाजे बांशी ।
हइया घरेर बाहिर कोन पथे आसि ।।
काट्या गेछे काला मेघ चाँदेर उदय ।
एइ पथे जाइते गेले कुलमानेर भय ।।[१]
डाल नाइ पाल नाइ फुटिया ना रइछे फुल ।
बन्धुरे पाइले आमार किसेर जातिकुल ।।

इन पदों के बारे में दीनेश बाबू का मन्तव्य अत्यन्त अर्थव्यंजक है, इसलिए उसे उद्धृत किए देता हूँ। "इन पदों से साफ समझ में आता है कि चंडीदास के राधाकृष्ण पदों का आधार कहाँ है। ये चंडीदास के परवर्ती हैं या नहीं यह नहीं, कह सकता। लेकिन सारे बंगाल में जो कविताएँ किसी पूर्व युग में फूल की तरह बिखर गई थीं, उन्हीं ने परवर्ती काल में वैष्णव कविता को समृद्ध किया है, यह बात स्पष्ट समझ में आती है।" कांचनमाला की खेदोक्ति चंडीदास के बहुतेरे पदों की बात स्पष्ट और अस्पष्ट रूप से स्मरण करा देगी।

तोमार लागिया आमि जीयन्ते जे मरा ।
कर्मदोषेते आमि हइलाम कपालपोड़ा ।।

:o: :o: :o:

बड़र संगे छोटर पिरीत हय अगठन ।
उचा गाछे उठले जेमन पड़िया मरण ।।

जमीन छाइड़ा पाओ दिले शून्ये ना लय भर ।
हियार मांस काट्या दिले आपन ना हय पर ।।

फुलेर संगे भमरार पिरीत जेमन आगे बुझा दाय ।
एक फुलेर मधु खाइया आर फुलेते जाय ।।

मेघेर संगे चान्देर भालाइ कत काल रय ।
क्षणे देखि अंधकार क्षणेके उदय ।।

कुलोकेर संगे पिरीत शेषे ज्वाला घटे ।
जेमन जिह्वार संगे दाँतेर पिरीत आर छलेते काटे ।।

ना बुझिया ना शुनिया आगुने हात दिले ।
कर्मदोषे अभागिनी आपनि मजिले ।।

इस तरह देखते हैं कि इस गीतिका के प्रेम-उपाख्यान और उसके वर्णन के अन्दर बहुतेरे स्थान हैं जो वैष्णव-कविता के पद—विशेष करके

(१) तुलनीय— कहिओ बन्धुरे सइ कहिओ बन्धुरे ।
गमनविरोधी हैल पाप शशधरे ।। चंडीदास ।

शुद्ध बंगाली कवि चंडीदास का स्मरण करा देंगे।[१] 'श्यामरायेर पाला' में देखते हैं—

सुखेरे कइराछि बैरी रे बन्धु दुःखेरे दोसर ।
तुइ बन्धेर पिरीते मज्या आपन कइलाम पर ।।
कुलेरे करिलाम बैरीरे आमि अबुला रमणी ।
तोमार पिरीते डाक्या कलंकेरे आनि ।।
घरेते लागिल आगुन रे बन्धु देआरे ते काटा ।
साध करिया खाइ पिरीत गाछेर गोटा ।।
जे जने खाइयाछे बन्धु पिरील गाछेर फल ।
कलंक मरण दूर बन्धु जीवन सफल ।।

ये कविताएँ चंडीदास के 'पीरिति' (प्रीति) सम्बन्धीय पदों के प्रभाव से रची गई हैं, ऐसा नहीं प्रतीत होता। बल्कि यही लगता है कि बंगाल की

---

(१) तुलनीय— ना लइओ ना लइओ बंधु कांचनमालार नाम ।
तोमार चरणे आमार शतेक परणाम ।।
(धोपार पाट, पू० गी० २।२)
"तोमार चरणे बँधु शतेक परणाम ।
तोमार चरणे बँधु लिख आमार नाम ।।
लिखिते दासीर नाम लागे यदि पाय ।
माटिते लिखिया नाम चरण दिओ ताय ।। चंडीदास।
पीरित जतन पीरित रतन रे
आरे भाला पीरित गलार हार ।
पीरित करया जे जन मरे रे
आरे भाला सफल जीवन तार ।।
(मंजुर मा, पू० गी०, ३।२)
चान्द छाड़ा काल रे निशि देख सदाइ जे आंधारा ।
जैबन काले नारीर पति पुष्पेर भमरा ।। बन्धु जाइओ नारे।।
खरदर ढेउयेर नदीरे ताते जैबन तरी ।
एमन काले छाइरा गेले के अइब काण्डारी ।। बंधु...
:o: :o: :o:
सोना नय रूपा नय नयरे पितल कांसा ।
भांगिले से गड़ा जायरे परे आछे आशा ।। बंधु...।।
:o: :o: :o:
अभाग्या नारीर जैबन धइराछे जोआरे ।
एइ पानि भाटचाइले देख आरत नाइ से फिरे ।। बंधु...
इत्यादि, (आयना—बिबि, पू० गी०, ३।२)
जेइ रे बिरक्केर तले जाइ आरे छाया पाओनेर आशे रे ।
पत्र छेद्या रौद्र लागे देख कपालेर दुषे रे ।।
दइराते डुबिते गेले देख दइरा शुकाय ।
गायेर ना बातास लागले आर भाला आगुनि
झिमाय रे ।। इत्यादि (वही)

हवा में सर्वत्र यह जो 'पीरिति' के काव्य रूप के टुकड़े झंकृत होते थे उसी का सुविन्यस्त ग्रन्थित रूप ही चंडीदास के राधा-प्रेम की पदावली है। इन गीतिकाओं में जगह-जगह चरवाहों की वंशी सुनकर मुग्धा नव-अनुरागिणी ग्राम्यबालाओं के ऐसे गीत मिलते हैं जिनकी भाषा थोड़ी सी बदल देने से चंडीदास का नामांकित कर चला देने पर पकड़ना मुश्किल है। नमूने के लिए हम 'मइषाल बन्धु' गीतिका[1] से कुछ अंश नीचे दे रहे हैं। पनघट पर पानी भरने जा 'कन्या' ने चरागाह के चरवाहे 'मइषाल' बन्धु की वंशी की ध्वनि सुनी है; तब—

सुतेते भासाये कलसी शुने बाँशीर गान।
बाँशीर सुरे हइरा निल अबलार प्राण॥

यही 'अबला नारी' ही किंचित् संस्कृतिसम्पन्न सुनिपुण कवियों के काव्य-सृजन में राधा में रूपान्तरित हुई है। इस अबला की आर्ति में पूर्व-राग की राधा की सारी आर्ति ही निखर उठी है।—

आमार बन्धु हइत यदि दुइ नयनेर तारा।
तिलदंड अभागीरे ना हइत छाड़ा॥ (समय पाइना)

देहेर पराणी भाला बन्धु हइत आमार।
अभागीरे छाइरा बन्धु ना जाइत स्थान दूर॥ (समय पाइना)

एक अंग कइरा यदि विधि गड़ित ताहारे।
संगे कइरा लइया जाइत एहि अभागीरे॥
(गो सखि, समय पाईना)

आमि त अबला बन्धु हइलाम अन्तरपुरा।
कल भांगिले नदीर जल मध्ये पड़े चड़ा॥
रेबन्धु मध्ये पड़े चड़ा॥

बइस्या कान्दे फुलेर भ्रमर उइड़ा कान्दे कागा।
शिशुकाले करलाम पिरीत यौवनकाले दागा॥
रे बन्धु यौवन काले दागा॥

सुजन चिन्या पिरीत करा बड़ विषम लेठा।
भाल फुल तुलिते गेले अंगे लागे काँटा॥
रे बन्धु अंगे लागे काँटा॥

लाज बासि मनेर कथा कइते नाइ से पारि।
बुकेते लाइगाछे बन्धु देखाइ कारे चिरि॥
रे बन्धु देखाइ कारे चिरि॥

कइते नारि मनेर कथा माओ बापेर काछे।
लीलारि बातासे आमार अन्तर पुइरा आछे॥
रे बन्धु अन्तर पुइरा आछे॥

(१) पूर्ववंग गीतिका, (२।२)

नदीर घाटे देखा शुना कांखेते कलसी ।
ऐछन करिया गेछे तोमार मोहन बाँशी ।।
रे बन्धु तोमार मोहन बाँशी ।।

घरेर बाहिर हइते नारि कुलमानेर भय ।
पिंजरा छाड़िया मन बातासे उड़य ।।
रे बन्धु बातासे उड़य ।।

कत कइरा बुझाई पाखी नाइ से माने माना ।
भरा कलसी हइल रे बन्धु दिने दिने उणा ।।
रे बन्धु दिने दिने उणा ।।[1]

---

(१) तुलनीय– आन्दाइरे डुइबाछे बन्धु आरे बन्धु चन्द्र सूर्य तारा ।
तोमारे देखिया बन्धु आरे बन्धु हैछि आपन हारा ।।
:o: :o: :o:
विफले फिरिया आरे बन्धु जाओ निज घरे ।
एकेला शुइया बन्धु आरे बन्धु कान्दि आपन मंदिरे ।।
बाइरेते शुनिले बन्धु आरे बन्धु तोमार पायेर ध्वनि ।
घुम हइते जाइगा उठि आमि अभागिनी ।।
बुक फुटिया जायरे बन्धु आरे बन्धु मुख फुटिया
ना पारि ।
अन्तरेर आगुने आमि ज्वलिया पुड़िया मरि ।।
पाखी यदि हइताम बन्धु आरे बन्धु राखताम्
हृद्पिंजरे ।।
पुष्प हइले बन्धु यदि आरे बन्धु गइथा राखताम तोरे ।।
चान्द यदि हइते बन्धु आरे बंधु जाइगा सारा निशि ।
चान्द मुख देखिताम निरालाय बसि ।। इत्यादि ।
कमला, (मैमनसिंह गीतिका)

तुलनीय–देउयान भावना; मैमनसिंह गीतिका, पृ० १७०–७१
रूपवती, वही, पृ० २४३
तुमि रे भमरा बन्धु आमि वनेर फुल ।
तोमार लाइगारे बन्धु छाड़लाम जाति-कुल ।।
धेनुवत्स लाइगा तुमि जाओरे बाथाने ।
बन्देर लाइगा थाकि चाइया पथ पाने ।।
पथ नाहि देखिरे बन्धु झुरे आँखि जले ।
पागलिनी हइया फिरि तिलेक ना देखिले ।।
नयनेर काजलरे बन्धु आरे बन्धु तुमि गलार माला ।
एकाकिनी घरे कान्दि अभागिनी लीला ।।
कंक ओ लीला, मैमनसिंह गीतिका

इस प्रसंग में 'कंक ओ लीला' गाथा में लीला की विरहदशा का वर्णन
[दर्श]णीय है ।

पूर्ववंग गीतिका के चौथे खण्ड की द्वितीय संख्या में 'शीलादेवी' की गाथा में एक गाना है, उसमें हम देखते हैं कि साहित्य के तौर पर भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से बंगाल की वैष्णव-कविता से इसकी सजातीयता है।[१]

अबला नारी का प्राण लेने के लिए केवल वृन्दावन में ही कृष्ण की वंशी बजी थी ऐसी बात नहीं, बल्कि बंगाल के पनघटों और मैदानों में भी वंशी बजी थी और आज भी बजती है। विश्वव्यापी प्रेम की यह भी एक प्रकार की नित्यलीला है। अप्राकृत प्रेम की नित्यलीला का गान करते हुए रसिक विदग्ध—यहाँ तक कि भक्त कवियों को भी सामग्री लेनी पड़ी है प्राकृत प्रेम की नित्यलीला से। चंडीदास आदि की वैष्णव-कविता जिस अबला की प्राण-हरणकारी वंशी के स्वर से भरपूर है, इन गीतकाओं की बहुतेरी गीतिकाएँ भी उसी स्वर से भरपूर हैं। चरवाहे कंक की वंशी के बारे में कहा गया है—

---

(१) बन्धु आज तोमारे स्वपन देखि राइते ।
लोकलाजे समय पाइना कइते ॥
आमि जे अबुला नारी मनेर कथा कइते नारि
चक्षेर जले बुक मेसे जाय बालिस मासे शुते ।
समय पाइना कइते ॥
मनेर मादुष पूजबाम बइला गांथलाम वनमाला ।
(गो सखि) समय पाइना...
(आमार) चन्दन वने फुल फुटिल गंधेर सीमा नाई ।
कोन दैवेरे दिल आगुन आमार सकल दुपुइड़ा छाइ ॥
(गोसखि) समय पाइ ना...
एक दिन पथेर देखा गो आमि पाशुरिते ना पारि ।
मने छिल प्राण बन्धुरे आमि काजल कइरा परि ॥
(समय पाइना)

:o: :o: :o:

बन्धु यदि हइत आमार कनक चाम्पार फुल ।
सोणाय बांधाइया तारे काने परताम फुल ॥ (समय पाइ ना)
बन्धु यदि हइत आमार पइरन नीलाम्बरी ।
सर्वांग घुरिया परताम नाइसे दिताम छाड़ि ॥ (समय पाइन)
बन्धु यदि हइत रे माला आमार माथार चुल ।
भाल कजरा बानताम खोवा दिया चाम्पा फुल ॥ (समय पाइ।)

कंकेर बाँशी शुने नदी बहे उजान वाँके ।
संगीते वनेर पशु सेश्रो वश थाके ।।
भाटियाल गानेते झर ये वृक्षेर पाता ।
एक मने शुन कहि ताहार वारता ।।

'श्यामरायेर पाला'[१] में अनुरागिणी डोम-कन्या कहती देखते है—

बाँशेर बाँशी हइताम दूती लो पाइताम मने सुख ।
बाजनेर छले दिताम वँधुर मुखे मुख रे ।। (आमि नारी)

'आन्धा वन्धु' की गाथा में देखते हैं—

बन्धुरे आरे बन्धु जेदिन शन्याछि तोमार बाँशी ।
कुल गेल मान गेल बन्धु हइलाम तोमार दासी रे ।।
अन्तरारे कइया बुझाइ बन्धु बुझ नाइ से माने ।
मन जमुना उजान लइल बन्धु तोमार बाँशीर गान रे ।।

:o: :o: :o:

मानाय त ना माने मन द्विगुणा उथले ।
तोबिर आगुने जेमुन घुष्या घुष्या ज्वलेरे ।।

:o: :o: :o:

कांचना बाँशेते बन्धु धरियाछे घुण ।
(आमार) अन्तराते लागल आगुन बंधु चक्षे नाइ से घुमरे ।।

:o: :o: :o:

तोमारे छाड़िया बन्धु सुख नाइ से चाइ ।
योगिनी साजिया चल काननेते जाइरे ।।
चन्दन माखिया केशे बानाइब जटा ।
संसारेर सुखेर पथे बधु दिया जाइलाम काँटारे ।।[२]

हम बंगाल के वैष्णव कवियों में चंडीदास को ही श्रेष्ठ कवि के रूप में जानते हैं। ये चंडीदास कृष्ण-कीर्तन के कवि बड़ु-चंडीदास नहीं है, बंगाल के श्रेष्ठ कवि के रूप में स्वीकृत कवि चंडीदास हैं—प्रचलित पदों के कवि चंडीदास हैं। इससे उनके आदि चंडीदास होने में रुकावट हो सकती है, लेकिन शुद्ध चंडीदास होने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं है। चंडीदास की यह शुद्धता किस बात में है?—इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि कवि चंडीदास की शुद्धता इस बात में है कि उन्होंने

(१) (पू० गी० ३।२)
(२) (वही ४।२)

बंगालियों के मर्म में प्रवेश किया है—अभिव्यक्ति की दृष्टि से उन्होंने बंगालियों के मन की सच्ची बात और जबानी बात में बंगालियों के मर्म को प्रकट करने में सफल हुए हैं। प्रचलित चंडीदास के पदों पर विचार करने से हम देखते हैं कि बंगालियों की ग्रामीण जीवन-प्रणाली—और विशेष करके उस जीवन-प्रणाली के अन्दर से उत्सारित होने 'काले प्रेम'—बंगाल की नारी का प्राण—इसका एक मूर्त प्रतीक है चंडीदास की राधा। इस राधा का अवलम्बन करके चंडीदास के जो भाव, भाषा, छन्द, उपमा हैं—इनमें से प्रत्येक में सहज बंगाली जीवन का अकृत्रिम आभास है। इसीलिए ऊपर दी हुई ग्रामीण गाथाओं में जो प्रेम का चित्र दिखाई पड़ा वहाँ के भाव, स्वर, शब्द—सभी के साथ चंडीदास का गहरा मेल दिखाई पड़ता है। ये चंडीदास चैतन्य के पूर्ववर्ती कवि हैं या नहीं इस विषय में सच्चा संदेह दिखाई पड़ा है—ये चंडीदास कोई एक कवि थे या नहीं, इसके बारे में भी संदेह धीरे-धीरे घनीभूत हो रहा है। लेकिन बंगाल के प्रेम-साहित्य पर विवेचन करके इस चंडीदास के बारे में हमें जो रोशनी मिली उसके आधार पर कह सकते हैं कि बंगाल का प्रेम विचित्र है। इस प्रेम को प्रकट करने के लिए बंगालियों की जो अपनी विचित्र भंगिमा है उसका अवलम्बन करके बहुत से पदों ने एकत्र समाविष्ट होकर मानो बंगालियों के विशुद्ध कवि चंडीदास के कवि-व्यक्तित्व का निर्माण किया है : इसीलिए चंडीदास की राधा एक शुद्ध बंगाली कवि की मानस-प्रतिमा है—बंगाली कवि के चित्त में धृत प्रेम-प्रतिमा हैं। प्रेम की प्रतिभा इस राधा में हम देखते हैं कि बंगाली कवि बंगाल को छोड़कर वृन्दावन नहीं चले गए—वृन्दावन की भूमि दूर से आकर क्षण-क्षण पर बंगाली कवि की मनोभूमि में प्रतिष्ठित हुई है, जिसके फलस्वरूप बंगाली कवि-मानस की प्रेम-प्रतिमा ने अपने प्राकृत रूप के अन्दर से दिव्य ज्योति से अप्राकृत महिमा प्राप्त की है। हमारे राधा-प्रेम में प्राकृत कहीं भी अस्वीकृत नहीं हुई है—प्राकृत ही धीरे-धीरे दिव्यमूर्ति में उद्भासित हुई है।